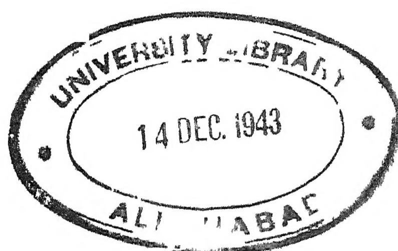
दीवाली और होली

इलाचंद्र जोशी



सं० १९९९
हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम संस्करण : १००० : मूल्य : १।)

मुद्रक—हरप्रसाद वाजपेयी, कृष्ण-प्रेस, २६ हिवेट रोड, प्रयाग

भाई कमल जोशी

को

सस्नेह

प्रकाशक का वक्तव्य

श्रीमान् बड़ौदा-नरेश सर सयाजी राव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई के सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर पाच सहस्र रुपये की सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी। उस सहायता से सम्मेलन ने सुलभ-साहित्य माला के अन्तर्गत कई सुन्दर ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अन्य हिन्दी प्रेमी श्रीमानों के लिए स्वर्गीय बड़ौदा-नरेश का यह कार्य अनुकरणीय है।

साहित्य मन्त्री

विषय-सूची

दीवाली और होली

आज भ्रातृ-द्वितीया के बाद की तीज है। तीन दिन तक काम की भीड़ थी। आज अवकाश का दिन है। प्रातःकाल के कामों से छुट्टी पाकर, सबको खिला-पिलाकर, स्वयं खा-पीकर अपने कमरे में चारपाई पर बैठकर खिड़की से बाहर का दृश्य देख रही हूँ। सूरज अभी से पच्छिम की तरफ ढलने लगा है। प्रायः तीन बज गये होंगे। सारा घर सूना पड़ा है। घरके सब पुरुष अपने-अपने कामों पर गये हुए हैं। सास, देवरानी और जेठानी बाहर आँगन में बैठी धूप खा रही हैं। मेरा सात साल का लड़का रज्जन अपने छोटे-से पलंग पर लेटा हुआ मेरी सुध भूल गया है और नींद की दुनिया में न जाने किस मायावती की गोद में खेल रहा है। उसकी आँखों में और अधरों पर कैसी मीठी हँसी लहरा रही है! कौन हो तुम, मेरे लाल! किस दुनिया से भटकते हुए आकर मेरी छाती जकड़कर व्याकुल स्नेह से मुझे प्रतिपल रुला रहे हो! केवल तुम्हारे ही कारण मैं इस नीरस कर्म-चक्र में पिसने पर भी नहीं मर रही हूँ। नहीं तो······पर आज तुम सोओ। आज कुछ देर के लिए तुम्हें बिलकुल भूल जाने की इच्छा हुई है।

शरत्काल के दिन भी कितने छोटे होते हैं! अभी तीन ही बजे होंगे, पर अभी से सन्ध्या का-सा आभास होने लगा है। नीचे के पहाड़ी खेतों की फसल सब काट डाली गयी है। तीन-चार गायें उनके सूखे डण्ठलों को ही चूस रही हैं। एक स्थान पर ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी जमीन की पगडण्डी से होकर तीन अलबेली कृषक-रमणियाँ सर पर घास का गट्ठर लिये कवायद की तरह समान चाल में चली जा रही हैं। वे प्रसन्न-चित्त हैं। हँसती जाती

हैं और बोलती जाती हैं। हमारे मकान से वे काफी नीचे पर हैं, पर आज की इस झिल्ली-झंकृत एकान्त शान्ति में उनके सुख-दुःख की बातें स्पष्ट सुनाई दे रही हैं। गाँव में पहुँचते-पहुँचते उन्हें सन्ध्या हो जायगी और अपनी गायों और भैंसों को घास खिला कर, उन्हें दुह कर, अँगीठी बालकर कुछ देर तापेंगी, और तब चूल्हे में रोटियाँ सेंककर, खा-पीकर दो-चार मिनट गपशप करके सुखपूर्वक सो जायँगी—इन नवेलियों के बाल-बच्चे शायद नहीं होंगे, इसलिए इस चिन्ता से मुक्त होने के कारण मधुर मोह में मग्न होकर दूसरे दिन उठेंगी और हँसते-हँसते काम करेंगी और काम करते-करते हँसेंगी। उन्हें देखकर मुझे ईर्षा होती है।

आकाश निर्मल नील, परिष्कार-परिच्छन्न है। निस्तेज, सुनहली धूप की छाया से सामने पच्छिम की तरफ के पहाड़ किस दुःख के कारण पीले पड़ गये हैं! और झींगुरों का यह निरन्तर झङ्कार! न मालूम क्यों उसे सुनकर मुझे आज जान पड़ रहा है कि मैं अकेली हूँ, इस संसार में एकाकिनी, सङ्गीहीन हूँ। कहाँ गया मेरा साथी? आज अनेक दिनों के बाद जब गिरस्ती के पचड़े से कुछ अवकाश मिला है, तो मेरे निभृत हृदय में धीरे-धीरे किसकी स्मृति जागरित हो रही है? हाय मेरे चिर-प्रियतम! समझती थी कि तुम्हें भूल गयी हूँ, बचपन का साहचर्य क्षणिक स्वप्न-सम जान पड़ने लगा था। मैं पति-पुत्र को लेकर अपनी गिरस्ती के जञ्जाल में फँस गयी और तुम इधर-उधर भटकते फिरते रहे हो। तुम्हारी याद ही मुझे नहीं थी। पर परसों महालक्ष्मी की पूजा की रात अपनी शीर्ण, रुक्ष मूर्ति लेकर सपने में तुम अचानक कहाँ से आकर दिखाई दिये! प्रेतात्मा की तरह तुम्हारा मुख देखा। गालों की हड्डियाँ बाहर को निकल गयी थीं; आँखें नीचे धँस गयी थीं, तैलहीन, बिखरे हुए बालों से चेहरा थोड़ा-बहुत ढक-सा गया था। पर चिरपरिचित उद्दीप्त आँखों से वही प्रखर, उद्दाम ज्योति विकीर्णित हो रही थी। व्याकुल वेदना से मैं सपने में रो पड़ी और दोनों बाहों से तुम्हें जकड़कर कुशल-समाचार पूछने लगी। जब आँख खुली तो एक मर्मगत मीठी वेदना की लहर समस्त हृदय और शरीर में व्याप्त हो

गयी। अपना सारा अस्तित्व ही मुझे झूठा जान पड़ने लगा और क्षणिक स्वप्न में जो परम सत्य प्राप्त हुआ था, उसे खोने के कारण हृदय को पागल की तरह पत्थर पर पछाड़ खाने की इच्छा हुई। दूसरे दिन गोवर्द्धन-पूजा थी और कल भ्रातृ-द्वितीया। कोई भाई न होने के कारण दूज विफल गयी। कईबातें स्मरण होकर हृदय को रुला रही थीं, पर काम की भीड़ के कारण रोने का समय नहीं था। आज के अवकाशमय दिन में रह-रहकर वही स्मृतियाँ फिर आलोड़ित हो रही हैं। रज्जन का अस्तित्व ही आज, न मालूम क्यों, मेरे लिए झूठा हो गया है। केवल तुम्हारी ही स्मृति चरम सत्य के रूप में मेरे मन में विभासित हो रही है, और मैं अपने को चिर-किशोरी, चिर-कुमारी समझकर हम दोनों के बाल्यकाल के आनन्दमय जीवन के विस्मृत लोक में कल्पना के साथ लौट चली हूँ।

आज अतीत के एक विशेष दिन की अस्पष्ट स्मृति मेरे हृदय में झिलमिला रही है। न मालूम क्यों। क्योंकि वह दिन मेरे जीवन की किसी विशेष घटना से सम्बन्धित नहीं है। कितने ही महत्त्वपूर्ण दिनों की स्मृतियों को आवृत करके वह साधारण दिन अपनी सुखालसमय छाया से मेरे मानस में लहरा रहा है। दो दिन पहले बर्फ गिर चुकी थी। उस दिन सुबह को सारी प्रकृति कुहरे से ढकी हुई थी; पर दिन को कुहरा हट गया था और आकाश की प्रगाढ़ नीलिमा आयने से भी अधिक निर्मल दिखलाई देती थी। इर्द-गिर्द के पहाड़ बर्फ से ढके हुए होने के कारण धूप में स्फटिक के समान चमक रहे थे। हमारे गाँव के अधिकांश स्थानों पर बर्फ पिघल गयी थी; पर यत्र-तत्र अब भी मौजूद थी। धूप कैसी प्यारी लगती थी! पैनी छुरी से भी तीखी हवा के झकोरे समस्त वायुमण्डल को पवित्र, पाप की कल्पना से निर्मुक्त कर रहे थे। सारी प्रकृति निष्कलङ्क किशोरी कुमारी की तरह स्निग्ध, उज्ज्वल रूप में शोभित हो रहीथी। अपने कैशोर हृदय से मैं उस दिन प्रकृति का साम्य अनुभव कर रही थी। विपुल जीवन की कैसी रङ्गीन कल्पनाएँ, कैसी दीप्त आशाएँ मेरे हृदय में हिलोरें मार रही थीं! क्यों जीवन के प्रात में असीम, उद्दाम आशाओं, उद्वेलआकांक्षाओं का

अंकुर लहलहाने लगता है और यौवन का उत्ताप छूते-न-छूते शुष्क तृण की तरह धूलि में लुण्ठित हो जाता है ? सत्वर सन्ध्या हो आयी, गायें गोठों की ओर लौट चलीं, कृषक रमणियाँ कतार बांधकर सुख-दुःख की बातें करती हुई, पहाड़ी गीत का मस्ताना राग गाती हुई, हँसती, खेलती हुई अपनी-अपनी विश्राम-कुटी को वापस जाने लगीं। पर्वतों की तुषार-मण्डित स्फटिक शिलाओं पर सुनहली धूप की छाया किस माया का जाल बिछा रही थी ! कैसी मीठी उदासी से मेरी सर्वात्मा रञ्जित हो गयी थी ! पर जिसको लेकर मेरी आनन्दोज्ज्वल आशाओं का प्रवेग उच्छलित हो रहा था, वह आज अभी तक नहीं आया था। उसकी बाट जोहते-जोहते मैं निराश हो गयी, पर आजकी इस निर्मल, निर्मुक्त सन्ध्या में इस निराशा में भी कितना सुख था ! उस दिन की छोटी-से-छोटी बात भी मुझे एक-एक करके याद आ रही है। गाँव में हमारे घर के पास ही बांस का एक छोटा-सा वन था और उसके पास ही पीपल का एक बड़ा पेड़। उस पर बसेरा लेने वाले कौवों की कलकल ध्वनि मुखरित होने लगी थी। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था, पर मैं बाहर की ओर ही टकटकी लगाए थी। दादी ने भीतर से पुकार कर कहा—"बिन्दी, अंगीठी तैयार है, भीतर आकर तापती क्यों नहीं ? सर्दी से बीमार पड़ जायगी।" पर मेरा ध्यान ही इस लोक में न था। धीरे-धीरे अँधेरा बढ़ता चला गया ; पर मनमोहन भैया न आये। जब बाहर अन्धकार के कारण कुछ भी न दिखाई दिया, तो हताश होकर मैं भीतर लौट चली। अभिमान के कारण रोने की इच्छा होती थी। अंगीठी की गरमी से शरीर के साथ ही हृदय को भी कुछ सांत्वना मिली। दादी से कहा—"आज कोई भूत की कहानी सुनाओ।" "चुप पगली, रात-भर सपने में भूत दबावेंगे।" "नहीं, नहीं दबावेंगे, तुम कहो। मैं नहीं मानूँगी।" लाचार होकर दादी ने भूत के सम्बन्ध में अपने अनुभव के सच्चे किस्से कहने आरम्भ किये। मैं उत्सुक होकर किस्से सुनने लगी, पर बीच-बीच में अन्य-मनस्क हो जाती थी। सोचती थी, ऐसे अच्छे किस्से यदि मोहन भैया भी सुन पाते ! फिर सोचा—"अच्छा हुआ, उन्होंने नहीं सुना। मेरा क्या बिगड़ा ! मैं मजे

में कहानियाँ सुन रही हूँ। उन्हीं का नुकसान हुआ।" पर दादी ने दो-एक ऐसे भयङ्कर क़िस्से कहे कि मैं मोहन भैया की बात ही भूल गई और भयके कारण दादी के शरीर से चिमट गयी।

रात को सपने में भूत नहीं देखा। जिसे देखा उसे देख कर त्रिभुवन में मेरे लिए भय का अस्तित्व ही नहीं रह सकता था।

दूसरे दिन मोहन भैया सबेरे ही हमारे यहाँ आ पहुँचे। हाथ में एक रङ्गीन किताब थी और हँसमुख में रङ्गीन छाया। उन्हें देखकर प्रसन्न होना स्वाभाविक था, पर उनके चेहरे की प्रसन्नता देखकर उस दिन मैं मन-ही मन जल उठी। निश्चय ही इस रङ्गीन पुस्तक के साहचर्य में उन्होंने कल सारा दिन बिताया होगा। यह किताब क्या मुझसे बढ़कर है?

"देखो बिन्दी, कैसी अच्छी तसवीरें हैं! तुम्हारे लिए लाया हूँ।"

मेरे लिए! मैं पल में सारा अभिमान भूल गयी। अकपट आनन्द से मैंने पुस्तक के लिए हाथ बढ़ाया और खोलकर देखने लगी। छोटे-छोटे बच्चों के लिए लिखी गई अंगरेजी की कहानियों की किताब थी। पूछा—"कहाँ से लाये?"

"मिस हम्फ्रे ने मुझे दिया है।"

मिस हम्फ्रे एक मिशनरी महिला थीं। गाँव के पास ईसाइयों की एक छोटी बसासत थी। वह वहाँ की लड़कियों के एक कानवेण्ट की अध्यक्षा थीं। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर और स्नेहपूर्ण था। यूरोपियन होने पर भी वह हिन्दुस्तानियों से घृणा नहीं करती थीं और गाँव के बाल-बच्चों को नाना उपहारों का प्रलोभन देकर अपने पास बुलाकर उन्हें लाड़-प्यार से अंगरेजी सिखाती थीं और स्वयं उनके साथ बातें करके हिन्दी सीख लिया करती थीं। वह बहुत अच्छी हिन्दी बोलने लगी थीं। मोहन भैया को वह विशेष प्रीति की दृष्टि से देखती थीं और मेरे प्रति भी प्रसन्न थीं। प्रायः मेरी ही अवस्था की एक अनाथ ऐंग्लो-इण्डियन लड़की को उन्होंने पोष्या बना लिया था। लड़की का नाम कार्नीलिया था। वह हमारे साथ खेलती थी। जब मुझे मालूम हुआ कि मोहन भैया कल सारे दिन मुझे अकेली छोड़कर,

मुझे तनिक सूचना न देकर मिस हम्फ्रे के पास गये तो ईर्ष्या की जलन से मेरा हृदय फिर जल उठा। मैंने सोचा कि वह निश्चय ही कार्नीलिया के साथ रहना-खेलना अधिक पसन्द करते हैं। मैंने किताब जमीन पर पटक दी। मुँह फुलाकर बोली—"मुझे नही चाहिए। कार्नीलिया को देना।" यह कहकर मैं भीतर अपने कमरे में चली गयी और भीतर से किवाड़ बन्द कर दिया। मुझे रोने की उत्कट इच्छा हो रही थी।

मोहन भैया बाहर से किवाड़ पर धक्का देते हुए बोले—"बिन्दी, खोलो।"

मैंने वाष्पाकुल कण्ठ से कहा—"नहीं।"

मेरा गला रुँध जाने के कारण ज्यादा बोल न सकी। भैया ने बहुत जिद की, बार-बार धक्का दिया, पर मैं न मानी। आज समझ रही हूँ किं उस ईर्ष्या-जनित अभिमान में कितना स्वाद था, कितना रस था!

इसी प्रकार क्रीड़ा-कौतुक, स्नेह-प्रेम, मान-अभिमान में उनके साथ मेरे बाल्य-जीवन के दिन बीते। अन्यान्य बालक-बालिकाओं के साथ हम लोग खेलते थे, पर अन्यमनस्क होकर। जीवन की यथार्थता का अनुभव मुझे तभी होता था, जब हम दोनो विश्व-संसार से अलग एक निराले भाव-लोक में संयुक्त होकर रहते थे। कभी किसी खेत में जाकर हम दोनो तितलियों को पकड़ते थे और उन्हे उड़ाते थे। कभी किसी कृषक-रमणी का निर्जन-सङ्गीत सुनते थे। कभी ज़मीन पर लेटकर आकाश में चीलो की उड़ान देखते थे। अकेले में हम दोनों आपस में बहुत कम बोलते थे, पर इस मौनावस्था में हमारी आत्माओ के बीच जिस रहस्यपूर्ण वार्ता का आदान-प्रदान होता था, वह कैसी आनन्द-जनक थी! मैं सोचती थी कि अनन्त काल तक मेरा यह अव्यक्त, एकान्त सुख अभङ्ग रहेगा।

पर दैव को ऐसा मञ्जूर न था। उन्हें पढ़ने के लिए शहर जाना पड़ा। एक महीने पहले से उनके जाने की खबर मुझे मालूम हो गयी थी। एक दिन सन्ध्या के समय एक देवदारु के पेड़ के नीचें हम दोनों लेटे हुए थे। वह सन्ध्या मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। मोहन भैया के हाथ में कहानियों की एक सचित्र किताब थी। वह कहानी पढ़ते हुए मुझे चित्र सम-

झाते जाते थे। सामने के पहाड़ पर चीड़ के पेड़ एक दूसरे से सटे हुए मायावन की बहार दिखा रहे थे। सन्ध्या के अन्धकार से उनकी छाया गाढ़तर होती जाती थी। हमारी दाहिनी ओर पश्चिम में सूर्य सुदूर पहाड़ के नीचे आधा डूब चुका था। सर्वत्र एक स्थिर अटल शान्ति व्याप्त थी। बीच-बीच में एक कुत्ता पहाड़ी की ओट में कहीं छिपा हुआ अकारण भूँक उठता था। उसके भूँकने का शब्द पहाड़ की कन्दरा में गूँजता हुआ उस निस्तब्ध-सन्ध्या को अधिक उदास कर देता था। आज मोहन भैया कहानी सुनाते थे, पर उनके कण्ठ में मेरे नित्य-परिचित सहज-आनन्द का लेश नहीं था। एक अन्यमनस्क भाव जैसे उनकी छाती को दबाता हो। अचानक कहानी के बीच में ही किताब बन्द करके उन्होंने उदास स्वर में मुझसे कहा—"बिन्दी, मैं जल्दी अल्मोड़े चला जाऊँगा।"

चौंककर मैंने पूछा—"क्यों?"

"बाबूजी मुझे वहाँ स्कूल में पढ़ने के लिए भेजना चाहते हैं।"

मेरे मुँह से अनजान में निकल पड़ा—"वहाँ अकेले कैसे रहोगे?"

"यही तो सोचता हूँ बिन्दी, क्या करना चाहिए? तुम जब यहीं रहोगी तो मैं वहाँ कैसे—"

मैंने झट बात काटकर कहा—"नहीं, नहीं, मैं यह पूछती थी कि तुम्हारे बाबूजी भी क्या तुम्हारे साथ जायँगे? तुम वहां कहां रहोगे?"

"बाबूजी नहीं जायँगे। बोर्डिंग में रहना होगा।"

"तब चिन्ता क्या है? बोर्डिंग में तुम्हारे साथी बहुत मिल जायंगे!" बोर्डिंग के अज्ञात लड़कों पर मुझे ईर्षा हो रही थी।

मोहन भैया चुप रहे। कुछ न बोले। सूरज छिप गया। रात का बसेरा ढूँढ़ने के लिए व्याकुल कौवों की एक पांति हमारे ऊपर से होती हुई उड़कर चली गयी। मैं सोच रही थी कि बसेरा मिलने से भी अब किसी को क्या सुख मिल सकता है! गया! गया! चिर-जीवन का सङ्गी अब गया! रात्रि के आगामी अन्धकार की तरह ही मेरे भावी जीवन का अन्धकार मानो मेरी प्रतीक्षा में था। कुछ देर बाद दोनों उठ खड़े हुए और घर को वापस

जाने लगे। अँधेरा होने लगा था। पश्चिमाकाश की सुनहली आभा सब मिट गयी थी और उसके ऊपर एक बहुत गहरा गाढ़ा नीला रङ्ग चढ़ गया था। जैसे इस एकान्त सन्ध्या में मोहन भैया के चले जाने की खबर सुनकर समस्त प्रकृति का पुञ्ज-पुञ्ज रुदन वहा पर सञ्चित हो गया हो। सर्वत्र विषाद और विलाप मुझे नजर आता था। रात को नीद आनेतक अनोखी बेकली मन में समायी रही और नीद में भी वह व्याकुलता सारी अन्तरात्मा में साञ्चरित हो गयी थी।

दूसरे दिन से मोहन भैया के साथ से अलग बचकर रहने की चेष्टा करने लगी। कोई अव्यक्त संस्कार मुझे यह जता रहा था कि जो आदमी कुछ दिनो के बाद सदा के लिए चला जायगा उसकी माया अभी से छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हे देखते ही मेरे भीतर हाहाकार मच जाता और न देखने से मन कुछ शान्त रहता।

आखिर वह विकराल दिन आ पहुँचा। मै चाहती थी कि बिदा होने के समय उनके दर्शन न हो। क्योकि वह प्यारा मुखड़ा देखते ही मेरे भीतर मार्मिक यन्त्रणा की ज्वाला धधक उठती। इसलिए मै उस दिन अपने कमरे में किवाड़ बन्द करके सो रही। पर धत्तेरे दुष्ट भैया की! थोड़ी ही देर बाद द्वार पर धक्का देकर अपनी चिर-परिचित प्यारी बोली से उन्होने पुकारा—"बिन्दी!"

हा भगवान्! वह प्यारा कण्ठस्वर सुनकर क्या कोई रह सकता था! दुःख, शोक, अभिमान सब भूलकर उठ बैठी और किवाड़ खोला। क्षणभर के लिए उनके मुख के दर्शन करके मैने आँखें नीची कर ली।

"मैं जा रहा हूँ, बिन्दा! चिट्ठी लिखोगी?"

वह मुझे कभी 'बिन्दा', कभी 'बिन्दी', कभी 'बिन्दो' कहकर पुकारते थे।

कुछ देर तक भैया भी चुप खड़े रहे, फिर उन्होंने पूछा—"चाची और दादी कहाँ है? जाकर उन्हे प्रणाम कर आऊँ; देर होती है।"

मेरा गला रुँध आता था। बोलने से भीतर की दशा बाहर व्यक्त न हो जाय, इस आशङ्का से मैं कुछ न बोली, केवल उँगली से मैंने भीतर की ओर

इशारा कर दिया। वह एक मिनट तक खड़े रहे, फिर भीतर की ओर चल दिये। मैं दौड़कर बाहर चली गयी और धड़कता हुआ कलेजा लेकर दरवाजे पर खड़ी रही।

थोड़ी देर बाद भैया लौटकर सीढ़ियों से होकर नीचे चले आये। मैं कुछ देर सिटपिटायी, पर फिर रह न सकी, और प्रणाम करते हुए उनके पैर दोनों हाथों से जकड़ लिए। टप-टप मेरे आँसू उनके काले जूतों पर पड़ने लगे। शिवजी की मूर्ति पर भक्ति-पूर्ण हृदय से अर्घ्याञ्जलि चढ़ाने वाली स्त्री को शायद कभी उतना आनन्द नहीं प्राप्त हुआ होगा जितना मैं उस समय अनुभव कर रही थी।

"बिन्दा, तुम रोती क्यों हो? मैं जल्दी लौटकर आऊँगा! मेरा मन क्या वहाँ मान सकता है?" उनका कण्ठ भी गद्‌गद, वाष्पाकुल था।

मैं उसी अवस्था में मोहाच्छन्न-सी हो रही थी।

"उठो बिन्दा, मुझे देर होती है। उठो भैना, इस समय मुझे छोड़ दो।"

"पहले शपथ लो कि जल्दी लौटूँगा और चिट्ठी लिखूंगा।"

"तुम्हारे सिर की कसम, बिन्दा, मैं बहुत जल्द लौटकर आऊंगा। मैं चिट्ठी जरूर लिखूँगा। अपनी गरज से लिखूंगा। तुम इस वक्त उठो। प्यारी भैना, मत रोओ।" यह कहकर उन्होंने मेरे सिर पर अपना स्नेहकोमल हाथ रखा। मेरा हृदयावेश इस स्नेहस्पर्श से उमड़ चला और मैं उठकर मुंह फेरकर सिसकने लगी। मेरी पीठ थपथपाकर भैया ने मुझे दिलासा दिया और फिर चले गये। मैं शून्य हृदय से स्तब्ध, जड़, मृतवत् खड़ी रही।

दो दिन तक मेरा शोकावेग बहुत तीव्र रहा। पर फिर धीरे-धीरे मेरे हृदय में स्थिरता आने लगी। यहाँ तक कि मैं मोहन-भैया को बहुत-कुछ भूलने-सी लग गयी। अपनी हमजोली की लड़कियों का सहवास मुझे मोहन भैया की स्मृति से हटा कर एक अनोखी दुनिया में ले जाने लगा। पहले मैं लड़कियों से बहुत कम मिला करती थी। पर अब उनका सङ्ग मुझे एक अनोखे लोक से परिचित कराने लगा। मेरी अवस्था प्रायः तेरह साल की हो गयी थी। मैंने देखा कि मेरी सहेलियाँ जिस भावी जीवन की सुखमय

आशा में रह कर नाना इङ्गितों से अपने मधुर स्वप्नों कीचर्चा करती हुई सयानीस्त्रियों की तरह गिरस्ती के धन्धों की ओर झुकने लगी हैं, उससे मैं आज तक बिलकुल अपरिचित थी। सयानी स्त्रियों के बन्धन-ग्रस्त गृहस्थ-जीवन में मैंने एक ऐसी मोहनी देखी जो दुर्निवार वेग से मुझे आकर्षित करने लगी। मेरी सहेलियाँ सहज ही विवाहिता स्त्रियों के साथ समान गति में चलने लगी थीं। पर मैं अभी तक एक भावुक बालिका ही रह गयी थी, इस कारण मेरे क्षोभ की सीमा न थी। बड़े घर की लड़की थी, दादी, अम्मां और काका की बड़ी दुलारी थी। इसलिए कभी किसी काम में हाथ नहीं लगाती थी। पर मेरे हृदय के भीतर नवीन जीवन के रस का स्रोत धीरे-धीरे फूटने लगा, जो मोहन भैया केसाथ रहने से बिलकुल बन्द था, और मैं गृहस्थी केकाम-काजों में शरीक होने के लिए अत्यन्त लालायित हो उठी।

मेरी एक सहेली का विवाह बड़ी धूमधाम से हो गया। स्त्रियों में कैसा उल्लासऔर आनन्द छा गया था! अपने जीवन में प्रथम बार मैंने विवाह के शुभ कर्म में दिलचस्पी ली। इस आनन्द को मैंने खुले दिल से उपभोग किया, और अन्त को एक लम्बी सांस ली।

आखिर एक दिन मेरी बारी भी आयी। सारे गाँव में धूम मच गयी, सारे घर में दीप्त आनन्द जगमगाने लगा। समस्त आकाश और पृथ्वी को मैं अलौकिक रङ्ग से रंगा हुआ देखने लगी। जिनसे मेरा ब्याह होगा वह अल्मोड़े के निवासी हैं, यह जानकर मेरा आनन्द दुगुना बढ़ गया। क्योंकि मुझे मोहन भैया की याद आयी। अल्मोड़े में उनसे मिलना हो सकेगा, यह सोचकर मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही। जब से भैया गये थे तब से उन्हें मैंने नहीं देखा था। वह आने का वादा कर गये थे, पर कुछ ही दिनों बाद उनके पिताजी की बदली हमारे गाँव के पोस्ट आफिस से किसी दूसरी जगह हो गयी थी, इसलिए वह फिर कभी हमारे गाँव को वापस न आये।

दादी, अम्माँ और सहेलियों को छोड़ते समय मैं बहुत रोयी, पर रास्ते में सब को भूल गयी। जिस नयी दुनिया को मैं जा रही थी, उससे परिचित होने की उत्सुकता ने मेरे सब दुःखों को भुला दिया।

सास और ननदों ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत किया। जेठानियों ने भी मुझे देखकर प्रसन्नता प्रकट की, यद्यपि उस प्रसन्नता में कुछ रुखाई थी। बाल-बच्चे, बड़े-बूढ़े सब मेरे आगमन से प्रफुल्ल थे। तीन-चार दिन तक मैं सारे घर की रानी के बतौर रही। चारों पहर बच्चे और युवती स्त्रियां मुझे घेरे रहतीं। पर धीरे-धीरे लोगों का उत्साह ढीला पड़ता गया और मैं प्रायः अकेली रहने लगी। मोहन भैया को कैसे देखूँगी, मैं यही सोचने लगी।

अचानक एक दिन नौकर ने आकर खबर दी—"बहूजी, तुम्हारे मायके के एक आदमी आये हैं, तुमसे मिलना चाहते हैं।"

मेरी सास वहां पर बैठी थीं। मुझसे पूछने लगीं—'कौन हैं?"

पर मुझे कुछ मालूम नहीं था। सास ने कहा—"भीतर बुलाकर लेआ।"

थोड़ी देर बाद नौकर जिस व्यक्ति को साथ लेकर आया उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य उतना नहीं हुआ जितना रोमाञ्च हुआ। मोहन भैया स्वयं मेरी खोज करके मुझसे से मिलने आये थे। अब वह गाँव के लड़के नहीं रह गये थे। नगर-जीवन का सौष्ठव उनके सुन्दर मुख पर चमक रहाथा। शान्त, स्थिर गम्भीरता उनके चेहरे पर विराज रही थी। मेरी सास भी उन्हें देखकर चकित रह गयीं। वह जूते उतार कर कालीन पर बैठ गये। मैंने प्रणाम किया। पर सास के सामने उनसे क्या कहूँ, किस प्रकार बातें करूँ, कुछ समझ में न आया। उनका भी शायद यही हाल था।

मैंने धीमे स्वर में पूछा—"तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ आयी हूँ?"

"यों ही; गाँव में कुशल तो सब अच्छी है?"

"हां! तुम अब किस दर्जे में पढ़ते हो, भैया?"

"इन्ट्रेन्स में।"

इसी प्रकार की अर्थहीन बातें हम दोनों में हुईं। पर भीतर जो हृदयावेग उमड़ रहा था उसे बाहर निकालने का उपाय नहीं था। कुछ देर तक दोनों मन मार कर बैठे रहे। इसके बाद मोहन भैया उठ खड़े हुए। "फिर कभी मिलूँगा," यह कहकर चल दिये।

इसके बाद वर्षों तक उनसे मुलाकात नहीं हुई। इस बीच मैं कितनी बार मैके गयी, कितनी बार ससुराल वापस आयी। प्रारम्भ में ससुराल का जीवन बिलकुल निरानन्द मालूम हुआ। मायके जाती तो वहां भी पहाड़ी खेतों पर भूमती हुई सन्ध्या की पीली छाया एक अज्ञात उत्सुकता से मुझे व्याकुल करती; ससुराल आती तो वहां के बद्ध जीवन का भार पत्थर की तरह मेरी छाती पर पड़ा रहता। पर धीरे-धीरे पति-देव से मैं हिलमिल गयी और तब मैंने जाना कि मेरे जीवन की सार्थकता कहाँ पर है। उनके चरणों की सेवा से मैं अपने को धन्य समझने लगी उनके प्रेम-भरे शब्दों को अतृप्त हृदय से पान करने लगी और उनकी इच्छा के बहाव में मैंने अपनी सब कामनाएँ बहा दीं। अपना जीवन-यौवन मैं पूर्णतया सफल समझने लगी। कहाँ गयी मेरे बाल्य-जीवन की झूठी स्मृति, कहाँ लोप हुई मोहन भैया के लिए मेरी व्याकुलता!

मेरे पति सात-आठ साल से वकालत कर रहे थे। बुद्धिमान और वक्तृत्व में निपुण होने के कारण उनकी प्रैक्टिस खूब अच्छी चल रही थी। मेरी ससुराल के लोग खूब धनी थे, इसलिए मेरे पति के ऊपर कोई उत्तर-दायित्व नहीं था। रोज रुपयों से मेरी मुट्ठी गरम होती थी। मैं एक बक्स में रुपये जमा करती जाती थी। मैं रुपयों की भूखी नहीं थी, पर पतिदेव शायद मेरे प्रति अपने विशेष प्रेम का परिचय देने के लिए और मुझे पूर्णतः वश में रखने के लिए मुझे चांदी और सोने के बोझ से लादा करते थे। मैं उदासीनता से रुपयो और गहनों को बक्स में जमा करती जाती थी। उनका स्नेह पाकर ही मैं कृतार्थ थी।

पर धीरे-धीरे मेरे अनजान में एक अवसाद मेरे चित्त को घेरने लगा। सुख-स्वर्ग में रहने पर भी किस लिए यह विषाद था?

एक दिन मेरी एक मौसी ने मुझे निमन्त्रण दिया। वह मेरी अम्मां की चचेरी बहन थीं। नित्य दिन भर घर के भीतर एक प्रकार की कैद भुगता करती थी, इसलिए निमन्त्रण में जाने से कुछ देर के लिए मुक्ति मिलेगी, यह सोचकर मुझे प्रसन्नता हुई। एक नौकरानी को साथ लेकर मौसी के वहाँ

गयी। मौसी ने बड़ी आव-भगत की, और ससुराल में मुझे क्या सुख है, क्या दुख है, इस संबन्ध में अनेक प्रश्न किये। सहसा क्या देखती हूँ कि मेरे बाल्य-हृदय के राजा भीतर हमारे सामने खड़े हैं। ओ भगवान्! उस अप्रत्याशित आनन्द का वर्णन मैं कैसे करूँ! मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि इतने दिनों तक मैं उन्हें कैसे भूल गयी थी। अङ्ग-अङ्ग में आनन्द की तरङ्ग लहराने लगी और इतने दिनों का अवसाद पल में विलुप्त हो गया। मैंने श्रद्धापूर्वक हृदय से प्रणाम किया। मौसी ने कहा—"बैठो लल्ला!"

भैया हमारे ही साथ नीचे बैठ गये! गालों की हड्डियां बाहर को निकल आयी थीं, आंखें नीचे को धंस गयी थीं। पर कुटिल भौंहों की तनी हुई रेखाओं में वही पहले का उन्नत, गंभीर भाव अठखेलियां कर रहा था; उज्ज्वल आंखों की स्निग्ध ज्योति में वही रहस्यमय विस्मय झलक रहा था।

"तुम बहुत दुबली हो गयी हो, बिंदो! आज बहुत दिनों बाद तुम्हें देखा है!"

मैंने कहा—"मैं दुबली हो गयी हूँ, यह कैसी बात तुम कहते हो, भैया! मैं तो अपने को खूब तन्दुरुस्त समझती हूँ। पर तुम्हें क्या हो गया है? गालों की हड्डियां बाहर निकल आयी हैं, आंखों के नीचे गढ़े पड़ गये हैं, मुंह का रस सब सूख गया है। कहाँ रहते हो, क्या करते हो, तुम्हारे घर का क्या हाल है, मुझे कुछ भी तो नहीं मालूम! मेरे ब्याह के दिन सिर्फ एक बार मुझसे मिलने आये थे, उसके बाद आजतक मैं मर गयी हूँ या जीती हूँ, इसकी कुछ खबर भी तुमने नहीं ली।"

मेरा अभिमान हृदय में फूल रहा था। मोहन भैया मेरी बात सुनकर भुवनमोहन हास से मुस्कराये। बोले—"बिंदा, मैं तो अवश्य तुम्हारे पास आता, पर तुम्हारी ससुराल वाले मन में क्या सोचेंगे, यह सोचकर मैं न आया। जब तुम पहले-पहल ससुराल आयी थीं, तब बात ही दूसरी थी; पर अब तुम सयानी हो गयी हो।"

मेरी ससुराल वाले संशयी प्रकृति के थे, इसमें सन्देह नहीं, पर भैया को यह बात कैसे मालूम हो गयी थी, कह नहीं सकती।

मैंने पूछा—"आज यहाँ कैसे आ गये ?"

वह विशेष अर्थ-भरी मुसकान से मौसी की ओर ताकने लगे। मौसी भी उसी तरह मुस्करा रही थीं। मैं समझ गयी, मोहन भैया के आग्रह से ही मौसी ने मुझे बुला भेजा है।

बहुत देर तक हम दोनों में घुल-घुलकर बातें हुईं। मैं आज अपने को विश्व-संसार से निर्मुक्त समझ रही थी और मेरा मन आकाशविहारी निर्द्वन्द पक्षी की तरह उल्लासपूर्वक विचर रहा था। पर सन्ध्या होने लगी और जल-पान करके भैया उठ खड़े हुए। पुनः गहन अन्धकार ने मेरे हृदय में हाहा-कार का काला पट फैला दिया। इच्छा हुई, भैया के पाँव जकड़ कर रोकर, गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करूँ कि मुझे मत छोड़ो, जहाँ जाते हो मुझे अपने साथ ले चलो। पर हाय! अन्तर्क्रन्दन को बाहर प्रकट करने का कोई साधन मनुष्य के पास नहीं है।

"अब तो मौसी का घर तुम देख ही चुकी, बिन्दो! यहाँ आती-जाती रहना, मैं यहीं मिला करूँगा। आज इतवार है। अगले इतवार को क्या आ सकोगी?"

मैंने कहा—"कोशिश करूँगी।"

"अच्छी बात है। इस वक्त मैं जाता हूँ।" यहकह कर नव यौवन के मद से इतराते हुए अपने सुगठित शरीर को बाल-केसरी की झूमती हुई चाल से लचकाते हुए वह चल दिये।

इसके बाद मैं अकसर मौसी के यहाँ आने-जाने लगी, पर भैया से भेंट न हुई। एक दिन दीवाली के अवसर पर मौसी के छोटे लड़के का जन्म-दिवस था। मैं भी निमन्त्रित थी; बड़ी चहल-पहल मची हुई थी। कई स्त्रियाँ एकत्रित थीं और, आनन्द के रङ्ग में रंगी हुई, गा रही थीं। मैं भी उस सङ्गीत में अपना क्षीणकण्ठ मिला रही थी। अचानक मोहन भैया अपना मोहन रूप लेकर स्त्रियो के बीच में आ खड़े हुए। सब स्त्रियाँ उनका यह दुस्साहस देखकर चकित रह गयीं। गाना बन्द हो गया। किसी ने घूँघट काढ़ा, कोई कनखियों से उन्हें झाँकने लगी और ढीठ होकर टकटकी बाँधे

उनके दिव्य रूप को निहारती रहीं। मौसी ने प्रसन्न होकर कहा—"बड़ी देर से तुम्हारा इन्तजार करती थी, लल्ला! मैंने सोचा था, आज सुबह यहीं खाओगे।"

"आ नहीं सका मौसी, माफी चाहता हूँ। बिन्दी आई है?"

मैंने मुँह जरा फेर लिया था। इस स्त्री-समाज में वह मुझे स्पष्टतया न देख सके।

मौसी ने कहा—"बिन्दी, देखती नहीं, मोहन आया है।"

मैंने उनकी ओर देखा। उनकी यह ढिठाई मुझे समयोचित न जान पड़ी। मैं मन-ही-मन कुढ़कर रह गयी। सब स्त्रियाँ मन में क्या सोचेंगी? पर वास्तव में सब स्त्रियाँ मुझे ईर्ष्या की दृष्टि से देख रही थीं। क्यों न हो, ऐसे देवरूप भैया जिसके हों उसके सौभाग्य पर किसे ईर्ष्या न होगी?

"बिन्दी, जरा सुनना। एक जरूरी काम है।"

मैं हड़बड़ाती हुई उठी और उनके पास गयी। एक एकान्त कमरे में मुझे ले जाकर धीमे स्वर में बोले—"मैं सौ रुपये हार गया हूँ। बड़ी आफत में हूँ, बिन्दो!"

"क्या तुम जुआ खेलते हो?" मेरा गला काँप रहा था। दुःख और घृणा से मैं क्षुभित हो गयी।

अत्यन्त करुण, कातर स्वर में उन्होंने कहा—"हाँ, इधर कुछ दिनों से यह बुरी लत पड़ गयी है। दीवाली का शकुन है। तुमसे रुपये माँगने आया हूँ, बिन्दो! नाहीं मत करना। बड़ी आशा से आया हूँ।"

वह आर्त, करुण याचना मेरा कलेजा चीरे डालती थी। मन में सोचने लगी—"भगवान्! मेरे देवता का यह पतन क्योंकर संभव हुआ!"

बोली—"रुपये तो मेरे पास यहाँ पर नहीं हैं भैया, पर यह सोने का हार है। चाहिए, तो ले जाओ।"

"सच कहती हो? तुम्हारे सर की कसम बिन्दो, मैं तुम्हें नया हार बनवा दूँगा। कोई चिन्ता की बात नहीं है।"

सोचा था कि वह हार के लिए कतई राजी न होंगे। क्या जुए की हार सचमुच मनुष्य को इतना अविवेकी बना डालती है ?

घृणा, करुणा और असमञ्जस ने मुझे एक साथ धर दबाया। आखिर मैंने अपना प्यारा हार गले से निकाल कर दे ही दिया। वह उल्लासपूर्वक चले गये। मुझे धन्यवाद देने के लिए भी उन्हें फुर्सत नहीं थी।

रात-भर मैं क्षोभ के कारण रोती रही। जैसे किसी ने मेरे देवता की मूर्ति के मुख पर कालिख पोत दी हो, ऐसा भास हो रहा था। सारी रात बेकली से छटपटाती रही, एक पलक आँख न लगी। इतने थोड़े अर्से में मेरे प्यारे भैया क्या से क्या हो गये थे !

पर दूसरे दिन मेरे ऊपर सास की जो मार पड़ी उससे मैं भैया के पतन की बात भी भूल गयी। स्त्रियों की दृष्टि भी कितनी पैनी होती है ! मेरे पतिदेव ने मुझसे कुछ न कहा, पर सास ने पहली नजर में मेरा गला देखते ही पूछा—"क्यों, हार कहाँ गया ?"

मैं कुछ सिटपिटायी। फिर बोली—"टूट गया था, बक्स में बन्द कर के रख दिया है।"

पर उन्हें यकीन न हुआ। कुछ भी हो, उस समय वह चुप हो रहीं। शाम को पड़ोस की एक स्त्री ने, जो मौसी के यहाँ निमन्त्रण में गयी थी, सास के सामने मुझसे पूछा—"कल वह छोकरा कौन था जो तुम्हें एक जरूरी काम के लिए अलग बुला ले गया था ?" यह कहकर वह व्यंङ्ग के तौर पर मुस्कराने लगी। मेरे पैरों के तले से होकर धरती सरकने लगी। मुझे चक्कर-सा आने लगा। अपने को संभाल कर बोली—"कोई नहीं, मोहन भैया थे। गाँव से लौटकर मेरे मायके की कुशल लाये थे।"

सास ने कहा—"मैं तो यही सोचती थी कि हफ्ते में दो-दो दिन मौसी के यहाँ आना-जाना आज कल क्यों हो रहा है ! आज मालूम हुआ। अच्छी बात है !"

वह मन-ही-मन गुस्से को पीने की चेष्टा कर रही थीं। पर उनके लिए यह असम्भव था और दिन भर वह बड़बड़ाती रहीं। मेरी ग्लानि की सीमा

नहीं थी। धीरे-धीरे घर-भर में यह बात फैल गयी कि मैंने अपने गले का हार एक जुआरी को दे डाला। इस घटना के सम्बन्ध में एक घृणित कलङ्क का प्रचार होना अनिवार्य था। पर मेरी ससुराल के प्रायः सभी लोग अत्यन्त सभ्य और सुशिक्षित थे। आभिजात्य की गौरव-मण्डित शान्त गंभीरता अपनी स्निग्ध छाया से इस घर को सदा से घेरे हुए थी। इस कारण यह निन्दात्मक चर्चा होते-होते दब गयी। यहाँ तक कि मेरी सास में स्त्री-जाति की अस्थिरता पूर्ण रूप में विद्यमान होने पर भी उन्होंने पतिदेव को अधिक मात्रा में सशङ्कित न होने दिया। पतिदेव सब से अधिक सभ्य थे। मन में कैसा ही संशय उन्हें क्यों न हुआ हो, मुख से उन्होंने कुछ भी प्रकट न किया। मन-ही-मन उन्हें कोटि-कोटि धन्यवाद देकर अपने को धिक्कारने लगी।

समय बीतता चला गया। मोहन भैया जरूर ही उस हार को भी जुए में हार गये होंगे, क्योंकि एक दिन संयोगवश मौसी से मुलाकात होने पर मालूम हुआ था कि वह तब से उनके यहाँ भी नहीं आये। इस पतित जुआरी के प्रति एक तीव्र घृणा जागरित होने लगी थी, पर जब कहीं से कोई संवाद उनके संबंध में न मिला तो मैं उत्कण्ठित हो उठी। मैंने सोचा कि लज्जा और ग्लानि से वह दुनिया को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहते—यदि किसी प्रकार कहीं निश्चिन्त एकान्त में उनसे मिल सकती, तो दिलासे की दो बातें कहती। जतलाती कि हार को हार गये तो कोई विशेष क्षति नहीं हुई—पछताना वृथा है। पर मिलना तो दूर रहा, कोई खबर ही उनके सम्बन्ध में कहीं से नहीं मिलती थी। न मालूम क्यों, मुझे पूरा विश्वास था कि पतिदेव को भैया की सब खबर मालूम है। मेरी उत्सुकता से भी वह परिचित थे। यद्यपि अनजान-से बने रहते थे। पर उनसे कुछ पूछने से जमीन में गड़ जाना आसान था।

प्रायः छः महीने तक मन मार कर रही। कोई समाचार नहीं मिला। अन्त को एक दिन सुना कि वह अल्मोड़ा छोड़ कर चले गये थे और अब कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, शिमला आदि स्थानों में नौकरी की खोज में मारे-

मारे फिर रहे हैं। एक लंबी साँस लेकर मैंने मन-ही-मन कहा—"अच्छा ही हुआ है।"

समय ऐसा है जो माता को पुत्र का मृत्यु-शोक भी भुला देता है। बरसों तक मोहन भैया गायब रहे और मैं उनकी बात प्रायः बिलकुल ही भूल गयी। अपने रञ्जन को लेकर मैं ऐसी व्यस्त हो गयी थी कि दीन-दुनिया की सुध मुझे नहीं थी।

होली का मौसम था। होली की पूर्णिमा से एक दिन पहले की बात है। प्रतिवर्ष इसी दिन मेरी ससुराल वाले उत्सव मनाया करते थे। आज भी राग-रङ्ग मचा हुआ था। दालान में शामियाना तना हुआ था। होली के रङ्ग से रंगे हुए शहर के सब पुरुष आये हुए थे। पहाड़ में एकादशी के दिन ही कपड़ों पर रङ्ग पड़ जाता है। अबीर के बादल छाये हुए थे और सब के मुँह उससे लालिमामय थे। पान की गिलौरियाँ बँट रही थीं, इत्र सुंघाया जा रहा था, बीच-बीच में गाँजा, सुलफा भी चलता था। यह तब की बात है, जब असहयोग आन्दोलन शुरू नहीं हुआ था। गानेवालियों की एक जोड़ी भी मौजूद थी। कभी नाच होता, कभी गाना। कभी सारङ्गी बजती, कभी हारमोनियम। तालियों का तो कहना ही क्या है। भङ्ग भी पिलाई जा रही थी। गंजेड़ियों और भंगेड़ियों ने अच्छा रङ्ग जमा रखा था। खास-खास आदमियों को भीतर खिलाने-पिलाने का बन्दोबस्त भी था। नाना प्रकार की मिठाइयाँ और चटनियाँ भीतर बनकर तैयार हो चुकी थीं और सब्जियाँ बन रही थीं। खस्ती पूरियाँ गरमागरम उतारी जा रही थीं। मैं इन्हीं पकवानों की देख-रेख में व्यस्त थी और अवकाश पाते ही चिक की आड़ से बाहर भी झाँक लेती थी।

महराज ने कहा—"घी खतम हो गया है बहूजी, भण्डार से आधा कनिस्टर और निकलवा दीजिये।"

रामसिंह को लेकर मैं भण्डार-गृह में गयी। अचानक बाहर से बहु-सम्मिलित कण्ठस्वर सुनने में आया—"आइये, पधारिये, नमस्कार, कब तशरीफ लाये? इतने दिनों तक किस गुफा में छिपे रहे?" इत्यादि-इत्यादि।

मनमें एक सामान्य उत्सुकता का सञ्चार हुआ। छज्जे में जाकर चिक से बाहर झाँकने लगी। ओ भगवान्! क्या यह सम्भव था? मेरी आंखें क्या मुझे धोखा दे रही थीं? देखा कि मोहन भैया देवता की तरह मन्द-मधुर मुसकान से सब को अपनी अनुग्रहपूर्ण कृपा-दृष्टि से कृतार्थ कर रहे हैं। मेरे सिर से पैर तक एक पुलकप्रद कण्टकित वेदना लहरा उठी। कैसा मायावी वह सकरुण, भाव-विस्मय रूप था! लाख पुरुषों के बीच में वह अलग अपने विशेषत्व से झलक उठता, मुझे यह पूरा विश्वास है। उस उन्मत्त मण्डली से उसमें कैसी विभिन्नता थी! शान्त, तथापि दृढ़! सुकुमार, तथापि तीक्ष्ण! मुझे एक साथ रोने, चिल्लाने तथा हँसने की इच्छा हुई। पतिदेव ने उन्हें अत्यन्त स्नेह तथा आदर से अपने पास बैठाया।

भण्डार-गृह बन्द करके मैं भीतर गयी, फिर बाहर आयी; फिर गयी, फिर लौटी। चित्त बड़ा चंचल हो रहा था। मुझे पूरा विश्वास था कि पतिदेव के न्यौता देने पर ही भैया आये हैं। पर उनके आने की खबर तक पतिदेव ने मुझे नहीं दी! अभिमान से मेरी छाती फूलने लगी। पर यह अभिमान किसके प्रति था?

जी उचाट हो गया था, किसी काम में मन नहीं लगता था। बीच-बीच में रह-रह कर एक उत्सुकता मुझे व्याकुल कर रही थी। मैं सोच रही थी, क्या मोहन भैया भीतर आवेंगे और मैं अपने हाथ से उन्हें खिलाऊँगी? नाना प्रकार की सम्भव-असम्भव कल्पनाएँ मस्तिष्क में सुर-सुराने लगीं। अकस्मात् वायुमण्डल को चीरती हुई एक अलौकिक तान ने स्वप्न भङ्ग कर दिया। मोहन भैया ने हाथ में हारमोनियम लेकर वीणानिन्दक अलाप छेड़ दिया था। रङ्ग-रस में उन्मत्त सारी सभा स्तब्ध हो गयी थी। न किसी को वाह वाह कहने का साहस होता था, न किसी को बेताल तालियां बजाने का। सब को मुग्ध, मन्त्र-विह्वल करके, भावमयी आँखों को आकाश की ओर घुमाकर भैया गाने लगे—

सांझ भयी, घर जाओ लला!
मुरली न बजाओ, बिहारी लला!

अंसुवन की झड़ लाग रही है,
तन से छुटत चिनगारी ;
भभूत रमाय जोगन बन बैठी
हमरी सुध बिसरायी लला !
मुरली न बजाओ, बिहारी लला !

उस दिन का वह गाना मैं मरते दम तम कभी नही भूलूँगी। उपयुक्त समय था। पश्चिम की तरफ सीमान्त के पहाड़ पर सूर्य पीला पड़ गया था। सारी सान्ध्य प्रकृति में रङ्गीन होली की मीठी उदासी छायी हुई थीं। तिस पर मोहन भैया आज देश-परदेश से भटकते हुए आकर, जीवन के सम्बन्ध में नाना गम्भीर भावपूर्ण अभिज्ञता लेकर, मुख में करुणा-व्याकुल गद्गद्, विह्वल रूप झलका कर आये हुए थे। इन सब कारणो से उस गीत की वेदना ने मेरे रोम-रोम में उन्माद सञ्चारित कर दिया। मैं अपने आपे में नहीं थी। एकटक आँखो से वह मोहन रूप निहार रही थी और व्याकुल कर्णों से वह मोहोत्पादक रस पी रही थी। एक अलस निद्रा-का सा-रसावेश मेरे मस्तिष्क को आच्छन्न कर रहा था। सब मान-अभिमान भूल गयी। इच्छा होती थी कि भरी सभा में उनके चरणों के तले मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँ। पर हाय, क्या यह संभव था ! अब स्वर्ग के देवता के समान ही मोहन भैया मेरे लिए सत्य थे और उसी तरह असत्य भी। एक दिन दीवाली के अवसर पर जिन्हें मैंने मन-ही-मन तिरस्कृत किया था, आज होली के मङ्गल उत्सव में मेरी सारी आत्मा उनके स्वागत के लिए पागलों की तरह पछाड़ खा रही थी। पर इतने निकट होने पर भी वह मुझसे इतनी दूर थे ! मैं जानती थी कि जब तक स्वर्ग और मर्त्य का मिलन नहीं होगा तब तक उनसे मैं मिल नहीं सकती। फिर भी······

* * * *

"अम्मीं !"

चौंक पड़ी। पीछे फिरकर देखती हूँ कि रज्जन नींद से जगकर जम्हाइयां लेता हुआ मुझे पुकार रहा है। आह, मेरे लाल ! तुम्हें भूलकर किस

मायावी संसार की मरीचिका में भटक रही थी ! तृष्णा से गला सूख गया था और घोर भ्रम में मृगजल की ओर दौड़ रही थी, जब अमृत-जल मेरे पास से होकर बह रहा था। पलँग पर झुककर बार-बार उसका मुँह चूमा और असह्य तृष्णा की ज्वाला बुझायी।

"अम्मीं, रोती थीं ?"

कब कैसे आँखों से आँसू ढरक पड़े थे, इसकी मुझे खबर ही न थी। आँखें अञ्चल से पोंछकर पुलक-भरी मुसकान से फिर उसे चूमते हुए बोली—"नहीं राजाबाबू, मैं क्यों रोने लगी !"

मैं

अकेला ! निपट अकेला ! इस जनाकीर्ण विराट् नगरी में मैं अपने को एकदम सङ्गीहीन, निर्वासित और समस्त संसार द्वारा परित्यक्त पाता हूँ। मैं मानता हूँ कि हर कोई आदमी किसी मानसिक क्षोभ से आच्छन्न होने पर अपने को अकेला समझता है। पर मेरे इस अकेलेपन की भीषणता कैसी आतङ्कोत्पादक है, मेरे विक्षुब्ध हृदय की विजनता कैसी अतल है, मेरे मानसिक वातावरण का अन्धकार कैसा अच्छेद्य है, यह बात मैं आप लोगों को कैसे समझाऊँ ! यदि एक बार समझा सकता ! केवल एक बार ! पर नहीं, यह असम्भव है !......

कलकत्ता आये मुझे पूरे अड़तालीस महीने हो चुके। यहाँ के विपुल जन-संघात के संघर्ष से जीवन-संग्राम में निरन्तर इतने दिनों से पिसते रहने पर भी मैं अकेला का अकेला ही हूँ। केलाबागान की मुसलमान तथा हरिजन बस्ती की झोपड़ियों के बीच एक मारवाड़ी भाई के भाड़े वाले मकान में एक कमरा मैंने लिया है। इस बस्ती में मुसलमान मजूर, कुली-कबाड़ी, बीड़ी के दूकानदार तथा अन्यान्य प्रोलातेरियन तथा हरिजन श्रेणी के लोग रहा करते हैं। कानों में दिन-रात मुसलमान स्त्रियों की गाली-गलौज, मियाँ भाइयों का नग्न अश्लीलता से भरा वार्तालाप, फेरी वालो के कर्कश कण्ठ का कर्णभेदी चीत्कार तथा इसी प्रकार के अन्यान्य शब्दों का झङ्कार मुखरित होता रहता है। यहाँ नित्य दङ्गा-फसाद, चोरी-डकैती और खून-खराबी का हाहाकार मचा रहता है। जीवन के नाना चक्रों के फेर में पड़ने, नाना श्रेणी के लोगों के सङ्ग का अनुभव प्राप्त करने के बाद अन्त में हरिजनों का पड़ोसी होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। मैं इससे सन्तुष्ट हूँ—इसलिए नहीं कि मैं हरिजन-सुधारक हूँ, बल्कि इसलिए कि मेरी मानसिक परिस्थिति इस समय हरिजनों के स्तर में आ उतरी है।

दिन-भर दफ़्तर में काम करके हाथ-मुँह धोकर दरवाजा बन्द करके

पलँग पर लेट जाता हूँ और एक किताब हाथ में लेकर पढ़ने की चेष्टा करता हूँ। दो-एक पृष्ठ बड़ी मुश्किल से पढ़ पाता हूँ, इसके बाद किसी तरह भी जी नहीं लगता और शून्य भाव में परिपूर्ण रूप से निमग्न रहकर लेटे रहने की इच्छा होती है। कमरे की दोनो ओर टीन की दीवारें हैं। इसलिए अगल-बगल के कमरो से फुसफुसाने का भी शब्द स्पष्ट सुनायी देता है। उत्तर की तरफ के कमरे में आठ-दस पञ्जाबी रहते हैं; यद्यपि कमरा एक आदमी के लिए भी काफी नहीं है। जब वे लोग कमरे में होते हैं तो सब मिलकर ऐसा गुल मचाते हैं, बात-बात में ऐसा विकट अट्टहास करने लगते हैं कि मैं बार-बार चौंक उठता हूँ। सन्ध्या के समय वे अक्सर बाहर रहते हैं, इसलिए कुछ देर मैं आराम से लेटकर उद्देश्यहीन अवस्था में शून्य मानस-लोक में कुछ शान्ति पाता हूँ।

पूरब की ओर, केवल दो-चार हाथ के फासले पर, खपरैल से छाया हुआ एक छोटा-सा मकान है। उसमें कम से कम पन्द्रह-बीस मुसलमान परिवार भाड़े पर रहते हैं। मेरी खिड़की के सामने उस मकान का पिछवाड़ा नजर आता है। मुसलमान स्त्रियों और उनके बालबच्चो के कलकोलाहल से वह मकान हर घड़ी मुखरित रहता है। झगड़ा और प्रेमालाप, हास्य और क्रन्दन, मृतोत्सव और विवाह, पुत्रोत्सव और हत्या दोनों वहाँ साथ-साथ चलते रहते हैं। पर एक विशेषता पर मैंने गौर किया है। वह यह कि सन्ध्या को, सूर्य छिपने के कुछ पहले से लेकर बत्ती जलने के कुछ समय य बाद तक, उसमें आश्चर्यजनक शान्ति और स्निग्धता का समा बँधा रहता है—कुछ देर तक ऐसा मालूम होने लगता है जैसे यह हरिजन बस्ती नहीं, उच्च कुल के किसो अभिजातवंशीय परिवार का निवास स्थान है। मैंने देखा है कि नित्य इस निर्दिष्ट समय के बीच इस मकान की स्त्रियाँ अपने बच्चों को प्यार करने के लिए लालायित सी हो उठती हैं और स्वयं बच्चे भी किसी अज्ञात शङ्का से कातर होकर 'माँ! माँ!' पुकारते हुए उनकी मैली साड़ियों का अञ्चल पकड़ कर उनके शरीर से चिमटने लगते हैं। स्त्रियों को भगाने, बच्चो का गला घोटने, जवानो की छातियों पर छुरियाँ

झोंकी जाने की घटनाएँ इस रहस्य-भरे मकान में दिन-रात होती रहती हैं। शायद इसी कारण से शहर की धूल-भरी सन्ध्या के धुंधलके में माताओं और बच्चों के दिल दहल-से उठते हैं। इस मकान के प्राणियों के प्रतिदिन के जीवन की प्रत्येक दुःख-सुख की घटना के प्रति अकारण सहानुभूति अनुभव करने की आदत-सी मेरे अन्यमनस्क मन को पड़ गयी है। खिड़की से झांककर मैं कभी मकान की ओर देखता तक नहीं, पर पलंग पर लेटे-लेटे स्वप्नाच्छन्न की तरह वहाँ से आने वाले प्रत्येक शब्द पर ध्यान देता हूँ और आपस में उन लोगों की जो बातें होती हैं (मेरे कमरे से वहाँ की हर बात साफ सुनाई देती है) उन्हें सुनकर मन-ही मन उनके सुख-दुःख का अन्दाज लगा लेता हूँ।

पर क्यों ? किस लिए ? दूसरों के सुख-दुःख की बातों में दिलचस्पी लेने की आदत मुझे कैसे पड़ गयी ? क्या मैं वास्तव में अपने निजी आनन्द और क्रन्दन की भावनाओं की ओर उदासीन हो उठा हूँ ? असल बात यह है कि एक मात्र अपने ही मनोवेगों के आलोड़न से मैं कुछ समय से ऐसा विक्षुब्ध हो उठा हूँ कि किसी तरह अपनी अन्तश्चेतना को दबाये रखना चाहता हूँ। यही कारण है कि मेरा वाह्य मन किसी बाहरी भाव-जगत् में डूबकर भीतर के भीषण आग्नेयोद्‌गार से किसी तरह मुक्ति पाना चाहता है। पर क्या यह सम्भव है ?

मैं उन आदमियों में से हूँ जो सब समय केवल अपने ही अन्तर की भावनाओं को लिये रहते हैं, ठीक उसी तरह, जिस प्रकार मादा कङ्गारू अपने नवजात शिशु को हर घड़ी छाती से जकड़े रहती है। बाहरी परिस्थितियों का प्रभाव ऐसे खयाली आदमी पर बहुत कम पड़ता है, बाहरी परिस्थितियों को वह अपनी सुदृढ़, सुस्थिर, निश्चित आवेगों से पूर्ण भावुकता का रङ्ग देता है, न कि उनसे कुछ लेने की चेष्टा करता है। मैं इसी प्रकृति का आदमी हूँ। अर्थात् मैं आधुनिक मनोवैज्ञानिक की भाषा में 'इंट्रोवर्ट' हूँ। पर दूसरे 'इन्ट्रोवर्टों' से मुझ में एक विशेषता है। वह यह कि मैं इस अन्तर्मुखी मनोवृत्ति की चरम सीमा तक पहुँच जाने के कारण ऐसा घोर

स्वार्थी बन गया हूँ कि चौबीसों घण्टे सोते, जागते अथवा स्वप्नावस्था में, जानकर या अनजान में केवल एक ही बात की चिन्ता में मग्न रहता हूँ— वह है मेरा अपनापन। मैं फिलासफी की आड़ में अपनी नीच प्रवृत्ति को छिपाने की चेष्टा कर रहा हूँ, यह शङ्का बहुत से पाठकों के मन में उत्पन्न होगी। नहीं, असलियत छिपाने का मेरा बिलकुल इरादा नहीं है। मैं स्पष्ट शब्दों में कहना चाहता हूँ — मैं सांसारिक दृष्टि से भी परम स्वार्थी हूँ। हर घड़ी केवल मैं—मैं—मैं का एक तारा मेरे अन्तःकरण में बजता है,— हँसोड़ महाशय अवश्य ही कहेंगे—ठीक बकरे की तरह।

मुझे मेरा दुःख—मेरी दलित, अपमानित और निर्वासित अवस्था की अनुभूति—बहुत प्यारी है। इस परमप्रिय अनुभूति का स्वाद मैं एकान्त में बड़े चाव से, नाना रसों के सम्मिश्रण से लिया करता हूँ। मेरे जीवन का एकमात्र सहारा यही अनुभूति है। इसका स्वाद और भी अच्छी तरह से लेने के लिए ही मैं इस नरक की गन्दगी से भरी हरिजन-बस्ती में सड़ रहा हूँ। मैं बड़ा घमण्डी, भयङ्कर अहंवादी हूँ, अँगरेजी में जिसे कहते हैं 'ईगोइस्ट'।

दफ़र से वापस आते ही मैं अपने कमरे में आकर बन्द हो जाता हूँ, यह बात पहले ही लिख चुका हूँ। पर कभी-कभी इस बद्ध कारागार की विभीषिका से उकता जाता हूँ तो बाहर निकलने की इच्छा होती है। बाहर निकलने पर कहाँ, किस ओर जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में कुछ भी स्थिर न कर सकने के कारण बहुत देर तक फुटपाथ में अन्यमनस्क होकर टहलने लगता हूँ। कर्म-चक्र से निरन्तर आन्दोलित इस विराट् नगर में जब कोई निठल्ला व्यक्ति मेरी तरह फुटपाथ पर टहलने लगता है तो लोग उसे स्वभावतः सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं। अनिश्चित मन अन्त को चौरङ्गी की ट्राम पकड़ने के लिए उत्सुक हो उठता है।

चौरङ्गी पहुँच कर कुछ देर तक मैदान में बैठता हूँ और फिर फुटपाथ पर जाकर टहलने लगता हूँ। मोटरकार, टैक्सी, बस, ट्राम, घोड़ा गाड़ी, रिक्शा आदि के निरन्तर यातायात से प्रतिक्षण तुमुल कोलाहल मचा रहता

है, बिजली की जगमगाहट में, फैशनेबुल दूकानो की आकर्षक सजावट के सामने आनन्दान्वेषी स्त्री-पुरुषो का ताता लगा रहता है.। किसी यूरोपियन रेस्तोरां से सङ्गीत-वाद्य की सुमधुर ध्वनि तरङ्गित होती हुई कानों में आती है, किसी हिन्दुस्तानी दूकान से ग्रामोफोन के रेकार्डों का कर्कश शब्द कानो के पर्दों को फाड़ डालना चाहता है। उदासीन होकर बाहरी मन से मै इन सब दृश्यो को देखता हूॅ, शब्दो को सुनता हूॅ; पर मेरी मानसिक जड़ता की इस असाधारणता पर विचार कीजिये कि इन विचित्र रूपो और ध्वनियो के बीच खड़ा होने पर भी अकसर मै अपने को एकदम शून्य में, अनन्तकालिक निर्जनता में, अवस्थित समझने लगता हूॅ। इसे आप लोग कविता अथवा भावुकता की बात न समझें। मैं अतिशयोक्ति से काव्यात्मक भाषा का प्रयोग बिलकुल नही करता; केवल वास्तविक सत्य को अक्षरशः प्रकट कर रहा हूॅ। बहुत सम्भव है, कोई डाक्टर मेरी इस अनोखी बीमारी का निदान मालूम कर सके। जिस प्रकार कुछ व्यक्तियो को नींद की ऐसी बीमारी होती है कि चलते-चलते बेबस ऊंघने लगते हैं, उसी तरह मैं समय-असमय शहर के शोरोगुल के बीच भी शून्य की गोद में (इच्छा न होने पर भी) झूमने लगता हूॅ।

जब बीच में कुछ देर के लिए मोहाच्छन्न अवस्था से सचेत हो उठता हूॅ तो एक अद्‌भुत आनन्द, असीम अभिमान से भरी हुई एक मधुर अनुभूति मेरे रोम-रोम मे पुलक का सञ्चार करने लगती है। उस असाधारण अनुभूति का यथार्थ वर्णन करने में मै अपने को सर्वथा असमर्थ मालूम कर रहा हूॅ। लाख चेष्टा करने पर भी मैं पाठको को उसका आभास नहीं दे सकूॅगा, यह मेरी ध्रुव धारणा है, और जितना कुछ समझा सकूॅगा उसका फल केवल यह होगा कि लोग मुझे तत्काल पागलखाने में भेजने की राय पेश करेंगे। फिर भी मैं अपनी चेष्टा नहीं छोड़ना चाहता।

मै कहना चाहता था कि अतल अन्धकारमय मानसिक अवसाद के बीच जब मेरी चेतना कुछ समय के लिए जागरित हो उठती है तो मैं सोचने लगता हूॅ कि राग-रङ्ग में मग्न, आनन्द के अन्वेषण में व्यस्त ये

सब नर-नारी, करोड़पतियों और लखपतियों के परिवारों के ये सब आत्म-तृप्त जीव (चाहे वे अंगरेज हों, यहूदी हो, पारसी हों अथवा मारवाड़ी) बुद्धि और ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त नगण्य और उपेक्षणीय है। मैं यद्यपि बुद्धि की व्यापकता और अनुभूति की प्रबलता में उन सब से बहुत आगे बढ़ा हुआ हूँ और फलतः उन सब की अपेक्षा भोग का अधिक अधिकारी हूँ, तथापि एक साधारण हरिजन की तरह मैं इस तरह उपेक्षणीय और हीन अवस्था में पड़ा सड़ रहा हूँ; मेरे खाने और रहने का कोई ठिकाना नहीं है; जीवन के किसी भी सुख का कोई साधन मेरे पास नहीं है; दिन-दिन खिन्नमन, क्षीणशरीर और दुर्बल-मस्तिष्क होता चला जाता हूँ। यह न्याय जिस शक्ति का है, चाहे वह ईश्वर हो या शैतान, प्रकृति हो अथवा भाग्य, समाज हो या संसार उसकी तह तक पैठने की तीव्र इच्छा मेरे मन में उत्पन्न होती है, और एक रहस्यमयी प्रेरणा से मैं उस समय अपने को इसके लिए पूर्णतया समर्थ समझने लगता हूँ।

एक और असाध्य मानसिक रोग ने मुझे धर दबाया है। यह रोग ऐसा भयङ्कर है कि उसकी कल्पना ही से मैं सिरसे पैर तक कांप उठता हूँ—मेरे मन में यह विश्वास अत्यन्त दृढ़ता से जम गया है कि संसार का कोई भी प्राचीन अथवा आधुनिक विद्वान् मुझे ज्ञान की कोई भी ऐसी नयी बात बताने में असमर्थ है जिसे मैंने अपनी मुट्ठी से पकड़कर अत्यन्त तुच्छता-पूर्वक पैर के नीचे ठुकरा न दिया हो। वाल्मीकि या होमर, कालिदास या शेक्सपीयर, अरस्तू या शङ्कराचार्य, नीत्शे या टाल्सटाय, टैगोर या गांधी, संसार के किसी भी मृत या जीवित व्यक्ति की किसी भी बात में मुझे नाम-मात्र की भी नवीनता नहीं दिखाई देती। मैं इस बात को निश्चित रूप से समझे बैठा हूँ कि इन मनीषियो की किसी भी महत् उक्ति का कोई भी प्रभाव मेरे मन पर नहीं पड़ सकता। अपने हृदय के अगम अन्धकार के रहस्य का उद्घाटन मानवी-ज्ञान की किसी भी प्रकाश-रेखा से होते न देख मेरा चित्त उद्भ्रान्त हो उठा है। ज्ञान की जिस भेद-भरी बात को मैं नहीं समझ पाया हूँ उसे संसार का अन्य कोई भी व्यक्ति समझाने में समर्थ हो

सकता है, यह बात मेरा मन कदापि मानने के लिए तैयार नहीं है। अपने को श्रेष्ठ समझने की एक मानसिक बीमारी होती है, जिसे मनोविज्ञानवेत्ता 'मीगेलोमोनिया' कहते हैं। अधपगलो में भी यह बीमारी कभी-कभी पायी जाती है। पर मैं अपने को केवल श्रेष्ठ ही नहीं समझता, इससे भी कुछ और ! तब क्या मैं पूरा पागल हो उठा हूँ ? इस बीमारी को आप लोग जो कुछ भी नाम देना चाहते हो शौक से दे सकते हैं, मुझे कोई एतराज नहीं है। मैं केवल वास्तविक तथ्य आप सज्जनों के आगे पेश कर देना चाहता हूँ।

आप लोग हँस रहे हैं, इस बात का मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ। मूर्ख, विक्षिप्त, ज्ञानलवदुर्विदग्ध, खब्ती, सिड़ी, बौड़म आदि नाना विभूषणों से मुझे विभूषित कर रहे होगे। आप लोगो को इसका पूरा अधिकार है। मैं स्वयं कई बार इन्हीं शब्दो से अपनी खिल्ली उड़ा चुका हूँ, और मेरा अन्तःकरण भली भाँति जानता है कि मैं वास्तव में एक हीन प्राणी हूँ; पर सब व्यर्थ ! अपने जिद्दी मन के अटल विश्वास को मैं किसी तरह भी भङ्ग करने में असमर्थ हूँ।

मुझ जैसे एक अदने से मनुष्य के मस्तिष्क तथा हृदय की शारीरिक सीमा कितनी क्षुद्र है, कैसी उपेक्षणीय है ! तथापि इस क्षुद्रातिक्षुद्र सीमा के भीतर जो उद्धत गर्व, दलित मान का जो विस्फूर्जित वेग समुद्र के प्रलयङ्कर तूफान की तरह फुफकार मचाता है उसकी भीषणता कल्पनातीत है।

वर्तमान युग राजनीति और विज्ञान का युग है। इस युग में वे ही पुरुष श्रेष्ठ समझे जाते हैं जो किसी न किसी रूप में राजनीति से सम्बन्धित हैं, वही विद्या महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जो व्यावहारिक विज्ञान के किसी नवीन अविष्कार से सम्बन्ध रखती हो। इस युग में विद्वत्ता की परख ज्ञान की गहनता से नहीं, बल्कि इस बात से होती है कि कौन कितने अधिक आंकड़ों से परिचित है। इन सब विषयो से यद्यपि मैं अलग हूँ, तथापि मैं यह बात मानने को कदापि तैयार नहीं हूँ कि राजनीतिक नेता खुदा का छोटा भाई होता है और उसकी बात समझने अथवा उसके प्रतिष्ठित पद

तक पहुँचने की योग्यता हर किसी आदमी को नहीं हो सकती। नेपोलियन और लेनिन की प्रतिभा की उद्दण्डता सार्वजनिक प्रशंसा के योग्य है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर अगर दुनिया उन्हें 'सर्वेसर्वा' मानने लगे और नास्तिक लोग उन्हें ईश्वर के 'पूर्ण अवतार' की तरह मन-ही-मन पूजते हुए उनकी महनीयता को केवल उन्हीं के निरालेपन के योग्य समझें और किसी दूसरे को उसके मर्म की थाह पाने का दावा करते देख उसकी हँसी उड़ाने लगें, तो मैं कदापि उन लोगों से एकमत नहीं हो सकता यदि आधुनिक 'विज्ञान' को ही ज्ञानकी चरमावस्था मान लिया जाय, तो उसी का प्रमाण देते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि मूल शक्ति—इनर्जी—एक है और उसका एक रूप देश, काल तथा परिस्थिति के अन्तर से दूसरे रूप में परिणत हो सकता है। ज्ञान के आवेग की जो तूफानी प्रचण्डता मेरे भीतर तहलका मचा रही है, यदि उसे उपयुक्त वातावरण और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हो जाती तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि वह नेपोलियन और लेनिन से भी अधिक उद्दण्डता से सारे संसार के सिर की चोटी पकड़कर अपनी इच्छानुसार नाच नचाती। मैं जानता हूँ, इसके उत्तर में आप लोग क्या कहेंगे। आप कहेंगे कि नेपोलियन और लेनिन रिस्थितियों के दास कभी नहीं रहे, बल्कि परिस्थितियों को अपनी इच्छानुसार घुमाना ही उनका काम था। ठीक है। पर यह बात आप लोग भूल रहे हैं कि मेरी वर्तमान दशा में मेरे सामने कोई भी परिस्थिति उपस्थित नहीं है—केवल निखिलव्यापी जड़ता और अनन्त शून्य!

यहाँ पर यह एतराज उठेगा कि यह केवल मनोविकार-जनित भावुकता और कल्पना का काव्यमय जाल है। मैं कहूँगा कि कल्पना के काव्यमय जाल से ही विश्वक्रान्ति उत्पन्न होती है। संसार की समस्त ऐतिहासिक क्रान्तियों के मूल उन्नायक नेपोलियन या लेनिन की श्रेणी के नेता नहीं, रूसो या कार्ल मार्क्स की प्रकृति के भावुक, कल्पनाप्रिय तथा मानसिक जगत में विचरने वाले जीव हुए हैं।

* * *

इधर कुछ दिनों से मेरी खिड़की के सामनेवाली मुसलमान बस्ती में रात के वक्त अच्छा रङ्ग जमा रहता है। मालूम पड़ता है, किसी लड़के की शादी होनेवाली है। मकान की सब स्त्रियाँ मिलकर ढोलकी बजाती हुई कोरस में गाया करती हैं। इनमें से बहुत-सी स्त्रियाँ युक्तप्रान्त की तरफ की मालूम होती हैं। मुसलमान होने पर भी वही गाने गाती हैं जिन्हें मैं बचपन में अपने घर पर अपनी माँ तथा पास-पड़ोस से आयी हुई स्त्रियो की गोद में बैठकर सुना करता था। मेरे कोमल मस्तिष्क पर लोरी की तरह ऐसे गानों का असर पड़ता था और मैं झूमते हुए मन से उन्हें सुनता हुआ गोद में ही सो जाता था। जब कुछ बड़ा हुआ तब भी स्त्रियों के आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने का अवसर कभी हाथ से न जाने देता था। उनके चिर-परिचित गीतो में एक ऐसी सरल मोहकता मैं पाता था कि रिश्ते की किसी चाची, ताई या मौसी की बगल में बैठकर घण्टों ध्यान-पूर्वक सुना करता। पड़ोस की सब स्त्रियों का मैं बड़ा दुलारा था। मुझे वहाँ बैठे देखकर कोई प्यार से मेरी पीठपर हाथ फेरती, कोई मेरे सिर के बड़े-बड़े, बिना कटे हुए बालों को सहलाती, कोई मेरे मुख में, मेरी आँखो में बाल्य-सुलभ हास्योद्दीप्त चञ्चलता के बदले विस्मित गाम्भीर्य और नीरव एकनिष्ठता देखकर स्नेहपूर्ण आश्चर्य प्रकट करके गद्गद् हो जाती थी।

हरिजन-श्रेणी के मुसलमानो की इस बस्ती में स्त्रियो के सम्मिलित कण्ठ से निकली हुई वही चिर-परिचित स्वर-लहरी रह-रहकर मेरे हृदय में उभड़ने लगती है और सारी अन्तरात्मा में एक हलकी-सी गुदगुदी समा जाती है। इच्छा होती है कि उस दीर्घ-विस्मृत स्नेह-प्रेम के दिनों की याद में एक बार जी भरकर रोऊं, पर किसी तरह भी रो नहीं पाता; इससे मन में और भी बेचैनी समा जाती है। चौरङ्गी में राग-रङ्गमय जीवन की तरङ्गों में डुबकियां लगानेवाले फेशनेबुल जन-समाज के आनन्द-कोलाहल से मुक्ति पाकर डेरे पर पहुँचने के बाद यह स्निग्ध, शान्त, सरल, तरल रसमय गीतस्वर लोरी की तरह मेरे दुर्दान्त हृदय को थपकियां दे-देकर सुलाने की चेष्टा करता है। हृदय सो जाता है, पर आंखें सोना नहीं चाहतीं। तख्त

पर चित लेटा हुआ खिड़की के बाहर तारो के चिर-रहस्यमय प्रकाश से जगमगाते हुए आकाश की ओर एकटक निहारता रहता हूँ। गीत और ढोलकी की आवाज मिलकर झिल्ली की झनकार की तरह कानों में निरन्तर गूँजती रहती है और मेरा हृदय मूर्च्छामग्न-सा झूमता रहता है। प्रत्येक गीत के समाप्त होने पर बीच-बीच में कुछ देर तक हास्यालाप चलता है, जिससे ऐसा मालूम होने लगता है कि इन सब स्त्रियों के पारिवारिक जीवन में कभी कोई अशान्ति न रही होगी और इनके यहां प्रतिदिन जो खून-खराबी, मार-काट, गाली-गलौज आदि के दृश्य देखे जाते हैं उनसे मानो इनका कोई सरोकार ही नहीं है।

ऐसे अवसर पर मेरे मन में कभी-कभी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं भी किसी हरिजन-श्रेणी के कुटुंब से (चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान) अपने जीवन-सूत्र को संबद्ध करूँ; उन्हीं लोगों की तरह आगे-पीछे की कुछ भी चिन्ता न कर नाना प्रकार के दुष्कर्मों में लिप्त हो जाऊं; किसी हरिजन स्त्री से शादी करके सुबह-शाम उसके मुंह से गालियों की बौछार और फटकार सुनकर रात को उसे इसी तरह निर्द्वन्द्व होकर गीत गाने के बाद हास्यालाप में मग्न देखूँ; गरमी के दिनों मकान के बाहर कीचड़ और कूड़े से भरी हुई तंग गली में एक फटी-मैली दरी बिछाकर बिना नाक-भौं सिकोड़े 'कामरेड' लोगों से गप-शप की बातें करते-करते बेसुध होकर, घोड़े बेचकर सो जाऊं!

मनस्तत्त्वविद् महाशय यहां पर अवश्य ही यह रिमार्क पास करेंगे कि यह sex-repression (यौनवृत्ति-दमन) के कारण उत्पन्न हुए perversion (मानसिक विकृति) का फल है। यदि बात केवल यही होती तो मैं अपने मन को हर तरह समझाकर शान्त कर लेता। पर इस मनोवृत्ति का मूल कारण ऐसे घनान्धकारमय गह्वरके भीतर निहित है कि उसे आसानी से खोज निकालने का दावा करना अनभिज्ञता प्रमाणित करेगा।

असल बात यह है कि मैं इस समय जीवन के ऐसे जटिल चक्रों के फेर

में पड़ा हूँ, झूठे ज्ञान के ढोल की पोल का पता लगाने पर बुद्धि-संबंधी चर्चा से इतना उकता गया हूँ कि उससे मुक्ति पाने के लिए निरा पशु बनना भी मुझे कबूल है ।

इसके अलावा एक बात और है । वर्तमान सभ्य जगत् के सामाजिक बन्धनो ने मेरी आत्मा को ऐसी कुटिलता से ताने-बाने के साथ जकड़ रखा है कि मैं उन्हें किसी भी उपाय से एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक तोड़ डालने की चेष्टा से छटपट कर रहा हूँ । मेरा विश्वास है कि समाज में एक ऐसी निर्मुक्त, निर्बंध परिस्थिति उत्पन्न करने की आवश्यकता है जिसमें समस्त स्त्री-पुरुष बिना किसी भी नियम की रोक-टोक के निर्द्वन्द्व गति से अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र हो ; एक ऐसे वातावरण की जरूरत है जिसमें स्त्री और पुरुष, धनी और निर्धन, मालिक और मजूर, सब को एक-दूसरे के ऊपर बिलकुल भी निर्भर न कर स्वेच्छाचरण की पूरी स्वाधीनता प्राप्त हो और कोई व्यक्ति किसी प्रकार के सामाजिक विधि-विधान को किसी भी रूप में मानने के लिए बाध्य न हो । एक बार सभ्य समाज में बन्धनहीन उच्छृङ्खलता, पूर्णतः अस्तव्यस्त अवस्था—जिसे अंगरेजी में Chaotic state कहते हैं—देखने की अदम्य इच्छा मेरे मन में बहुत दिनो से समायी हुई है । समाज में एक बार विध्वंस की नग्न लीला का प्रलय-ताण्डव मच जाय, मैं तहेदिल से यह चाहता हूँ । जिन झूठे बन्धनों ने मध्य श्रेणी को चारों तरफ से अत्यन्त निष्ठुरता से जकड़ उसकी हड्डी-हड्डी, पसली-पसली को पीस डाला है और न जीवितो न मृतों में गिने जाने योग्य रखा है, उनका अस्तित्व किसी भी रूप में रहे, यह मैं नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ कि या तो सारा समाज एकदम हरिजन-श्रेणी में परिणत हो जाय या समाज के एक सिरे से दूसरे सिरे तक 'एरिस्टोक्रेसी' का बोलबाला हो जाय—बीच की अवस्था कहीं भी किसी रूप में न रहे !

* * *

मेरे कमरे से दूसरे या चौथे कमरे पर एक सिन्धी रहता है । अजीब आदमी है । उसकी बातो से मुझे पता चला है कि वह सात-आठ साल

जापान में रहा है। पहले-पहल जब मैं इस मकान में आया तो मुझे उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि साहबी ठाठवाला कोई आदमी भी इस हरिजन-क्वार्टर में रह सकता है। वह पहले ही दिन से मेरे साथ हेलमेल बढ़ाना चाहता था, पर मैंने उसके चेहरे में एक ऐसे ओछेपन की झलक देखी जिससे मेरा मन उसकी ओर से एकदम विमुख-सा हो गया। पर धीरे-धीरे, इच्छा न होने पर भी, जब उसके साथ मेरी घनिष्ठता हो गयी तो मैं उसे उसके दूसरे रूप में भी जान गया। मैंने देखा कि उसमें सङ्कीर्णता अवश्य है, पर उस मलिन 'बैकग्राउण्ड' के ऊपर कभी-कभी उज्ज्वल सहृदयता के अणु चमकते हुए दिखायी देते हैं। उसकी संकीर्णता जैसी स्पष्ट है, सहृदयता भी वैसी ही सत्य है। उसके चेहरे पर ये दो परस्पर-विरोधी भिन्न-भिन्न भाव स्पष्ट झलका करते हैं।

मुझे पता चला है कि पहले मेरा यह सिन्धी मित्र पार्क सर्कस की तरफ एक 'डिसेण्ट' मकान में रहा करता था, पर अब कुछ समय से बेकारी से मजबूर होकर इस गन्दे मकान में चला आया है। बेकारी के कारण वह तंग अवश्य है, तथापि इस गन्दे मकान में बड़े ठाठ-बाट से रहता है। बीच-बीच में कहीं से सौ-दो-सौ रुपये एकमुश्त ले आता है। कहाँ से लाता है, इस रहस्य का पता लगाना कठिन है; पर दूसरे ही दिन राग-रङ्ग में सब के सब खर्च कर डालता है और तीसरे दिन मुझसे चार पैसे कर्ज मांगने लगता है। बाहर से वह यद्यपि बेफिक्र दिखायी देता है, पर भीतर बहुत चिन्तित और खिन्न रहता है। उसकी खिन्नता का एक बड़ा कारण है। दार्जिलिंग में एक फैशनेबल बङ्गाली युवती से उसका प्रेम हो गया था। उसकी बातों से मालूम होता है कि लड़की फैशनेबल होने पर भी सहृदय थी। प्रारम्भ में दोनों का चोरी-छिपे एक-दूसरे के यहां आना-जाना जारी रहा। इसके बाद मेरे मित्र ने (जिसका पूरा नाम प्रकट न कर मैं केवल 'गि०' लिखकर परिचय दूंगा) उस बंगाली लड़की के प्रस्तावानुसार उसके मां-बाप से हेलमेल बढ़ाया। लड़की के पिता यद्यपि उसकी घनिष्ठता से स्पष्ट ही प्रसन्न न थे, पर लड़की की माता को सन्तुष्ट करने में उसने

आशातीत सफलता प्राप्त कर ली थी। गि० के सावले चेहरे पर यद्यपि चेचक के दाग मौजूद हैं, तथापि इस अद्भुत प्रकृति के पुरुष की आखो में समय-समय पर निष्कपट सहृदयता और सरल संकोच-भरी मुसकान की जो मधुर भावुकता अपनी आश्चर्यजनक झलक दिखाती रहती है वह स्त्रियो को मुग्ध करने मे कभी नही चूक सकती, यह विश्वास मेरे मन में दृढ़ता से जम गया है। बहरहाल, लड़की से उसकी घनिष्ठता दिन-दिन बढ़ती गयी। गि० कहता है कि अक्सर वे दोनो पहाड़ के किसी निराले कोने में जाकर घण्टो काव्य, प्रेम और सौन्दर्य की चर्चा किया करते थे। (मैं जानता हूँ कि गि० ने किसी यूनिवर्सिटी मे शिक्षा नही पायी है, इसलिए उसकी काव्य चर्चा की बात सुनकर मुझे आश्चर्य होता है।) लड़की उसे इतना प्यार करती थी कि उस निर्जन में सौन्दर्य-चर्चा करते-करते उसकी आखें अकारण डबडबा आती थी। वह कभी स्नेह-मधुर हास्य से हॅसती, कभी कृत्रिम क्रोध का भाव दिखाती, कभी गद्गद आखो मे आसू छलकाती।

दार्जिलिंग का सीजन समाप्त होने पर लड़की अपने माता-पिता के साथ कलकत्ते चली आयी। गि० भी कलकत्ते आकर पार्क सर्कस मे रहने लगा और मित्रो से रुपया कर्ज लेकर लड़की के 'पोजीशन' का खयाल करके बाहरी ठाठ बनाये रहा। कलकत्ते में भी दोनो का एक-दूसरे के यहा आना-जाना जारी रहा। दोनो के मन मे यह विश्वास निश्चित रूप से जम गया कि निकट भविष्य में दोनो का विवाह अवश्य ही हो जायगा। पर गि० के दुर्भाग्य से उसके कुछ मित्रो ने उसके भाग्य पर जलकर उसकी असली हालत का भण्डाफोड़ लड़की के पिता के आगे कर दिया। यह सूचित किया गया कि गि० एक बहुत मामूली खानदान का आदमी है, उसका न कही घर है न द्वार, न आमदनी का ही कोई अच्छा जरिया है, और अपनी झूठी शान बनाये रखने के लिए वह कर्ज लेकर ठाठ से रहता है। फिर क्या था। उसी दिन से गि० का लड़की के घर जाने का रास्ता बन्द हो गया। उसके बाद वह इस गन्दे मकान में चला आया जिसमें आजकल मैं रहता हूँ। लड़की से वह अन्तिम बार इडेन-गार्डन मे उसके माता-पिता की

आंख बचाकर मिला था। लड़की बहुत रोयी थी और रोते-रोते उसने गि० से यह प्रतिज्ञा करवायी थी कि यदि वह उसे हृदय से प्यार करता है तो इसके बाद उससे न कहीं मिले, न कोई पत्र लिखे, और सदा के लिए भूल जाय। उसके उत्कट प्रेम से प्रभावित होकर गि० ने उसे उसकी इच्छानुसार वचन दे दिया। उसने सुना है, अब उस लड़की का विवाह किसी बङ्गाली नवयुवक के साथ हो चुका है। गि० नित्य उसकी याद में आहें भरता है और उसका उल्लेख करते ही उसकी आँखें वास्तव में डबडबा आती हैं। तथापि वह कहता है कि "वह जहाँ भी हो, प्रसन्नता से रहे, मैं सच्चे दिल से यही चाहता हूँ।" उसकी एक और बात मुझे आश्चर्य में डालती है। वह कहता है कि इतने दिनों तक ऐसी घनिष्ठता का सम्बन्ध रहने पर भी उस बङ्गाली लड़की से उसका कभी किसी प्रकार का अनुचित शारीरिक सम्बन्ध नहीं रहा! उसकी इस बात पर मैं इसलिए विश्वास करता हूँ कि वह उन आदमियों में से है जो भले घर की बहू-बेटियों का सतीत्व नष्ट करने की बात पर गर्व अनुभव करते हैं और अक्सर झूठ-मूठ कह देते हैं कि उन्होंने अमुक-अमुक लड़कियों का सतीत्व नष्ट किया है। पर इस विशेष लड़की के सम्बन्ध में गि० जब बातें करता है तो उसके चेहरे से वास्तविक श्रद्धा टपकने लगती है। वैसे सच-झूठ की राम जाने; क्योंकि मैंने न तो लड़की को कभी देखा है, न गि० को छोड़कर किसी दूसरे के मुँह से उसके सम्बन्ध में कुछ सुना है।

गि० की इस प्रेम-कहानी का विस्तृत वर्णन मैंने इसलिए किया है कि उसे सुनकर मेरे हृदय के तलप्रदेश में बहुत दिनों से सोयी हुई भावनाएँ बड़ी बेचैनी के साथ जाग पड़ने का भय दिखाने लगी हैं। प्रेम की जिस हवाई कल्पना की रङ्गीनी में मैं प्रथम यौवन के वासन्ती वातावरण में वर्णनातीत उल्लास से विचरा करता था, परवर्ती जीवन में अत्यन्त जटिल और-कठिन परिस्थितियों के फेर में पड़ने के कारण उसे एकदम मिथ्या, अवास्तविक और महत्त्वहीन समझने लगा था, और अभी तक ऐसा ही समझता आया हूँ। पर गि० की कहानी ने चित्त में फिर एक बार हवाई

लोक की आर्द्र चञ्चलता-सी छा दी है; यद्यपि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे हृदय की यह चञ्चलता क्षणिक है। कुछ क्षण के लिए भले ही अपने मन को भुलावा दे दूँ, पर मैं निश्चित रूप से यह जानता हूँ कि स्निग्ध स्नेह की भीनी-भीनी सुगन्धि से महकती हुई, कोमल करुणारस से भीगी हुई भावुकता जिस तरुणी के हृदय में भरी हो, उसका प्रेम अब मुझे किसी प्रकार भी आकर्षित न कर सकेगा। मुझ-जैसे दिलजले को चाहिए कठिन ज्ञान की दुर्धर्ष गर्जना से हुङ्कारती हुई बाघिनी, कठोर वैज्ञानिक वास्तविकता से फुफकारती हुई नागन। मुझे काव्य-जगत् की परी नहीं, intellectual fury—बुद्धि-जगत् की डायन चाहिए। केवल ऐसी ही स्त्री मेरी वर्तमान मानसिक अवस्था को समझ कर, मेरे दुर्विग्ध मनोराज्य को निर्मम निष्ठुरता से पैरों-तले रौंदकर मुझमें चैतन्य ला सकती है।

गि० कई बार मुझसे इस बात की शिकायत कर चुका है कि केवल रुपया न होने से उसके स्वर्गीय प्रेममय जीवन का स्वप्न निष्फल गया, ऐसी तुच्छ पार्थिव वस्तु के अभाव के कारण प्रेम का ऐसा पवित्र बन्धन सदा के लिए छिन्न-भिन्न हो गया। उसे क्या खबर कि इसी तुच्छ, हीन कारण से मेरे जीवन की सारी मानसिक क्रिया ही उलट गयी है; सारी आन्तरिक भावधारा—सारी psychology—ही मूलतः बदल गयी है! रुपये की महिमा सब युगों में स्वीकार की गयी है, पर इस युग में उसकी शक्ति अल्लाह मियाँ से भी कितनी अधिक बढ़ गयी है, यह देखकर आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। रुपया! रुपया! हाय रुपया! सर्वत्र यही हाहाकार, चारो ओर यही विदीर्ण क्रन्दन सुनायी देता है! इस चौम्बक शक्ति के बिना एक पग आगे बढ़ना दुश्वार है, नेता बनने की बात तो दूर रही। मानव-समाज से शिक्षा लेनी है तो रुपया चाहिए, शिक्षा देनी है तो भी रुपये की ही जरूरत है। एक भी नेता मेरी नजर में ऐसा नहीं आता जो अपनी निर्धनता की दशा में केवल अपनी बुद्धि के बल पर जनता पर अपने नेतृत्व की धाक जमाने में समर्थ हुआ हो!

* * * *

आज सुबह से कुछ नहीं खाया है। दिन-भर दफ़्तर में कलम घिसकर डेरे पर आया हूँ। भूख लगी है। स्टोव रखा है। पर चाय की पत्तियों और थोड़ी-सी चीनी के अतिरिक्त कुछ सामान पास में नहीं है। चीनी में भी सैकड़ों चींटियाँ इस तरह टूट पड़ी हैं, मालूम होता है जैसे इस सृष्टि-जगत् में आनन्द का मूलतत्त्व यदि कहीं है तो वह इन्हीं चींटियों को मिल गया है। इस तरह उसे लूटने में व्यस्त हैं कि यदि उन्हें हटाने की चेष्टा करूं तो मेरी दुर्गति ही कर डालें। सोच रहा हूँ कि चींटी होकर पैदा न हुआ। मरता भी तो किसी को काट कर मरता ! मुझे सृष्टिकर्त्ता ने भस्मासुर पैदा किया है और वह भी इस शाप के साथ कि दूसरे का बाल भी बांका न कर सकूँ और अपने अन्तर की आग से स्वयं दग्ध होता रहूँ !······पर अब अधिक सोचने और लिखने की ताकत नहीं है। भूख की थकान से नींद आ रही है। अब सोता हूँ।

———

एकाकी

गहन विजन में बैठा हूँ मैं
एकाकी विरही विभ्रांत ।

(विजनवती)

दसहरे का समय था । शुक्लजी के यहाँ लखनऊ से दो-चार लड़के छुट्टियो में उनके मेहमान बनकर 'ट्रिप' के लिये आये हुए थे । वे लोग असल में शुक्लजी के नहीं, किंतु उनके लड़के रञ्जन के मेहमान थे । उनमें एक सज्जन प्रोफेसर थे, और एक लड़का मेडिकल कॉलेज से भी आया हुआ था । उस दिन रात को खाना खाकर वे लोग बाहर टहलने के लिए निकल पड़े ।

प्रोफेसर साहब की नियुक्ति इसी साल हुई थी । वह लड़को के प्रायः समवयसी जान पड़ते थे । बड़े हँसमुख तथा रसिक व्यक्ति थे । उनकी नाना प्रकार की रसिकतापूर्ण बातें सुनते-सुनते लड़के चले जाते थे । चाँदनी रात थी । सर्वत्र एक अपूर्व, स्निग्ध शांति व्याप्त थी । टहलते-टहलते वे लोग रेलवे लाइन की बाईं ओर एक सुविस्तृत मैदान में आ पहुँचे । इस निर्जन, दिगंतप्रसारित, समतल भूमि में आकर वे सब एक स्थान पर बैठ गये । अष्टमी का निर्मल चन्द्र सिर के ऊपर से, अपनी शीतल किरणों के विकीरण से, सर्वांग अभिषिक्त कर रहा था । विजनता का जो एक निजी निराला रूप है, वह निर्लज्ज नग्नावस्था में उन लोगों की आँखो के सामने झलकने लगा । कुछ देर तक सभी इस शांत, नीरव तथा स्तब्धच्छवि से बरबस आच्छन्न होकर, जड़ भाव से मौन होकर बैठे रहे । ऐसा मालूम देता था कि वे सब ध्यानमग्न होकर अनंत के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रदान करने के लिए संभ्रम का भाव प्रदर्शित कर रहे हैं ।

अचानक प्रोफेसर साहब ने इस अखंड नीरवता को भंग करके कहा—

"निर्जनता के भीतर स्निग्ध प्रीति का भाव भी छिपा हुआ है, और दिल दहलानेवाली भीति भी वर्तमान है। शून्य की विभीषिका तथा पूर्ण का सहज आनंद उसमें परस्पर जड़ित हैं। मैंने अपने एक मित्र के मुँह से एक निर्जनप्रिय व्यक्ति का जो वृत्तांत सुना है, उसे आज आप लोगों को सुनाना चाहता हूँ। किस्सा दिलचस्प भी है। आप लोगों में से कई तत्त्वार्थी उसमें से कुछ तत्त्व भी खोजकर निकाल सकते हैं। इलाहाबाद के अमुक रोड में जो लेडी डॉक्टर रहती हैं, उन्हें तो आप लोग सब जानते हैं न ?"

डॉक्टरनी साहबा के गिद्ध के समान मोटे, फूले हुए शरीर तथा मिट्टी के रङ्ग के समान धूसरित मुखमण्डल से कटरे के प्रायः सभी लोग परिचित थे। ये सब लड़के पहले इलाहाबाद ही में पढ़ते थे, इस कारण वे भी उन्हें जानते थे। डॉक्टरनी साहबा अपने दो छोटे-छोटे लड़कों तथा एक छोटी-सी लड़की को लेकर एक पीले रङ्ग से रँगे हुए फिटन पर सवार होकर अकसर सैर करती हुई दिखलाई देती थीं।

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"शायद आप लोगों को मालूम नहीं होगा कि वह दो साल से विधवा हैं। उनके पति का नाम गिरिजाशंकर गुप्त था। वह एक बड़े जमींदार थे। उन्हीं का किस्सा मैं आज आप लोगों को सुनाऊँगा। मित्र से जैसा कुछ मैंने सुना है, और जिस प्रकार मैं उसे समझने में समर्थ हुआ हूँ, उसी प्रकार आप लोगों के सामने व्यक्त करूँगा। मेरे मित्र ने यह किस्सा गुप्तजी के किसी अंतरंग मित्र से मालूम किया है।

"बचपन से ही गुप्तजी का झुकाव आध्यात्मिक बातों की ओर था। जीवन की वास्तविकता से वह बहुत डरते थे। कहीं कोई वास्तविक घटना उनके मर्म को स्पर्श न कर ले, इस खयाल से वह प्रतिक्षण अपने को स्वप्नों के सुदृढ़ मायाजाल से आवरित रखते। उनका विश्वास राथ्सचाइल्ड, कार्नेगी, राकफेलर, फोर्ड आदि धन-कुबेरों के प्रचंड अध्यवसाय की अपेक्षा अलिफ-लैला के जादू के चिराग में अधिक था। डाकुओं के हमलों से भौतिक उपद्रवों में उनकी अधिक आस्था थी। जब वह कभी किसी निर्जन स्थान में जाते, तो उन्हें पूरा विश्वास हो जाता था कि यहाँ अवश्य ही कुछ

रहस्य छिपा हुआ है। भौतिक उपन्यासों तथा तिलिस्मी कहानियों के प्रति उनकी बड़ी रुचि थी। नित्य जंगल की तरफ जाकर वह इसी खोज में रहते थे कि कहीं कोई जादू का घर तो पड़ा नहीं है, जहां मायावती अलबेली परियाँ संसार की आँखें बचाकर इस दृश्य संसार के भीतर ही अलग किसी अदृश्य जगत् में निष्कलुष, चिंताहीन, रागरंगपूर्ण, चिर-यौवनमय जीवन बिता रही होंगी। उनके मन में यह उत्कट लालसा वर्तमान रहती थी कि कोई 'जिन' आकर उनकी आँखों में जादू का सुरमा लगाकर इसी प्रकार का एक अनंत आनंदमय राज्य आँखों के सामने झलका देता, तो वह वहाँ प्रवेश करके वास्तविक जीवन की तुच्छता से मुक्ति पाते। मुसलमान फकीरों को देखते ही उनकी इच्छा यह विश्वास करने की होती कि वह दमिश्क या इस्तंबोल की अलबेली शाहजादियों तथा परीजादियों के सुगंधित, मधुमय आलिंगनों का रस लूटने के बाद, किसी अलौकिक हाथों के चक्र से निपीड़ित होकर भटकते फिरते हैं। बाबा लोगों के अखाड़ों में धूनी रमी देखकर उन्हें शकुंतला के तपोवन की याद आती थी।

"सोलह वर्ष की अवस्था तक उनका यहीं हाल रहा। इसके बाद अचानक एक साल के अंदर ही उनके दो बड़े भाइयों तथा एक छोटी बहन की मृत्यु हो गयी। एक भयंकर भीति की विभीषिका से उनका दिल दहल उठा। इस विभीषिका से त्राण पाने के लिए वह इतनी छोटी अवस्था में ही 'दर्शन' के जटिल ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। सांख्य और वेदांत, इन दोनों दर्शनों का उन्होंने अच्छी तरह से अध्ययन किया। गीता, उपनिषत्, योगवासिष्ठ आदि सभी ग्रंथों को वह उत्कट रुचि के साथ स्वाहा करने लगे। सांख्य का त्रिविध दुःखों की आत्यंतिक निवृत्तिवाला प्रस्ताव उन्हें बहुत पसंद आया। योगवासिष्ठ के उपशम-प्रकरण में नैराश्य का मंत्र उनके मन में माया फूंकने लगा। बुद्धदेव का दुःखवाद उनको सर्वोत्तम जंचा। वह समस्त सृष्टि के चक्र में सर्वत्र दुःख की ही छाया देखने लगे। उनको दृढ़ विश्वास हो गया कि जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को लेकर विधाता ने सृष्टि रची है, उनमें दुःख का तत्त्व ही सर्वप्रधान है। ईथर (Ether) से भी

सूक्ष्मतर इस दुःख-तत्त्व से ही नीहारिका अभिव्यक्त होती है. और तब इसके बाद सूर्य, ग्रह, उपग्रह आविर्भूत होते हैं। यह सिद्धात उनके मन मे प्रतिष्ठित हो गया। इस दुःख की माया को आत्मा से निराकृत करना चाहिए, यह धारणा उनके चित्त में बद्धमूल हो गई। 'असंगोऽयं पुरुषः।' दुःखोद्भूत प्रकृति के संसर्ग से बिलकुल अलग रहकर आत्मानंद में रमना चाहिए। पर यह आत्मानद अवश्य ही गुप्तजी की निजी धारणा के अनुसार था।

"धीरे-धीरे एक निर्विकार नैराश्य का भाव उनके चित्त में घनीभूत हो गया। इसका फल यह हुआ कि वह दुःख सहने के आदी हो गये, और किसी भी दुःखपूर्ण घटना का असर उनके हृदय में होना असम्भव-सा हो गया। ऐसी स्थिति में किसी के प्रति समवेदना प्रकट करना कब सम्भव था? अंगरेजी में जिसे 'सिनिक' कहते हैं, गुप्त जी वही बन गये। जब कोई उनसे कहता—'आज फलाँ आदमी मर गया है', तो वह तुरन्त उत्तर देते—'अरे भाई, लाखो आदमी रोज-रोज मरते जाते हैं, किस-किस के लिये रोया जाय! हम सब मरने के लिए ही तो आये हैं!' जब उनके कॉलेज का कोई सहपाठी कहता –'आज फलाँ लड़के की घड़ी खराब हो गई है, चलती नहीं', तो वह कहते—'अरे भैया, देखते नहीं, हर घड़ी दुनिया में लाखो आदमियों के शरीरो की घड़ियो के पुर्जे खराब होते जाते हैं, और एक बार खराब हो कर फिर अन्त तक वे घड़ियाँ चलती ही नहीं! इस तुच्छ घड़ी के लिए क्या अफसोस करते हो? इसे तो मामूली घड़ी-साज ठीक कर सकता है।' जब उनके कानो में यह खबर पहुँचती कि किसी लड़के की कोई चीज खो गई है, तो वह झट अपना मंतव्य प्रकट कर बैठते—'आदमी ऐसा अन्धा है कि वह देखकर भी नहीं देखना चाहता कि विकट मोह के कारण असंख्य प्रलोभनो में फंसता हुआ उसका मन ही पल-पल में खोया जा रहा है। एक बार हाथ में आते ही तुरन्त फिसल कर फिर-फिर न मालूम कहाँ खोया जाता है, इसका पता भी उसे नहीं चलता। तुच्छ चीजो के खोये जाने से वह इतना रोता है, पर मूल चैतन्य का विलुप्त होना उसे मालूम नहीं होता!' इसी प्रकार के हास्य, व्यंग्य, नैराश्य तथा उदासीनता-मिश्रित

दार्शनिक वाक्य बात-बात पर उनके मुँह से सुनाई देते थे।

"कॉलेज की पढ़ाई अभी समाप्त नहीं हुई थी कि उनकी माता चल बसी। दैव का कोप ऐसी बुरी तरह उनके ऊपर सवार हो गया था कि माता की मृत्यु के दो साल बाद उनके पिता भी स्वर्गवासी हो गये। संसार में एक प्राणी भी उनका अपना कहने को शेष नहीं रहा। विधाता ने उनकी बहुत काल की वासना को सफलीभूत करने के लिए ही जैसे यह चक्र रचा था। वह अपने मामा के हाथ में जमीदारी का भार सौंपकर देश-त्यागी हो गये। तीन-चार साल तक हरिद्वार और वृन्दावन में बाबा लोगो के अखाड़ो में अड्डा जमाते रहे। गाँजा फूँकना भी सीख गये। भटकते-भटकते विंध्यवासिनी मे आये। वहाँ की पहाड़ी में एक झरने के पास, किसी निर्जन स्थान मे, कोई बाबाजी एक छोटी कुटी में धूनी रमाकर मस्त भाव से रहा करते थे। एक साल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करके उनकी सेवा में रत रहे। कही कोई अज्ञात तत्त्व किसी निर्जन स्थान में हवा के भीतर बहता हुआ मिल जाय, यह अस्पष्ट आकाङ्क्षा बचपन से अब तक उनके अंतस्तल में वर्तमान थी। अपनी आकांक्षा की असंगति पर कभी पल-भर के लिए भी उनके चित्त मे संदेह नहीं होता था।"

प्रोफेसर साहब की सिगरेट बहुत देर तक उँगलियो में ही दबी रहने के कारण बुझ गई थी। उन्होने रुककर सिगरेट जलाई और दो-एक लम्बी कशें लेकर फिर अपना किस्सा शुरू किया—

"विंध्यवासिनी में भी उनका जी नहीं लगा। वह मिर्जापुर-जिले के इर्द-गिर्द के जंगलो की खाक छानने लगे। बहुत खोज के बाद अन्त को उन्हें उनकी रुचि के अनुसार एक स्थान दिखाई दिया। किसी एक गाँव की बस्ती से बहुत दूर पर एक जगल था। उस जंगल के उस पार विस्तीर्ण चौरस भूमि का सुदीर्घ विस्तार दिगत तक प्रसारित हो चला था। सारी जमीन वीरान पड़ी हुई थी। बहुत सम्भव है, सैकड़ो बरस पहले यह जमीन गोचारण के लिये छोड़ दी गई थी। तब से किसी को इसमें खेती करने का साहस नहीं हुआ। पश्चिम की सीमा में महारण्य घेरा बाँधे हुए था।

उत्तर की तरफ एक छोटा नाला गंगा के गर्भ में विलीन होने के लिये मंद गति से प्रवाहित हो चला था। पूर्व की ओर बहुत दूर तक एक कब्रिस्तान पड़ा था। गुप्तजी ने कब्रों के ऊपर खुदे हुए अंक देखे, तो ५५ से ५७ सन् तक की तारीखें पड़ी थीं। कब्रिस्तान से कुछ दूर पर लम्बे-चौड़े, बहुत पुराने बँगलों के खँडहर दिखलाई दिये। बहुत सम्भव है, उनमें गदर के साल से पहले लार्ड डलहौसी के जमाने में अँगरेजी रेजीमेंट के अफसर लोग रहा करते थे। खंडहरों के बीच में हाल के आकार का एक सुविशाल कक्ष दिखलाई दिया। इसमें अङ्गरेज युवक-युवतियों का नाच-गाना होता होगा। दो फर्लांग आगे बढ़कर उन्होंने देखा, एक अव्यवहृत रेलवे-लाइन वक्र गति से बहुत दूर तक चली गयी है। लार्ड डलहौसी के जमाने में जब पहले पहल भारत में रेल चलाई गयी थी, संभवतः यह लाइन तभी स्थापित हुई थी। पर पीछे यह पथ उपयुक्त न समझा जाकर इसका व्यवहार बन्द हो गया। साठ साल पहले के जीवन की हवा मृत्यु के इस शून्य गह्वर में व्यर्थ गर्जन से क्षुब्ध हो रही थी। प्रेतलोक की अपूर्व माया से गुप्तजी का सारा शरीर अवश हो आया। वह स्थान अपने चौंबक बल से उन्हें जकड़ने लगा।

"उन्होंने उन बारिकों के खण्डहरों में एक कोना अपने लिए पकड़ लिया। वहाँ से ढाई कोस दक्षिण की ओर बस्ती थी। नित्य एक बार थोड़ी देर के लिए वहाँ जाकर रूखा-सूखा टुकड़ा जो कुछ भी प्राप्त होता था, उससे पेट-पूजा करके उसी प्राणिलेश-शून्य सुविस्तृत प्रांत में आकर नाना प्रकार के अस्पष्ट, भयावह, अज्ञात तथा अज्ञेय तत्त्वों की चिन्ता में मस्त रहते। बस्ती में जब किसी बाबा के अड्डे का पता मिल जाता, तो वहीं जाकर फलानि, मूलानि, परान्नानि भक्षण कर के गाँजानि, सुलफानि को भी स्वाहा कर आते। वापस आकर दिन को कभी गंगा के किनारे-किनारे दूर तक चलकर एक महा-श्मशान के पास आसन मारकर बैठ जाते। कभी जब वह किसी कब्र के ऊपर बैठते थे, तब एक अज्ञात हर्ष से उनका सारा शरीर कंटकित हो जाता था। इस हर्ष का कारण उन्हें कुछ भी मालूम नहीं था। पर जब एक बार उन्होंने उसका स्वाद पा लिया, तो

उसका त्याग करना कठिन हो गया। गरमी के दिनों में रात को भी वह किसी कब्र के ऊपर लम्बे होकर लेट जाते और वहीं सो रहते थे। स्तब्ध विजन का राज्य प्राप्त करके रॉबिंसन क्रूसो को वास्तव में कितना आनन्द प्राप्त हुआ था, यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती। पर गुप्तजी को इस निर्जन निर्वास से अभिनव आनन्द प्राप्त होता था, यह सुनिश्चित है। कोलंबस ने अवश्य एक सुवृहत् भूखंड का आविष्कार किया था; पर गुप्तजी अपनी अतृप्त आत्मा के लिए जिस नये साम्राज्य का आविष्कार कर के उसके एकाधिपति बन बैठे थे, वह, प्रत्यक्ष में बहुत बड़ा न होने पर भी, अदृश्य में अनन्त शून्य तक प्रसारित था।

"यह विजन प्रांत प्रतिक्षण अपनी भयावह शून्यता से भाँय-भाँय करता था। मृत्यु-लोक में प्राप्त इस मुक्त जीवन से वह धीरे-धीरे इतने मुग्ध हो गये कि बस्ती में जाकर वहाँ के गृहों का बद्ध जीवन देखते ही उनका जी मचल उठता था। मकान के भीतर मनुष्य कैसे रह सकता है, यह बात उन्हें आज बड़ी आश्चर्यजनक मालूम होने लगी। पानी से बचने के लिए छत के नीचे विवशता के कारण रहना ही पड़ता है, फिर भी कोई व्यक्ति दरवाजा बन्द करके कैसे रह सकता है, यह बात सोचकर उन्हें कम आश्चर्य नहीं होता था। अब जब वह अपने सम्बन्ध में किसी घर के भीतर बंद होकर रात बिताने की कल्पना करते, तो आतंक से काँप उठते।"

यहाँ पर जो लड़का मेडिकल कॉलेज से आया हुआ था, वह बोल उठा—"यह क्लास्ट्रोफोबिया का केस मालूम देता है। 'सिमटम' साफ झलकते हैं।"

प्रोफेसर साहब ने मुस्करा कर कहा—"देखिये डॉक्टर साहब, माफ कीजिये, अभी आप लड़के ही हैं। अभी आपको इस लाइन में तजुर्बा हासिल नहीं हुआ। और, तजुर्बा होने पर भी मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में एकदम मे कोई राय नहीं दी जा सकती। यहाँ पर क्लास्ट्रोफोबिया के लक्षण झलकते हैं, सन्देह नहीं, पर जिस महारोग से हमारा मरीज पीड़ित है, क्लास्ट्रोफोबिया स्वयं उसके अनेक लक्षणों में से एक साधारण लक्षण-

मात्र है। खैर, मैं कह रहा था कि बद्ध जीवन की विभीषिका उनके हृदय में प्रतिष्ठित हो गयी। चाँदनी रात में मुक्ति का अधिक आनन्द लूटने की आशा से वह फूले नहीं समाते थे। प्रायः वह आधी रात तक इधर-उधर टहलते फिरते। कभी श्मशान के पास जाते, कभी दूर जंगलों के भीतर से होकर भटकने में आनन्द पाते। चन्द्रमा को देखकर उन्हें इसलिए आनन्द प्राप्त न होता कि वह अपनी शीतल किरणों से सुधा-धारा वर्षित कर रहा है, बल्कि इस खयाल से कि किसी जमाने में वह भी हमारी इस शस्य-श्यामला धरणी के समान अन्न-जल-मय और प्राणियों से पूर्ण था; पर अब शुष्क, नीरस निर्जीव होकर निर्वाण-गति को प्राप्त हो गया है। वह अपनी आत्मा को भी शून्य में निर्वापित और विनष्ट कर देना चाहते थे, जिससे फिर कभी इस भस्मीभूत होनेवाली देह के पुरागमन की नौबत ही न पहुँचे।

"जिस श्मशान में वह कभी-कभी सैर के लिए चले जाते थे, वहाँ भैरव का एक मंदिर था। उस मंदिर के भीतर एक बाबा रहते थे। वह अकसर बाबाजी के दर्शनाभिलाषी होकर उस मंदिर में जाया करते थे। बाबा धूनी रमाकर, धूनी के पास ही राख का एक ढेर बिछाकर, उस पर आसन जमाए रहते थे, और उसी में सोया भी करते थे। बाबा की इस कठोर साधना पर वह मुग्ध हो गये। बाबा के साथ बहस करने में उन्हें बड़ा आनंद प्राप्त होता था। बाबा ने उन्हें माया-प्रपंच विस्तार-पूर्वक समझा दिया।

"एक दिन बाबा बड़े सुस्त जान पड़े। कारण पूछा, तो मालूम हुआ वह दो दिन से भूखे हैं। कोई दानी पुरुष चार आलू दे गया था। बस, उन्हें गरम राख से भूनकर खाने का विचार था। गुप्तजी से उन्होंने कहा—'बेटा, आज कुछ खिलाओ।' यह प्रश्न विकट था। गुप्तजी से कुछ उत्तर देते न बन पड़ा। बाबा ने कहा—'पैसे मैं देता हूँ, तुम शहर में जाकर एक पात्र में कुछ मद्य और एक टुकड़ा बकरे का मांस ले आओ। इस वक्त जाओ, तो शाम तक लौट आ सकते हो।'

"गुप्तजी चौंके। एक तो शहर बहुत दूर था। पर इसकी भी उतनी

परवा वहीं थी। मद्य और मांस के बिना बाबा की क्षुधा शांत नहीं होती, यह सोचकर उनके संस्कार में आघात पहुँचा। भूख के कारण बाबा की स्वाभाविक रुक्ष मूर्ति आज अधिक उग्र बनी थी। आँखों से हिंस्र जंतु की तरह चिनगारियाँ निकली पड़ती थीं। गुप्तजी ने पूछा—'क्यो बाबाजी, मद्य-मांस का भोग लगाना क्या जरूरी है? किसी दूसरी चीज से क्या आपका पेट नहीं भर सकता?' बाबा ने कहा— बेटा, इन चीजो के सेवन से चित्त एकाग्र होता है और ध्यान में सहायता मिलती है। इसके सिवा कालभैरव प्रसन्न होते हैं। तुम यह नास्तिक की तरह क्या प्रश्न कर रहे हो! आज बहुत दिनो से मद्य-मांस नहीं मिला, इसलिए जी तड़फड़ा रहा है। जाओ, जल्दी जाकर ले आओ।'

"गुप्तजी इस आदेश की अवज्ञा न कर सके। बाबा ने राख के भीतर से पैसे निकालकर दिये। पैसे लेकर गुप्तजी उठ खड़े हुए। बहुत दूर तक गंगा के किनारे-किनारे चले गये। निस्तब्ध मध्याह्न के समय गंगाजी शांत, निरुद्वेग भाव से बही चली जाती थीं। नाना चिंताओ ने उन्हें आ घेरा। वह सोचने लगे कि मैं कहाँ आया हूँ, क्या कर रहा हूँ, किसकी आज्ञा का पालन करके इस मध्याह्न में मद्य-मांस खरीदने के लिए चला जाता हूँ! मेरे निरुद्देश्य जीवन की गति किस ओर को बही जाती है! इस भीषण निर्जनता का आलिंगन करके शून्य के अतल गर्भ में विलीन होने से किस महागति की प्राप्ति और उच्चाकांक्षा की पूर्ति की दुराशा में निमज्जित हो रहा हूँ! निरतिशय भ्रांति और उत्कट आतंक के कारण उस निस्तब्ध और जनहीन नदी के किनारे उनके रोएँ खड़े हो गये। आज अचानक निर्वास की विभीषिका उग्र रूप लेकर उनके सामने प्रकट हुई। चलते-चलते वह पश्चिम की तरफ मुड़ गए। जंगल के बीच से होकर अस्पष्ट पथ की एक क्षीण रेखा बहुत दूर तक चली गई थी, उसी रास्ते से होकर वह चलने लगे। जंगल इतना भयंकर था कि दिन-दहाड़े भी उन्हें डर मालूम होने लगा। अपनी आकस्मिक भीरुता देखकर उन्हें हँसी भी आती थी, और दुःख भी होता था। कल तक रात को भी भयंकर निर्जन स्थान में एकाकी

सोने में उन्हें भय नहीं होता था। वह सोचने लगे, क्या सभी मनुष्यों का हृदय प्रतिक्षण अनंत निराशा, भयंकर शून्यता और उत्कट अवसाद से ग्रस्त रहता है? कितने लोग गार्हस्थ्य धर्म का पालन करके अपने स्त्री-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता के प्रेम का आनंद लूट रहे होंगे। कितने ही प्रेमिक-प्रेमिकाएँ हृदय के परस्पर आदान प्रदान से एक दूसरे को रिझाकर, उमंग से मन की कली खिलाकर, मधुर प्रेमाभिवादन से पुलकित हो रहे होंगे! कितने ही बालक-बालिकाओं का जीवन निष्कलुष आमोद-प्रमोद में मुक्त प्रवाह से बहा जाता होगा! इतने लोग क्या सब मूर्ख हैं? क्या केवल मैं ही बुद्धिमान हूँ, जो इस निर्जन निर्वास में उत्कट अवसादमय जीवन बिताकर मद्य-मांस-प्रेमी संन्यासी की आज्ञा का पालन करने के लिए इतनी दूर तक चला आया हूँ!

"चलते-चलते वह एक बस्ती के पास आ पहुँचे। किसान लोग खेतों में काम कर रहे थे। हलवाहे हल चला रहे थे। कोई बीज डाल रहा था, कोई बैठ कर तमाखू पी रहा था। कड़ी मेहनत के बाद वे लोग कुछ आराम कर रहे थे। गाएँ और भैंसें कहीं तलैयों में जल-क्रीड़ा कर रही थीं, कहीं कोई किसान उन्हें चरा रहा था। सांसारिक और प्राकृतिक जीवन एक रूप में मिलित होकर शान्त भाव से उनकी आँखों में प्रतिभात होने लगा। यह शान्त छवि देख कर बिना किसी कारण के उनके हृदय में अत्यन्त मधुर विषाद का भाव जागरित होने लगा। जब वह गाँव से होकर जाने लगे, तब उन्होंने देखा कि कहीं औरतें धान कूट रही हैं, कहीं चक्की पीस रही हैं। कहीं लड़के मधुर कलरव से आँगन में खेल रहे हैं। कोई किशोरी बालिका कुएँ से पानी भर रही है। गुप्तजी को ऐसा ज्ञात होने लगा, जैसे वह अभी मृत्युमय लोक से जीवन-लोक में आये हैं, और जीवन का अज्ञात-पूर्व रस पान कर रहे हैं, जैसे इससे पहले कभी उन्होंने जीवन का दृश्य नहीं देखा हो। ऐसे साधारण दृश्य का इतना गहरा प्रभाव उन पर क्यों हुआ, यह सोचकर उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। पर कुछ भी हो, वह अतृप्त हृदय से यह रस पान कर रहे थे।

"जब वह शहर मे पहुँचे, तो दुनिया ही बदल गयी। जनता के कोलाहल के बीच उनके समस्त मधुर विषादमय स्वप्न भग हो गये। उन्हे अब अपने काम की सुध हुई। उन्हें अचानक याद आया कि बाबा के लिए मदिरा-मास खरीदने को वह इतनी दूर चले आये है। सोचकर हँसी भी आयी, और आनद भी हुआ। किससे पूछकर मदिरा की दूकान का पता चलेगा, और कैसे मास की दूकान का संधान मिलेगा, यह सोचकर वह घबरा उठे। पूछने पर लोग क्या कहेगे? उनके लंबे लंबे बाल और दाढी देखकर सोचेंगे कि औघड़ बाबा कहाँ से चले आए! सब उनकी दिल्लगी उड़ावेगे। लड़के उनके पीछे-पीछे चल कर तालियाँ पीटेंगे, और पागल बनाने की चेष्टा करेंगे। क्या करना चाहिए, उन्हें कुछ न सूझ पडा। निरुद्देश्य व्यक्ति की तरह अली-गली मे भटकने लगे। बहुत देर तक इधर-उधर भटकते फिरे। अन्त को एक ऐसी दूकान मे पहुँचे, जहाँ बाहर एक आदमी अर्द्धमूर्च्छितावस्था मे हाथ-पाँव पसार कर चित होकर पड़ा था। उसकी चढ़ी हुई आँखे अत्यन्त भयङ्कर मालूम दे रही थी। बीच-बीच मे उसके सिर हिलाने से यह मालूम देता था कि उसमे चैतन्य वर्तमान है। उसे देखकर उनका सारा शरीर कंटकित हो गया। वह न भीतर घुस सके, और न वापस जा सके।

"थोड़ी देर के बाद एक दूसरा आदमी दूकान से बाहर आया। वह धक्के खाता हुआ गुप्तजी के पास पहुँचा। उन्हें कुछ भय मालूम हुआ। पर वह स्थिर भाव से खड़े रहे। वह आदमी अंड-बंड बकता जाता था और बीच-बीच में ऐसी-ऐसी गंदी बाते मुँह से निकाल रहा था कि दोनो कानो को बन्द करने को जी कर रहा था। उसके चले जाने पर एक तीसरा आदमी बाहर आया। वह व्याकुल होकर रो रहा था। रोता-रोता वह गुप्तजी के पास आया, और गिड़गिड़ाकर उनके पैरो पर पड़ गया। उन्होने अपना पाँव छुड़ाना चाहा। इससे वह और जोर से पाँव पकड़कर धाड़े मार-मारकर रोने लगा, और कहने लगा—'नही बाबा, यह हो नही सकता, आप जूतियो से मुझे ठुकराइए, मेरे मुँह पर थूकिए, मुझसे तौबा कराइए,

तब मैं आपको छोड़ूँगा। नहीं तो हरगिज नहीं।' वह रोता जाता था, और बीच-बीच में 'हाय राम! हाय राम!' कहके चिल्लाता जाता था। गुप्तजी के लिए अपना पिंड छुड़ाना कठिन हो गया। वह फिर-फिर कहता था—'नहीं, जब तक आप मेरे सिर पर जूतियाँ मारकर, मेरे मुँह पर थूककर, मुझ से तौबा नहीं करावेंगे, तब तक हरगिज नहीं।'

"लाचार होकर उन्होंने पूछा—'क्यों? तुम अपने को क्यों जूतियों से पिटवाना चाहते हो?' शराबी ने कहा—'क्यों नहीं? रोज की तरह आज भी मैंने अपनी घरवाली से वादा किया था कि आज से कभी नहीं पियूँगा, पर फिर—जानते हैं आप? मैं रात को रोज उसे पीटता हूँ। वह रोती है, और नीचे जाकर छिप जाती है। नशा उतरने पर उससे माफी माँगता हूँ। आज भी उसे मारने के लिए हाथ खुजला रहे हैं। बिना मारे चैन नहीं मिलता; पर फिर पछताता हूँ। बतलाइये, कैसा मजा है! आज आपके दर्शन हुए हैं, अब नहीं छोड़ने का!' यह कहकर वह फिर अत्यंत दीनता से रोने लगा।

"उत्कट घृणा तथा अदम्य करुणा ने एक साथ गुप्तजी के हृदय पर अधिकार किया। उसे समझा-बुझाकर, दिलासा देकर बड़ी मुश्किल से उन्होंने अपना पिंड छुड़ाया, और लौट चले।

"निर्विकार तथा उदासीन भाव से वह चले जाते थे। जब शहर की सीमा पर पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि एक युवक कुछ स्त्रियों और बाल-बच्चों के साथ सैर करता हुआ चला जाता है। युवक के चेहरे पर अपूर्व उल्लास की झलक वर्तमान थी। किसी स्त्री के साथ वह परिहास करता था, किसी के प्रति स्नेह का भाव प्रकट कर रहा था, किसी के प्रति श्रद्धा प्रकट कर रहा था। बालक और बालिकाएँ अपनी सुमधुर किलकारियों से उस निर्जन प्रांत को मुखरित कर रही थीं, युवतियाँ नव-यौवन के उमंग से सुललित विलास व्यंजित कर रही थीं, और प्रौढ़ा स्त्रियाँ सरस तथा स्निग्ध गांभीर्य का भाव झलका रही थीं। जो उत्कट दृश्य देखकर गुप्तजी लौट चले थे, यह दृश्य उसके बिलकुल विपरीत था। क्षण भर के लिए उनका

समस्त जीवनव्यापी विषाद एक अभिनव माया-मंत्र से तिरोहित हो चला। स्नेह, प्रेम, आनंद, उमंग और उल्लास के नये-नये भावों ने उनके हृदय के तारों को झनझनाना आरंभ कर दिया। वह सोचने लगे, यदि इसी प्रकार स्निग्ध सरसता में उनका जीवन भी व्यतीत होता! हाय, इस जीवन और उनके जीवन के बीच कितना सुदीर्घ और भीषण व्यवधान है!

"वह चले जाते थे। अँधेरा होने लग गया था। अभी उन्हें बहुत दूर जाना था। पर उस श्मशानवासी संन्यासी को वह क्या उत्तर देंगे! कितनी उद्दाम आशा से वह प्रतीक्षा कर रहा होगा? क्षुधार्त व्याघ्र की तरह मांस के टुकड़े की लालसा से उसके मुँह से बार-बार लार टपकी पड़ती होगी। जब वह उन्हें रिक्तहस्त आता देखेगा, तब उसकी क्या गति होगी? कैसा भयंकर, उग्र तथा रुद्र रूप प्रकट करके वह अपनी आँखों से आग के शोले बाहर निकालेगा! इस बात की कल्पना करते ही वह इस निर्जन अंधकार में आतंक से काँप उठे। उन्हें आश्चर्य होने लगा कि आज तक कैसे वह इस उद्दंड साधु के साथ 'मित्रता' निभाते आए हैं।

"अँधेरा जितना बढ़ता जाता था, उनका भय भी उसी परिमाण में बढ़ रहा था। आज यह अनोखी बात थी। इतने वर्ष वह अकेले निर्जन में रहे, कभी एक क्षण के लिए भी भय का विचार उनके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ। पर आज जब वह आनंदमय संसार की हवा अपने साथ ले चले, तो भय भी अपनी उग्रता प्रकट करने लगा। जब वह किसी गहन वन के भीतर से होकर जाते थे, तो जरा-जरा-सी आवाज से घबरा उठते कि कहीं कोई जंगली जानवर उन पर टूट न पड़े। अपने प्राणों के प्रति इतने मोह का अनुभव इससे पहले उन्हें कभी नहीं हुआ था। कलेजा थामकर वह चलते रहे। हृदय की धड़कन तीव्र गति से चल रही थी।

"उस दिन से उनको ऐसा मालूम देने लगा जैसे निर्जनता अपनी असीमता से प्रतिक्षण उनकी आत्मा को चाट-चाटकर शोषित करने में लगी है। जब तक वह उसके अणु-परमाणु को शून्य में न बिखेर देगी, तब तक

उसे चैन नहीं मिलेगा। वह सोचने लगे कि इस प्रकार के निर्वाण तत्त्व में लय होने में मजा क्या है ? निर्जनता की विभीषिका अब उन्हें अपना तांडव नृत्य दिखाने लगी। संध्या के समय कब्रिस्तान की हवा प्रेतलोक के रहस्य की वार्ता वहन करती हुई उनके खून को बर्फ के मानिंद ठंडा बना देती थी। चारों तरफ से खुले हुए जीर्णतम बारिकों के खँडहरों में पहले वह खूब मजे से सोते थे। अब वह एक ऐसे स्थान का संधान करने लगे, जो चारो तरफ से बिलकुल बंद हो। बद्ध जीवन के संयत आनंद की कल्पना से अब उन्हें हर्ष के कारण रोमांच हो आने लगा।"

यहाँ पर मेडिकल कॉलेज का डॉक्टर लड़का बिना अपनी राय दिए न रह सका। झट बोल उठा—"एगारोफोबिया के लक्षण हैं।"

प्रोफेसर साहब ठट्ठा मारकर हँस पड़े –"देखिए, फिर वही बात ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गुप्तजी का रोग अत्यन्त जटिल और रहस्यपूर्ण है। यह रोग उनकी आत्मा की जड़ में पैठा हुआ था। डॉक्टरी की किसी भी किताब से इसकी असलियत मालूम नहीं की जा सकती।"

नवीन डॉक्टर साहब उनकी बात काटकर फिर कुछ कहना चाहते थे; पर अन्य सज्जनों ने अधीरता प्रकट करके कहा—"प्रोफेसर साहब, आप अपनी कहानी सुनाइये। ये बातें पीछे होती रहेंगी।" उन्होने फिर कहानी चलायी—

"गुप्तजी को अपने आप पर आश्चर्य होने लगा। वह सोचने लगे कि वह कितनी आसानी से गार्हस्थ्य जीवन का रस ले सकते थे ! अच्छी-से-अच्छी स्त्री उन्हें चेष्टा करने पर प्राप्त हो सकती थी। बंधु-बांधव और नौकर-चाकरो से उनका घर भरा-पुरा हो सकता था। किसी बात की तकलीफ उन्हें कभी न उठानी पड़ती। पर न जाने किस माया के रहस्यमय प्रकोप के कारण उन्हें निर्जन-वास की सूझी ! उससे क्या फायदा हुआ ? केवल अनंत शून्य की विभीषिका का अनुभव हुआ। व्यर्थ ! व्यर्थ ! समस्त जीवन उनका व्यर्थता के गहन गर्त में विलीन होने को है।

"धीरे-धीरे निर्जन-वास उनके लिए असहनीय हो चला। उनका हृदय

फिर से एक बार जीवन के बंधन में जकड़े जाने के लिए उत्सुक हो उठा। निर्वाण की मुक्ति उन्हें नीरस जान पड़ी। अंत को एक दिन वह घर लौट चले।"

प्रोफेसर साहब ने एक दूसरी सिगरेट निकालकर जलायी। श्रोतागण कहानी का अंत सुनने के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर स्तब्ध भाव से बैठे थे। युनिवर्सिटी की घड़ी में बारह का घंटा बजा। प्रोफेसर साहब ने कहा—"देर हो गयी है। अब लौट चलना चाहिए।"

एक महाशय ने अधीर होकर कहा—"क्यो साहब, क्या कहानी खतम हो गयी?"

प्रोफेसर साहब उनकी अधीरता पर हँस पड़े। बोले—"आप घबराते काहे को हैं? चलिये, चलते-चलते खतम कर लेंगे।"

सब लोग उठ खड़े हुए। चलते-चलते प्रोफेसर साहब किस्सा सुनाने लगे—

"घर लौटकर जब गुप्तजी ने जमीदारी का कारबार अपने हाथ में ले लिया, तो वह उसमें बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। खुद खेतों मे जाकर वह किसानो का काम देखने लगे। किसानो के जीवन के प्रति उनके हृदय में अत्यन्त सहानुभूति उत्पन्न हो गई। अपने पारिवारिक जीवन-सम्बन्धी बातो में भी उन्हें विशेष रस प्राप्त होने लगा। पर एक अज्ञात तृष्णा प्रतिपल उनका मर्म शोषित करने मे लगी थी। अपनी अतृप्त आकांक्षा की तुष्टि वह किसी प्रकार भी करने में समर्थ नही थे। वैवाहिक जीवन की लालसा उन्हें प्रतिपल प्रबल वेग से आकर्षित करती थी। पर संसार के कठोर अनुभव से हीन ग्यारह-बारह वर्ष की किसी अज्ञात बालिका के साथ विवाह करना उनकी स्थिति वाले व्यक्ति के लिए असंभव था। उन्हें ऐसी स्त्री की आवश्यकता थी, जिसे संसार के कठिन चक्र के सुख-दुःख का पूरा अनुभव हो चुका हो, और जो उनकी प्रकृति समझकर पूर्णतया उनकी जीवन-संगिनी बनने में समर्थ हो। ऐसी स्त्री देहात में क्या, शहर में भी मिलनी कठिन

थी। इष्ट-मित्रों के बहुत खोज करने के बाद एक ऐसी स्त्री का पता चला, जो पूर्ण युवती थी और जो हाल ही में आगरे से डॉक्टरी पास कर चुकी थी। मित्रों के अत्यन्त परिश्रम के बाद इस युवती स्त्री के साथ उनकी सगाई हो गयी। युवती के पिता आर्यसमाजी थे। उनकी सांसारिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बड़ी कठिनता से वह लड़की को डॉक्टरी पढ़ाने में समर्थ हुए थे। एक धनी और सुयोग्य वर के प्राप्त होने पर उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। ख़ूब धूम-धाम से दोनों का विवाह हो गया। गाँव में बड़ी हलचल मची। चारों तरफ़ से आवाजें सुनाई देने लगीं कि जब मालिक ही समाजी हो गये, तो धरम करम अपने आप भाड़ में गया! इस घोर अनाचार में कैसे इस गाँव में रहा जायगा! अब तो मौत होने से ही छुटकारा है। इत्यादि-इत्यादि।

"गुप्तजी रात-दिन इस प्रकार की बातें सुनकर तंग आ गये, और इलाहाबाद चले आये। एक नयी उमंग से वह जीवन बिताने की चेष्टा करने लगे। इसमें संदेह नहीं कि उनकी स्त्री मायादेवी सुंदरी तथा सुशिक्षिता थीं। पर न-जाने क्यों, उनके आचार-व्यवहार तथा बोल-चाल से ऐसा संकीर्ण भाव टपकता था, जो गुप्तजी को बिलकुल नहीं भाता था। वह अपनी स्त्री के रूप तथा शिक्षा के कायल होकर अपने को प्रसन्न तथा संतुष्ट रखने की चेष्टा करने लगे, पर उनकी प्रकृति देखकर उनका हृदय सिकुड़ने लगता था। नाना दुश्चिंताओं तथा कड़वे अनुभवों से क्षत-विक्षत उनकी आत्मा को जिस मंगलमय, स्निग्ध और मधुर स्नेह के अवलेप की आवश्यकता थी, वह मायादेवी से किसी प्रकार प्राप्त न हो सका। इसी प्रकार तीन साल बीत चले। तीन साल के भीतर ही उनके एक लड़का और दो लड़कियाँ उत्पन्न हो गयीं। प्रथम गर्भावस्था से ही उनकी स्त्री का सुगठित मांस फूलने लग गया था, द्वितीय प्रसव में वह अधिक फूल उठीं, और तृतीय प्रसव में तो वह फूलकर कुप्पा ही हो उठीं। उनका मुख-मंडल भी अतिरिक्त मांस-वृद्धि के कारण इतना विकटाकृति हो गया कि देखकर गुप्तजी घिना गये। वह सोचने लगे कि किस सुख से इस स्त्री के साथ जीवन व्यतीत करें! उसमें

श्री नहीं, संभ्रम नहीं, लज्जा नहीं, सहृदयता नहीं। रूप था, अब वह भी नहीं रहा। उनकी जीवनव्यापी सुदीर्घ तपस्या का अंतिम फल क्या यही मिला ! जिसकी खातिर अपना कठोर व्रत तथा संयम भंग किया और समाज की गंजनाएँ सहीं, उससे उन्हें केवल इतना ही लाभ हुआ कि जीवन के कठिन चक्र मे निरानन्दभाव से पिसना पड़ा। वह प्रियतमा के कोमल भुज-पाशों का बन्धन चाहते थे, अंत को मालूम हुआ कि वह लोहे की सख्त जंजीर से जकड़े गये हैं ! वह समझ गए कि भाग्य उन्हें सब तरफ से धोखा दे रहा है। उनका जीना अब किसी तरह से उचित नहीं।

"यह भाव धीरे-धीरे उनके हृदय में इस तरह से जम गया कि वह उसे दूर नहीं कर सके। हर वक्त उन्हें इसी बात का सोच रहने लगा कि किस उपाय से जीवन का अंत किया जाय। अंत को एक दिन उन्होने अपने मस्तक पर पिस्तौल से गोली चलाकर आत्महत्या कर ली।"

सब श्रोता क्षण-भर के लिए चौंक पड़े। कहानी का यह परिणाम अप्रत्याशित था। कुछ देर तक सब चुप रहे। थोड़ी देर बाद किसी ने पूछा—"श्रीमतीजी क्या अभी प्रैक्टिस करती हैं ?"

प्रोफेसर साहब ने कहा—"नहीं; प्रैक्टिस अब क्यो करने लगीं ! स्टेट की आमदनी कुछ कम थोड़े ही है ! फिजूल तकलीफ उठाकर रोगियो की हत्या का पाप अपने सिर मढ़ना वह उचित नहीं समझतीं। सुनते हैं, उनके माता-पिता, भाई-बहन, मौसी-फूफी, सब-के-सब उनके पास ही आकर डट गये हैं। अच्छा मौका हाथ लगा है !"

गुप्तजी के जीवन के दुःखांत नाटक का किस्सा सुनकर सभी के हृदय में अवसाद की प्रगाढ़ कालिमा छा गयी थी। अंत को इस तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी के विचार ने कॉलेज के लड़को के नवीन-उत्साह-पूर्ण हृदयों में उस समय के लिए मानव-जीवन के प्रति घृणा तथा उदासीनता का भाव जागरित कर दिया। उस मंडली में केवल एक युवक था, जो यह किस्सा सुनकर जीवन के प्रति अधिक उत्साहित हो उठा। वह था मेडिकल कॉलेज का डॉक्टर लड़का। चाँदनी निर्विकार भाव से छिटक रही थी।

मेरा जीवन-चक्र

वर्षों तक मेरी यही धारणा रही कि भाग्य के दोष से मैं किसी नौकरी पर अधिक समय तक स्थिर नहीं रहने पाता। पर अब इस सम्बन्ध में मेरा मत-परिवर्तन होने लगा है।

जब बी० ए० पास कर लिया तो वकालत पास करना मेरे लिए आवश्यक हो गया। क्योंकि मैं जानता था एम०ए० पढ़ना मेरे लिए बेकार है। यदि फर्स्ट डिवीजन में एम० ए० पास करने की आशा होती तो प्रोफेसरी पद का प्रार्थी होता! मैं जानता था कि इस क्षेत्र में भी प्रबल "कम्पीटिशन" वर्तमान है। पर मुझे तो थर्ड डिवीजनमें भी पास होने की आशा नहीं थी। इसलिए एल-एल० बी० की ओर झुका। कई कारणों से इस ओर मेरी प्रवृत्ति भी थी और विश्वास था कि इस विद्या में अवश्य पास हो जाऊँगा। भगवान् की कृपा और मित्रों के आशीर्वाद से किसी प्रकार जब पास हो चुका तो घमण्ड के मारे जमीन पर मेरे पांव नहीं पड़ते थे। यह उस जमाने की बात कह रहा हूँ जब बी० ए०, एल-एल० बी० की डिग्री का कुछ महत्त्व था, और जिला अदालत में वकीलों की संख्या अधिक नहीं थी। कुछ ही महीनों के बाद बड़े शान के साथ मैंने अपने घर के दरवाजे के ऊपर अपने नाम तथा डिग्री का साइन-बोर्ड टाँग दिया। इरादा था कि "बार" के अन्यान्य वकीलों की तरह मुवक्किलों से छोटी-मोटी रकम लेकर कभी अपनी मर्यादा विनष्ट नहीं करूँगा। सिविल सूट के साधारण मामलों में सौ से कम नहीं लूँगा और फौजदारी के मामलों में पांच सौ से लेकर हजार तक मेरी फीस रहेगी।

खुदा गञ्जे को नाखून नहीं देता। दो-तीन महीने तक मुवक्किल देवता के दर्शन ही नहीं हुए। बड़ी मुश्किल से एक दिन एक अनभिज्ञ, अजान आदमी भूल से भटकता हुआ मेरे पास आ पहुँचा। मामला फौजदारी का था, और यथेष्ट जटिल मालूम होता था। पाँच सौ से हजार तक की

फीस माँगने का उत्साह तथा साहस अब मुझे नहीं रह गया था। इसलिए बहुत सोच-विचार कर मैंने दो सौ रुपये माँगे। वह व्यक्ति चौंक पड़ा। गिड़गिड़ा कर मिन्नतें करने लगा और अपनी गरीबी का रोना रोकर मुझसे पुनः विचार करने की प्रार्थना करने लगा। उसकी दशा देखकर मुझे भी दया आ गयी। इसलिए अपने पूर्व प्रस्ताव में से मैंने सौ कम कर दिया। वह बोला—"बाबूजी, हम गरीबो पर रहम कीजिये, आपके भरोसे इतनी दूर से यहाँ आया हूँ।" मैंने झिझक कर कहा—"मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका। अब तुम बताओ, तुम कितना दे सकते हो?" बहुत सोच-विचार के बाद वह अत्यन्त दीनता का भाव दिखाकर बोला—"पाँच रुपया लीजिये, और मेरा काम कर दीजिये! बड़ी विपत्ति में पड़ा हूँ, बाबूजी!"

मैं कुछ क्षण के लिए काठ की मूर्ति की तरह स्तब्ध रह गया। इसके बाद उस व्यक्ति को दुतकार कर मैंने चले जाने को कहा। वह फिर उसी दीन हास्य से हाथ जोड़ता हुआ उठ खड़ा हुआ। जाते समय फिर एक बार बोला—"पाँच पर अगर आप राजी नहीं होते तो कहीं से एक रुपया और लाकर आपको दे सकता हूँ। किसी तरह मेरा उद्धार कर दीजिये!"

असह्य क्रोध से काँपते और गरजते हुए मैंने कहा—"जाओ!" वह दुबकता हुआ चला गया। असल बात यह थी कि मुझे उस पर उतना क्रोध नहीं आ रहा था जितना अपने स्वप्न के भङ्ग होने पर दुःख हो रहा था।

दो वर्ष किसी तरह वकालती दुनिया में अपना अस्तित्व कायम रखने में समर्थ हुआ। इसके बाद स्थिति असम्भव हो उठी। मित्रो ने सलाह दी कि सेक्रेटेरियट में कोशिश करने से कोई-न-कोई "आफीशियोटिंग पोस्ट" तुम्हें अवश्य मिल जायगी; एक बार लिस्ट में नाम दर्ज होने से बाद को किसी मौके से परमेनेण्ट भी हो सकते हो। इस आकाश-वृत्ति से तो यही अच्छा है कि एक बँधी हुई रकम माहवार मिल जाय।

फलतः इस सदुपदेश से प्रेरित होकर मैंने इसी प्रकार के एक "पोस्ट" के लिए चेष्टा की। एक "आफीशियेटिंग चान्स" मिल भी गया। दो महीने के लिए सत्तर रुपया मासिक पर काम किया। तीसरे महीने में छुट्टी मिल

गयी। बीच-बीच में इसी प्रकार महीने-दो-महीने के लिए काम मिल जाता था। प्रायः एक वर्ष इसी प्रकार कट गया। पर कब तक इस प्रकार काम चल सकता था! कोई दूसरा रास्ता देखना पड़ा। जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो मुझे हिन्दी में लेखादि लिखने का बड़ा शौक था। गणित की इक्सर-साइज बुकों में देश की दुर्दशा अथवा समाज की सङ्कीर्णता पर बड़ी जोरदार भाषा में लम्बे-लम्बे लेख लिखा करता, और बिना किसी को दिखलाये फाड़-कर फेंक देता। कालेज में यह अभ्यास यद्यपि छूट गया था, तथापि समा-चार पत्रों में जब किसी राजनीतिक अथवा सामाजिक अत्याचार की खबर पढ़ता तो मन-ही-मन जोशीली भाषा में पूरा लेख तैयार कर लेता। उसे अक्षरों में लिखकर छपाने की नौबत कभी नहीं आती थी, तथापि इससे एक लाभ यह हुआ था कि अभ्यास पूरी तरह छूटने न पाया था। जब सेक्रेटेरि-यट के "आफीशियोटिंग चान्सों" से उकता गया तो विचार करने लगा कि मेरे लेख लिखने के अभ्यास से कुछ जीविका प्राप्त की जा सकती है या नहीं।

असहयोग आन्दोलन जोरों पर था। मेरे एक मित्र ने, जो कालेज में मेरा सहपाठी रह चुका था और जिसके पिता कानपुर की किसी मिल के शेयर-होल्डर थे, अपनी अकर्मण्यता की जड़ता से मुक्ति पाने के लिए सहसा एक दैनिक पत्र निकालने का निश्चय किया। उसे भी हिन्दी में लेख, कविता आदि लिखने का चस्का था। उसने मुझसे सम्पादक बनने का प्रस्ताव किया। अंधे को आँखें चाहिए। मैं तत्काल राजी हो गया। सब तैयारियां हो गयीं। एक बढ़िया प्रिन्टिंग मशीन खरीदी गयी। नाना प्रकार के बढ़िया-बढ़िया टाइप मँगवाये गये। पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में "नव-सन्देश" के प्रकाशन की सूचना छपवायी गयी। बड़े उत्साह से मैं काम में जुट गया। बड़े धड़ल्ले से लिखने लगा। दो ही अङ्क निकले होंगे कि तीसरे दिन पुलिस सार्जेण्ट दो अरुण-शिखा-धारी कान्स्टेबलों को साथ लिये हमारे आफिस में आ खड़े हुए। मुझसे बोले—"विजयमोहन वर्मा आपका ही नाम है?" मेरे तो होश उड़ गये। जैसे काठ मार गया हो। गले से आवाज नहीं निकलती थी। विकृत, आतङ्कित कण्ठस्वर मैंने कहा—"जी हाँ।" उन्होंने एक कागज पाकट से

निकालकर मुझे दिखाया। मेरी गिरफ़ारी का वारण्ट था। पाठकों को विश्वास नहीं होगा, यदि मैं कहूँ कि मैं भय तथा क्षोभ के कारण रो पड़ा।

मजिस्ट्रेट से यद्यपि मैंने स्पष्ट शब्दों में क्षमा नहीं माँगी, तथापि मेरी अत्यन्त आर्त दशा तथा कातर भाव देखकर मजिस्ट्रेट ने मुझे चेतावनी देकर छोड़ दिया। जब जीता-जागता छूटकर आया, तो मित्रों ने मेरी योग्यता, बहादुरी और गिरफ़ारी पर मुझे बधाइयाँ दीं। मैं खुशी से उछल पड़ा। तमाम लखनऊ शहर में मेरी धूम मच गयी।

इसी सिलसिले में एक मिनिस्टर महोदय से मेरी जान-पहचान हो गयी। मैंने उनसे प्रार्थना की कि कहीं मेरे रोजगार का ठिकाना लगा दें। वह बोले—"गवर्नमेण्ट सर्विस करने का इरादा है?"

"साहस नहीं होता।"

"तब मैं किस प्रकार आपकी सहायता कर सकता हूँ?"

"यदि किसी स्टेट में—"

वह मुस्कराये, क्यो मुस्कराये कह नहीं सकता। फिर बोले—"अच्छा, कभी मौका हुआ तो देखूँगा।"

इलाहाबाद में नित्य गङ्गा-यमुना-सङ्गम में स्नान करके पुण्य सञ्चय कर रहा था। अकर्मण्य अवस्था में अनन्त अवकाशमय आनन्द अनुभव कर रहा था और परान्न भक्षण करके परम तृप्त था। स्नान और भोजन के समय के अतिरिक्त दिन-भर और रात-भर लेटा रहता। कभी नींद आती, कभी अलस, असम्भव स्वप्नों की तरङ्ग में झूमता। न तो अब मुझ में जीविका की खोज की शक्ति ही रह गयी थी, न इच्छा ही थी। ऐसे समय एक दिन अकस्मात् पूर्वोल्लिखित मिनिस्टर साहब के हाथ का लिखा एक पत्र मेरे पास पहुँचा। उसमें उन्होंने लिखा था कि अवध के किसी स्टेट में एक रानी को प्राइवेट सेक्रेटरी की आवश्यकता है। वेतन प्रारम्भ में सवा सौ दिया जायगा। रानी! प्राइवेट सेक्रेटरी! वेतन सवा सौ! मेरी तो बाछें खिल गयीं। इतना वेतन मुझे आज तक किसी भी पोस्ट में नहीं मिला था। तिस पर एक रानी की—

अर्थात् उसके साथ बैठकर गपशप द्वारा उसका जी बहलाने की नौकरी ! मेरे उपयुक्त इससे बढ़कर और क्या काम हो सकता था ! तत्काल मिनिस्टर साहब को लिख दिया कि कृपया यह नौकरी मुझे अवश्य दिलवा दें। साथ ही दो-एक खुशामद की बातें भी लिख दीं।

मिनिस्टर साहब की कृपा से मेरी नियुक्ति हो गयी। यथासमय इस्टेट में उपस्थित हुआ। मैंने सोचा था कि रानी साहबा सुलताना रजियाकी तरह मसनद पर बैठी होंगी और चारों तरफ से दरबारी लोग घेरकर इस्टेट-संबंधी नाना निगूढ़ विषयों की चर्चा में रत होंगे। पर जब महल पर पहुँचा तो मालूम हुआ कि रानी साहबा परदे में रहती हैं, और इस्टेट का कुल प्रबन्ध शिवशङ्कर शर्मा नाम के एक दीर्घ-अनुभवी वृद्ध सज्जन करते हैं। यह भी पता चला कि मुझे पहले शर्माजी से ही मिलना होगा।

शर्माजी से जब मिला तो उन्हें देखते ही मेरा सारा रक्त जमकर बरफ हो गया। उनकी अवस्था पचास से ऊपर होगी। शरीर बड़ा भारी-भरकम था। मूछें उनकी ऐसी विकट थीं कि देखते ही दिल दहल उठता था। आंखों से तीक्ष्णता, क्रूरता और रूखापन टपकता था। बड़े गम्भीर कठस्वर में उन्होंने यथाशक्ति नम्रतापूर्वक पूछा—"आप किस काम से तशरीफ लाये हैं ?"

मैंने उन्हें अपना नियुक्ति-पत्र दिखा दिया, क्योंकि मुंह से उनकी बात का उत्तर देने का साहस मुझे नहीं होता था।

पत्र हाथ में लेकर बिना चश्मे के उसे पढ़कर (पहली ही मर्तबा उन्हें देखने से मुझे मालूम हो गया था कि उनकी गृद्ध-दृष्टि को चश्मे की आवश्यकता नहीं हो सकती) उन्होंने कहा—"अच्छी बात है। आप ही का नाम विजयमोहन वर्मा है ?"

"जी हां।"

"अच्छी बात है। अभी आप आराम कीजिये, ट्रेन की सफर से थके हुए होंगे। ऐ ! कोई है ?"

एक साफ-सुथरा, चुस्त-चालाक गोरा उजला छोकरा हाजिर हुआ। मैं तो उसे देखकर दङ्ग रह गया।

मैनेजर साहब बोले—"बहादुरसिंह, जाओ, बाबू के लिए एक अच्छे कमरे का इन्तजाम कर दो!"

बहादुरसिंह बड़े कायदे से झुककर बोला—"जो हुक्म सरकार!" शर्मांजी ने मुझसे कहा—"आप इसके साथ तशरीफ ले जाइये। जब जिस चीज की जरूरत पड़े, इसीसे कहियेगा।" मैं बहादुर के साथ हो लिया। वह एक कमरे में मुझे ले गया। एक नौकर बुलाकर कमरा साफ करवा दिया और स्प्रिङ्ग की चारपाई पर बिछे हुए एक मोटे गद्दे के ऊपर उसने मेरा बिस्तर बिछा दिया। कोट और जूते उतारकर मैं उसपर चारोंखाने चित लेट गया।

बहादुरसिंह ने पूछा—"और क्या हुक्म है?"

मैंने कहा—"चाय मिलेगी?"

"चाय के साथ क्या लाऊं? केक, टोस्ट, बिस्कुट, अंडा?"

दो अंडों के लिए आर्डर दे दिया। वह चला गया।

मेरी आंखों के सामने बार-बार मैनेजर-साहब की रुद्र मूर्ति नाच रही थी। मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि इस यमराज की शक्ल के व्यक्ति ने प्रथम दृष्टि में ही मेरा अपमान क्यों नहीं कर डाला! व्यवहार तो उसका कुछ बुरा नहीं था। तथापि मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि यह भूत मुझे कच्चा ही चबा जायगा।

जब बहादुरसिंह चाय लेकर आया तो मैंने उससे पूछा कि वह कहां का रहने वाला है और इस इस्टेट में कब से काम करता है। मालूम हुआ कि वह नैपाली है और प्रायः पांच वर्ष से यहीं काम करता है।

शाम को मैनेजर साहब ने बुला भेजा। एक साफ-सुन्दर सजे हुए कमरे में वह मुझे ले गये। सामने के कमरे में चिक के भीतर से कलहास्य का मन्द-मधुर कल्लोल कर्णगोचर हो रहा था। मेरा हृदय पुलक-विह्वल होकर तरङ्गित होने लगा।

चिक के पास खड़े होकर शर्माजी उस रहस्यमय अन्तःपुर की ओर मुंह करके बोले—"हुजूर, प्राइवेट सेक्रेटरी साहब हाजिर हैं।"

पञ्चम सुर में एक अत्यन्त कोमल, सुकुमार गले का शब्द सुनायी दिया—"उन्हें चिक के पास बैठने को कहिये।"

"जो हुक्म सरकार!"

शर्माजी की आज्ञानुसार मैं चिक के कुछ समीप बैठ गया।

उसी कलकंठ का कलित झङ्कार फिर सुनायी दिया—"आपका शुभ-नाम?"

"विजयमोहन वर्मा।"

"इसके पहले कभी आप किसी रियासत में काम कर चुके मैं?"

"जी नहीं, यह पहला मौका है।"

"कब तशरीफ लाये?"

"आज सुबह।"

"रहने का ठीक प्रबन्ध हो गया है? किसी प्रकार की कोई तकलीफ तो नहीं है?"

"नहीं हुजूर! मैं बड़े आनन्द से हूँ।"

शर्माजी की देखादेखी मैं भी "हुजूर" कहना सीख गया था। "हुजूर" की बातों का उत्तर तो दे रहा था, पर मेरा ध्यान दूसरी ही बात पर था। उस रहस्यावरण के भीतर मैं यथासम्भव दृष्टि को केन्द्रित करके उस अस्पष्ट माया-जगत् की प्रत्येक छाया-रेखा पर गौर कर रहा था। मैंने देखा कि नवविकसित ललिता लता की तरह एक षोड़शी देवबाला एक सुवर्ण-मण्डित कुर्सी पर सुशोभित है और चारों ओर सुन्दरी अलबेली अप्सरोपम ललनाएँ खड़ी हैं। जीविका की चिन्ता में ही मैंने आज तक अपना जीवन बिताया था। आज सोचने लगा कि यदि यही स्वर्गीय सौन्दर्य प्रतिपल आंखों के सामने लहराता रहे तो आदमी बहुत दिनों तक बिना खाये भी जी सकता है। इस दृश्य के आगे जीविकोपार्जन का प्रश्न अत्यन्त तुच्छ तथा अकिञ्चित्कर मालूम हुआ।

"इस समय आप आराम कीजिये, थके होंगे। कल कोई काम होगा तो आपको बुला लिया जायगा।"

मैंने सिर झुकाकर कहा—"जो आज्ञा, सरकार !"

मैं अन्यमनस्क अवस्था में जाने लगा। चित्त उद्भ्रान्त हो गया था। सहसा पीछे से उसी कमनीय कोकिल-कण्ठ की पुकार सुनकर मैं ठिठक कर खड़ा रह गया। पीछे फिर कर चिक के निकट आकर मैंने पूछा—"सरकार ने मुझे पुकारा था ?"

अनेक कंठों ने सम्मिलित कलहास्य से मेरा परिहास किया। मेरा हृदय कम्पित और मुख लज्जा से रक्तिम हो आया। रानी साहिबा ने नम्र मधुर स्वर में उत्तर दिया—"नहीं, मैंने तो नहीं पुकारा !" उन्होंने शायद शर्मा-जी कहा होगा, मैंने वर्माजी सुना।

जब अपने कमरे में पहुँचा तो पहला काम मैंने यह किया कि ड्रेसिंग टेबल के शीशे पर बड़े गौर से अपना मुख देखने लगा। आज तक मैं अपने शरीर के इस विशेष भाग के प्रति एकदम उदासीन था। मैं रूपवान हूँ या कुरूप, इस सम्बन्ध में कभी कोई उत्सुकता ही मेरे मन में पैदा नहीं हुई थी। नहा-धोकर अभ्यासवश जब शीशा देखता तो केवल सिरके बिखरे हुए बालों को कंघे से पीछे की ओर करने के लिए। पर आज बात ही दूसरी थी। आज अचानक जैसे किसी ने अपनी जादू की कुञ्जी से मेरे लिए किसी गुप्त, अपरिचित जगत् का माया-द्वारा खोल दिया हो। अङ्ग-अङ्ग में रूप और यौवन की उमङ्ग तरङ्गित होने लगी। हृदय में प्रेम और वासना का स्रोत उमड़ चला था। प्रायः पन्द्रह मिनट तक लगातार मैं शीशे में एकान्त मनो-निवेशपूर्वक अपने मुख की बनावट पर विचार करने लगा। प्रत्येक स्पष्ट तथा अस्पष्ट रेखा पर मैंने परकीय दृष्टि से कला-विशेषज्ञ की तरह ध्यान दिया। पर किसी प्रकार भी मुझे अपने रूप पर सन्तोष नहीं हुआ। हताश होकर जूते उतार कर पलंग पर लेट गया। नाना सम्भव-असम्भव कल्पनाएँ मस्तिष्क में घूर्णित होने लगीं।

दूसरे दिन नहा-धोकर कपड़े पहन ही रहा था कि बहादुरसिंह ने कहा—"सरकार ने आपको याद किया है।"

आज मैंने खूब तेल मलकर, आधी बट्टी साबुन की खर्च करके स्नान किया था। मुखमे क्रीम आदि का भी विशेष उपयोग किया था। यथासाध्य सज-संवरकर, बनठन कर दरबार में, अर्थात् पार्टीशन की इस ओर, हाजिर हुआ और चिक के निकट खड़े होकर बाकायदा झुका।

"तशरीफ रखिये!" वही सङ्गीत-मुखरित स्वर सुनायी दिया।

एक कुर्सी पकड़कर मैं बैठ गया। इस प्रत्याशा में था कि इस्टेट संबंधी किसी जरूरी विषय पर मुझसे सलाह ली जायगी, अथवा मुझे हिदायत दी जायगी। पर मैं चकित रह गया जब मुझसे यह प्रश्न किया गया—"आपका विवाह हो चुका है?" यह प्रश्न अत्यन्त सहज, स्वाभाविक रीति से किया गया था।

क्षण-भर के लिए मैं विमूढ़-सा अवाक् रह गया; पर तत्काल अपने को संभाल कर बोला—"नहीं हुजूर! अभी इस सौभाग्य से वञ्चित हूँ।" इस प्रकार का उत्तर मेरी तात्कालिक स्थिति मे मुझसे कैसे देते बन पड़ा, कह नहीं सकता। पर अपने इस उत्तर से मुझे सन्तोष हुआ। रानी साहिबा पर भी इसका कुछ कम अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। चिक की आड़ में मैंने स्पष्ट देखा कि उनकी आंखें प्रसन्नता से उद्दीप्त हो उठी थीं। उत्तर में कोई खास बात नही थी, पर उसमें लघु परिहास स्वाभाविक रूपसे व्यक्त हो पड़ा था। मैंने निश्चय कर लिया कि अन्त तक इसी ढङ्ग से वर्तमान वार्तालाप को निबाहूँगा।

रानी साहब ने कहा—"आश्चर्य है!"

मैंने कहा—"आश्चर्य की तो कोई बात नहीं है।"

"आपकी अवस्था क्या है?"

"यौवनावस्था।"

हँसीका कल-कल्लोल तरङ्गित हो उठा।

"मैं पूछती हूँ आपकी उम्र क्या है?"

"तीस के लगभग होगी।"

"अभी तक आप अविवाहित हैं?"

"जी हुजूर! आपको आश्चर्य होता है और सांसारिक दृष्टि से यह बात वास्तव में कुछ आश्चर्यजनक है भी। पर मेरी तो धारणा है कि युवावस्था विवाह के लिए उपयुक्त नहीं है। पुरुष की आत्मा में उस समय जो बहुमुखी उद्दाम तरङ्गें लहराने लगती हैं, उन्हें कोई स्त्री आकर सब तरफ से बन्द करके केवल एकमुखी कर दे, यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है। नाना रसों को नाना भावों से चखने के लिए ही तो भगवान् ने मनुष्य को यौवन दिया है! वृद्धावस्था में मनुष्य शिथिल-प्राण हो जाने से उसकी भावनाएँ एकमुखी होने लगती हैं। विवाह के लिए वही ठीक अवस्था है।"

"तो आप बुढ़ापे में विवाह करने की इच्छा रखते हैं?"

"जी हजूर! विचार तो यही है!"

फिर एक बार हँसी की लहर उठी।

रानी साहब ने प्रसन्नता-पूर्वक कहा—"आप बड़े आनन्दी जीव हैं।"

इस चाटुवाक्य से मेरी अन्तरात्मा गद्गद् हो उठी। बहुत देर तक इसी प्रकार की बातें होती रहीं। अन्त को जब मैं आज्ञा लेकर उठकर जाने लगा तो मैंने कनखियों से देखा कि चिक हटाकर दोनो तरफ से अनेक कौतूहली आंखें मुझे घूरने लगीं। मैं समझ गया कि मैंने सफलता प्राप्त कर ली है।

पहले ही दिन इस ढङ्ग से वार्तालाप का सिलसिला जम गया तो मेरी घनिष्ठता लम्बी-लम्बी छलांगें मारकर बढ़ने लगी। मेरा स्वप्न धीरे-धीरे सफल होने लगा। रानी साहबा यथासम्भव एक मिनट भी मुझे अपनी आंखों की ओट नहीं रखना चाहती थीं। मेरी धृष्टता दिन-दिन बढ़ती गयी। वकालत की प्रैक्टिस के जमाने में मेरी जो वाक्-शक्ति अत्यन्त शिथिल रूप में व्यक्त होती थी, वह अब सुसम्बद्ध तथा सुनियमित रूप में आत्म-विश्वास-पूर्वक प्रकट होने लगी।

यह पहले ही कह चुका हूँ कि रानी साहबा देखने में अभी षोड़शी मालूम होती थीं, और सम्भवतः उनकी अवस्था सोलह-सत्रह वर्ष से अधिक होगी भी नहीं। पर उनकी बुद्धि इसी छोटी उम्र में ही परिपक्वावस्था को पहुँच गयी थी, इसके प्रमाण मुझे बात-बात में मिलते जाते थे। यह आश्चर्य की ही बात थी, सन्देह नहीं। बहुत छोटी उम्र में विधवा हो चुकी थीं। उनके जीवन के पूर्व-इतिहास के सम्बन्ध में मैं जो कुछ तथ्य संग्रह करने में समर्थ हुआ था, उनसे यही सिद्ध होता था कि अन्तःपुर की परिचारिकाओं के अतिरिक्त अन्य कोई सहृदय व्यक्ति उन्हें अपने पति की मृत्यु के बाद ऐसा नहीं मिला था जो उन्हें राज-काज अथवा संसार के व्यावहारिक ज्ञान के सम्बन्ध में सहायता देता। आत्म रक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति कहिये, अथवा पूर्वजन्मार्जित संस्कार की विचक्षणता कहिये, कारण कुछ भी हो, उनकी बुद्धि अन्तःपुर के बद्ध तथा अलस वातावरण में भी अत्यधिक प्रखर तथा शोणित हो उठी थी। राज-काज के प्रत्येक विषय के प्रत्येक पहलू पर वह ऐसी विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करती थीं, मानो इस काम में उन्हें अभ्यस्त होते-होते कई युग बीत चले हों। अपने अधिकार को पूर्ण उपयोग में लाना वह जानती थीं। आदमी को भी दृष्टिमात्र से ही पहचान लेती थीं, मेरा यह दृढ़ विश्वास है। तथापि उन्होंने मुझे पहचानने में भूल की थी! अपना असली हिंस्र, लोलुप रूप छिपाकर मैंने सहज, स्निग्ध स्वभाव का जो नकली वाह्यावरण धारण कर लिया था उसके चकमे में वह आने लगीं। खैर।

मेरी प्रत्येक छोटी से छोटी आवश्यकता पर रानी साहबा का ध्यान रहता था। जिस आवश्यकता का स्वयं मुझे खयाल न रहता उसे वह मुझे सुझाती थीं और मेरे अपने अभाव के प्रति अवहेलना के लिए मुझे सस्नेह तिरस्कृत करके तत्काल उसकी पूर्ति कर देती थीं। एकदम नये फैशन की पोशाक के सम्बन्ध में वह मुझे हिदायत देती थीं। सोने की घड़ी, हीरे की जड़ी अंगूठियां, दामी चेन आदि भी रानी साहबा की जिद से मुझे पहनने पड़े! मेरी इच्छा के होने-न-होने का प्रश्न दूसरा है!

रानी साहबा के अन्तःपुर का सब प्रबन्ध मेरे हाथ था, और मेरा प्रबन्ध रानी साहबा करती थीं। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से मुझे डबल लाभ था! पर केवल इसी लाभ से मुझे सन्तोष नही था। पिछले दिनो की तरह अर्थ-पिपासा ही मेरी चरम पिपासा नही रह गयी थी। जिन दो मर्मच्छेदी नयनो की चंचल तारकाओ के भीतर माया-मरीचिका मनोमोहक रूप से विलसित होकर मुझे लुभा रही थी, उसने मेरी अन्तर्वासना की पिपासा को प्रबल रूप से भड़का दिया था। मेरा शुष्क हृदय पागल की तरह उसी मृगजल की ओर दौड़ रहा था। वह किसी प्रकार भी भ्रमजाल से विमुख नही होना चाहता था।

रात को सोने के समय मैं सोचता कि किस अलौकिक उपाय से स्वर्ण-पिञ्जर में बद्ध उस करुण, कोमल, कमनीय कपोती को बाहर निकाला जा सकता है! इतने निकट होने पर भी मै उस मायावती से इतनी दूर था! केवल एक तुच्छ चिक का व्यवधान दुर्लंघ्य भीम पाषाण की तरह हम दोनो के बीच पड़ा था। यह कब तक, किस अनन्त युग तक, इस प्रकार अटल रहेगा?—अपने अन्तर्देवता से मैने यह प्रश्न किया। उस सुकुमार, सलोनी मूर्ति का हृदय भी नवनीत की तरह कैसा कोमल होगा, इस भावना से मेरा हृदय उद्वेलित हो उठता। उस नवनीत की स्निग्धता से अपने रुक्ष हृदय को कैसे सरस बनाऊं, केवल यही एक चिन्ता सोते में, जागते में मुझे प्रतिपल व्यस्त करने लगी। मै जानता था कि इसमें अनेक दुरतिक्रम्य बाधाओं का (जिनमें उस चिक की बाधा सबसे अधिक कठिन थी) सामना करना पड़ेगा, पर मन-ही-मन मैंने प्रण कर लिया कि सब बाधाओ पर विजय प्राप्त करके ही छोड़ूँगा।

पहले मैने उस नवनीतोपम हृदय को मन्द-मधुर अग्नि-संयोग द्वारा पूर्ण रूप से विगलित कर लेने का निश्चय किया। रानी साहबा को काव्योपन्यास से बहुत प्रेम था। सस्कृत का यद्यपि उन्हें पूरा ज्ञान नहीं था, तथापि किसी श्लोक की आवृत्ति करके उसका अर्थ समझा देने पर उस श्लोक का रस वह अच्छी तरह ले लेती थीं, और जो श्लोक उन्हें विशेष प्रिय मालूम होता,

उसे याद भी कर लेती थीं। मैंने भर्तृहरि के वैराग्य-शतक से अपने षड्-यन्त्र का श्रीगणेश किया। प्रारम्भ में ही शृङ्गार-शतक सुनाने का साहस मुझे नहीं हुआ। ऐसी हार्दिक उमङ्ग से मैं वैराग्य के श्लोक सुनाकर उन पर उपयुक्त टिप्पणियाँ करता कि तरुणी विधवा श्रोत्री के कमनीय दृगों में गद्-गद भाव छा जाता और उनसे उद्दीप्त वैराग्य-ज्योति विकीरित होने लगती थी। कुछ दिनों तक यही सिलसिला जारी रहा और विधवा रानी ने अत्यंत उत्सुकता-पूर्वक इस वैराग्य-चर्चा में मनोनिवेश किया। इसके बाद नीति-शतक की बारी आयी। इसमें भी रानी साहबा ने काफी दिलचस्पी ली। अन्त को जी कड़ा करके मैंने शृङ्गार-शतक का पाठ प्रारम्भ किया। जो श्लोक अत्यन्त उग्र तथा अश्लील थे उन्हें छोड़कर जिनमें नारी के विशुद्ध रूप की प्रशंसा थी तथा पुरुष की रूप-पिपासा तथा लालसा-जनित ताड़ना का हलका, पर मर्मघाती, वर्णन था उन्हें अत्यन्त सावधानी से मैं सुनाने लगा। तीन-चार ही ऐसे श्लोक सुनाये होंगे कि रानी साहबा का उज्ज्वल गौरवर्ण मुख गुलाब की तरह लज्जा से रक्तवर्ण हो आया। मेरी इच्छा हुई कि इस पूर्ण-विकसित गुलाब को इसी दम जी भर कर हृदय से लगा लूँ।

"वर्माजी, आज कोई दूसरी चर्चा छेड़िये। आज श्लोक रहने दीजिये, जी उकता गया है।"

मैं चौंका। कुछ लज्जित भी हुआ, पर अधिक नहीं। दूसरे दिन मैंने मेघदूत सुनाना प्रारम्भ कर दिया। तीसरे दिन प्रेम-सम्बन्धी एक फ्रेञ्च कहानी की बारी आयी। बस सिलसिला जम गया। बांध टूटने की नौबत आ गयी। मैं समझ गया कि इस मृगी को अपनी वासना के जाल में फँसाने का अब उपयुक्त अवसर आ गया है।

* * *

रानी साहबा की एक परिचारिका थी, जो उनके बहुत मुँह लगी थी, और इसी कारण धृष्ट भी हो गयी थी। देखने में वह कुरूप नहीं थी और भ्रू-विलास से भी अनभिज्ञ नहीं थी। वह अक्सर किसी बहाने से मेरे कमरे में आ जाया करती थी। पहले तो मैं समझा कि वह मेरे प्रति किसी कारण

से आकर्षित हुई है। पर पीछे धीरे-धीरे इस सम्बन्ध में मेरी धारणा बदल गयी। असल में वह मेरे प्रति नहीं, मेरे नैपाली नौकर बहादुरसिंह के प्रति आसक्त थी। बाद में एक विश्वसनीय व्यक्ति से मुझे यह भी पता चला कि वह परिचारिका, जिसका नाम गङ्गा था, चाहती है कि बहादुरसिंह के साथ विवाह के रूप में उसका स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो जाय, और बहादुरसिंह की भी यही इच्छा है, यद्यपि कई कारणों से वह लाचार है। मैंने जब यह बात सुनी तो सोचा कि दोनों को पूर्णतः अपने वश में करने तथा विश्वास में लाने का यह अच्छा अवसर है। एक दिन बहादुरसिंह को पकड़कर मैंने उससे पूछा—"तुम्हारी शादी हो चुकी है?" "जी नहीं।" "इच्छा है?" वह कुछ देर तक लजाकर चुप रहा, फिर बोला—"शादी की इच्छा तो सभी की होती है, बाबूजी, पर......" मैंने उसकी बात काटकर कहा—"देखो, अगर गङ्गा के साथ तुम्हारी शादी हो तो तुम राजी हो?" वह चौंका। मैंने कहा—"मुझ से छिपाने की जरूरत नही है, मुझे सब मालूम है। मैं चाहूँ तो तुम्हारी शादी गङ्गा से करवा सकता हूँ, मेरे हाथ में बहुत बात है। पर शर्त यह है कि मैं जिस काम के लिए कहूँ, तुम्हें करना होगा।"

बहादुर बोला—"मैं तो आपका ताबेदार हूँ।"

मैंने कहा—"देखो, जो काम मैं बतलाऊँगा वह बड़े जोखिम का है। उसमें बड़ी दिलेरी, होशियारी और ईमानदारी की जरूरत है। तुम और गङ्गा, दोनो मिलकर इसे कर सकोगे। अगर काम ठीक तरह से करोगे तो तुम्हें उसका ऐसा इनाम मिलेगा कि जिन्दगी-भर चैन से रहोगे।"

उसने केवल सिर झुकाकार मौन-सम्मति का संकेत दिया।

उस रात को मैं सोया नहीं। गोल्ड-बैण्डवाली फौनटेन पेन और क्रीम लेड कागज का रायटिंग पैड लेकर बहुत देर तक मेज के ऊपर झुका रहा और नाना उद्भट, असङ्गत विचारों मे मग्न रहा। एक लेटर-पेपर पर कुछ लिखकर उसे फाड़कर फेक दिया; दूसरे पर लिखा, वह भी फेंक दिया; तीसरे की भी यही गति हुई। अन्त को नाना बिखरे हुए भावों को जब बड़ी मुश्किल से किसी अंश तक मस्तिष्क में एकत्र कर पाया तो दो घंटे के सिर-खप्पन के

बाद प्रेमपत्र लिखकर समाप्त किया। एक लिफाफे में उसे अच्छी तरह बन्द करके अपने तकिये के नीचे छिपाकर लेट गया। घंटे-भर के लिए आँख लगी।

सुबह को जब टी-टोस्ट लेकर बहादुर आया तो मैंने उसके हाथ में वह नाम और पते से रहित पत्र देकर प्रायः आधे घंटे तक उसे स्थिति अच्छी तरह समझायी। पत्र किस ढङ्ग का है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट कुछ न कहने पर भी अस्पष्ट इङ्गित दे दिया। वह पहले कुछ चकराया, पर रियासत का नौकर था, अनेक जटिल, गुप्त रहस्य-चक्रों से परिचित था, इसलिए जल्दी संभल गया। अत्यन्त सावधानी से पत्र जेब में छिपाकर वह स्थिर पदक्षेप से चल दिया। मैं जान और ईमान पर खेल चुका था, और परिणाम के लिए तैयार बैठा था। इस प्रकार निरन्तर तड़पते रहना, अन्तर्दहन की उग्र ज्वाला से प्रतिपल दग्ध होते रहना, मेरे लिए असह्य था। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया था कि या तो अपनी मनोकामना पूरी करके छोड़ूँगा—कम से कम उस क्षुद्र चिक की बाधा को दूर करूँगा—या पतन तथा अपमान के निम्नतम गढ़े में जा गिरूँगा—वर्तमान अवस्था से वही बेहतर होगा।

उस दिन रानी साहबा के महिला-दरबार में मैं नहीं गया। एक बार बुलावा आया था (उस समय निश्चय ही पत्र उनके पास नहीं पहुँचा था) मैंने किसी बहाने से टाल दिया। दिन-भर शङ्कित, कम्पित हृदय से उत्कंठा-पूर्वक गुप्त उत्तर की प्रत्याशा करने लगा, और साथ ही नाना सम्भव, असम्भव शङ्काएँ भी मन में ऊधम मचा रही थीं। बाहर किसी के तेज कदमों की आवाज सुनता तो चौंक उठता कि कहीं मुझे गिरफ़ार करने के लिए तो कोई आदमी दौड़ा नहीं आता, किसी को जोर से अपस्ष्ट भाषा में चिल्लाते हुए सुनता तो शंका होती कि मुझे पकड़कर, नौकरों द्वारा डण्डों अथवा कोड़ों की चोटों से मरवाकर, अपमानित किये जाने का विचार हो रहा है। मैनेजर साहब की भैरव-मूर्ति आँखों के आगे नाचने लगती। और दिनों बहादुर दस-दस मिनट के अन्तर में मेरे पास आता था, आज उसके दर्शन ही नहीं होते थे।

आखिर लम्बी प्रतीक्षा के बाद एक बजे के करीब वह खाना लेकर आया। मेरा कलेजा जोरो से धड़क रहा था और उससे यह पूछने का साहस नहीं होता था कि "सरकार" के हाथ पत्र पहुँचा या नहीं, और यदि पहुँचा तो उन्होने उसे पढ़कर क्या भाव प्रकट किया। कुछ देर तक मैं इसी इन्तजार मे रहा कि बहादुर स्वयं उस पत्र का उल्लेख करेगा। पर वह कुछ न बोला। अन्त को जब वह जाने लगा तो मैने साहस बटोर कर उसे अपने पास बुलाया और यथाशक्ति आवाज को धीमी करके कहा—"चिट्ठी सरकार को दी थी?"

उसने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक सिर नीचा करके संक्षेप में उत्तर दिया—"जी हाँ।"

"तुमने दी थी या गङ्गा ने?"

"गङ्गा ने।"

"सरकार ने उसे अभी पढ़ा है या नहीं, कुछ बता सकते हो?"

"कह नहीं सकता।"

एक दीर्घनिःश्वास छोड़कर मैंने कहा—"अच्छा जाओ।"

खाना गले से होकर नीचे नही उतरना चाहता था। पानी पी-पीकर बड़ी मुश्किल से दो-चार कौर पेट मे डालकर लेट गया। बहादुर आया, थाली-गिलास उठाकर ले गया। मै निःशब्द लेटा ही रहा। बाहर किसी के पाँव की आहट सुनता तो चौक पड़ता। दिन-भर यही अवस्था रही, पर न तो कोई पत्र-वाहक कुछ उत्तर लेकर ही मेरे पास आया, न "सरकार" ने ही मुझे बुलाया। मै समझ गया कि मेरी स्थिति संकटजनक हो उठी है। मुझे यह स्पष्ट विदित हो गया कि मेरा मूर्खतापूर्ण पत्र पाकर रानी साहबा ने अपने को अत्यन्त अपमानित अनुमान किया है; अब वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहती और किस उपाय से मुझे दंड दिया जा सकता है, इसी चिन्ता मे हैं!

सन्ध्या को अभ्यासवश बहादुर चाय लाया। उसके चेहरे पर मैंने आज अन्य दिनो की अपेक्षा अधिक गम्भीरता पायी। यह चिह्न भी मुझे अच्छा

नहीं मालूम हुआ। मुझे सन्देह हो रहा था कि उसे "सरकार" की नाराजगी का पूरा हाल मालूम है, पर मुझे कुछ नहीं बताना चाहता। मैं भी उससे एक शब्द इस विषय में न बोला, और निश्चय कर लिया कि जैसा-कुछ भी संकट आ पड़े, भुगत लूँगा। जी कड़ा कर लिया।

पर धैर्य का बाँध टूटता जाता था। रात-भर विकट स्वप्न देखता रहा। दूसरा दिन भी इसी तरह बीत गया। न तो कोई उत्तर मिला (जिसकी आशा इस संकटापन्न स्थिति में भी मैंने नहीं छोड़ी थी) न रानी साहबा ने और दिनों की तरह मुझे अपने पास बुलाया। बहादुर के चेहरे की गम्भीरता मुझे सब से अधिक शंकित कर रही थी। पर मैंने उससे एक भी प्रश्न इस सम्बन्ध में न किया। एक बार इच्छा हुई कि बिना बुलाये ही रानी साहबा के पास चला जाऊँ और कहूँ कि क्षमा कर दें, अब से कभी यह भूल न होगी। पर इस दुस्साहस के लिए मुझमें शक्ति नहीं रह गयी थी।

जब दूसरा दिन भी इस प्रकार बीत चला और इस अनिश्चितावस्था में मेरा एकान्तवास मुझे भावी आशंका के कारण अत्यन्त भयावह मालूम होने लगा, तो मैंने, रात-भर के संकल्प-विकल्प के बाद, इज्जत बचा कर किसी तरह भाग चलना ही श्रेयस्कर समझा। रेलवे स्टेशन इस्टेट से प्रायः पाँच मील दूर था। इस्टेट की मोटर ले जाना मैंने निरापद नहीं समझा। निश्चय किया कि एक्के का प्रबन्ध करना होगा।

अभी अंधेरा ही था। रात्रि के उस अन्तिम प्रहर में प्रथम कोकिल के अनर्गल कुहू-रव से सचेत होकर मैं चुपके से उस कमरे की ओर गया जहाँ बहादुर सोता था। मन में यह शंका थी कि कहीं वह भीतर से किवाड़ बन्द करके न सोया हो। रियासत के नौकरों के सन्दिग्ध चरित्र के यथेष्ट प्रमाण मुझे मिल चुके थे, इसी लिए मैं शंकित था। जब मैंने किवाड़ खुला पाया तो भगवान् को धन्यवाद दिया। भीतर जाकर हाथ से उसका शरीर जब बार-बार हिलाया तब जाकर उसकी कुम्भकर्णी निद्रा भङ्ग हुई। चौंक कर वह बोला—"कौन है?" मैंने धीमे स्वर में कहा—"मैं हूँ। एक जरूरी काम के लिए तुम्हें जगाया है। कपड़े पहन कर जल्दी मेरे साथ

चलो।" वह कुछ बड़बड़ाता हुआ फिर सोने की तैयारी करने लगा। मैंने फिर उसको हिलाना शुरू कर दिया। बड़ी मुश्किल से वह उठा। उसे अपने कमरे में लाकर मैंने कहा—"देखो बहादुर, मैं आज जरूरी काम से घर जा रहा हूँ। सात बजे की गाड़ी पकड़नी है। तुम दौड़कर किसी एक्के-वाले को बुला लाओ।"

"मोटर ....."

"नहीं, मैं बिना किसी को इत्तिला दिये जा रहा हूँ।"

बहादुर मेरी स्थिति बहुत-कुछ समझ गया, ऐसा जान पड़ा।

प्रायः आधे घण्टे के बाद वापस आकर उसने कहा—"चलिये, एक्का बाहर खड़ा है।" बिस्तर बांधकर, सामान बक्सो में भर दिया। बहादुर अकेला एक ही मर्तबा सब असबाब उठा ले गया। ऐसी फुर्ती पहले कभी मैंने उसमें नहीं देखी थी।

जब एक्के पर चढ़ा तो मैंने दस रुपये का नोट बहादुर को देना चाहा। पर वह बोला—"नहीं बाबूजी, मैं भी आपके साथ स्टेशन तक जाऊंगा; आपको पहुँचाकर तब वापस आऊंगा।"

ठीक समय पर हम लोग स्टेशन पहुँच गये। जब गाड़ी आयी तो मैं इण्टर क्लास में बैठ गया। घण्टी बजी, गार्ड ने सीटी दी। मैं इस बार भी पहले की तरह बहादुर को एक नोट देने लगा। पर उसने मेरे नोट के प्रति बिलकुल उदासीनता प्रकट करके अपनी जेब से एक लिफाफा निकाल-कर मुझे दिया। ठीक वही लिफाफा था जिसके भीतर मैंने रानी साहबा के लिए प्रेम-पत्र बन्द करके उसे दिया था! लिफाफा उसी तरह बन्द था। स्तम्भित होकर मैंने पूछा—"रानी साहबा ने कब यह जवाब लिखकर तुम्हे दिया था? इस वक्त तक तुमने दिया क्यो नही दिया?"

"जवाब नहीं बाबूजी, यह वही चिट्ठी है जो आपने मुझे सरकार को देने के लिए दी थी। आज तक मेरी ही जेब में पड़ी थी, मुझे सरकार को इसे देने की हिम्मत नहीं हुई।"

मै पागल की तरह कुछ देर तक उसकी ओर ताकता रह गया। गाड़ी चलने लगी थी। एक बार इच्छा हुई की उतर पड़ूं, पर द्विविधा में पड़ने के कारण कुछ निश्चय न कर सका। गाड़ी प्लेटफार्म छोड़कर आगे बढ़ गयी। यह स्पष्ट ही था कि बहादुर ने इरादतन् वह पत्र ठीक गाड़ी छूटने के समय मुझे वापस किया था ताकि मुझे अपना विचार बदल कर इस्टेट को वापस जाने का अवसर फिर न मिले। इस नैपाली नौकर का बुद्धि-प्रपञ्च देखकर मैं हैरान था।

रास्ते-भर मैं यही सोचता रहा कि बहादुर को धन्यवाद दूं या अभिशाप ?

चरणों की दासी

डाक्टर देवकीनन्दन पाँड़े के पुरखे पहाड़ के निवासी थे। उनके पितामह स्वाधीन प्रकृति के पुरुष थे, अतएव पहाड़ी समाज से किसी अज्ञात कारण से रुष्ट हो, अपनी चिर-प्रिय पार्वत्य भूमि से स्नेह का नाता तोड़कर काशी में जाकर बस गये थे। वहीं एक उत्तम पर्वतीय कुल की कन्या के साथ उनका विवाह भी भगवान् की कृपा से हो गया। पहाड़ की तरफ फिर वह भूलकर भी कभी नहीं गये। डाक्टर साहब के पिता काशी में ही पैदा हुए थे, और डाक्टर साहब का जन्म भी काशी में ही हुआ था।

डाक्टर साहब बड़े हँसमुख और उदार प्रकृति के पुरुष थे। काशी में उनकी अच्छी, खासी प्रैक्टिस चल रही थी। चौक में एक काफी बड़ी फार्मेसी उन्होने खोल ली थी। उनके पहले विवाह की स्त्री परलोक सिधार चुकी थी। दूसरा विवाह उन्होने हाल ही में किया था। स्त्रियो की चर्चा छिड़ते ही वह अब जिस परम तृप्ति और उल्लास से हँसकर बातें करने लगे थे, उससे यही प्रकट होता था कि वह इस नवीन विवाह से परम संतुष्ट हैं। पहले विवाह से उनके केवल एक लड़की थी। लड़की का नाम कामिनी था।

कामिनी ने अपना सत्रहवाँ वर्ष समाप्त कर लिया था और अब अठारहवें वर्ष में पाँव रक्खा था। वह बनारस के किसी अंगरेजी विद्यालय में पढ़ती थी। वह स्वभाव की हठीली और धृष्ट थी; अपने पिता से लड़-झगड़कर अपनी हर जिद को पूरा करके छोड़ती थी। पाँड़ेजी उससे डरते थे। अत्यंत बुद्धिमती और धृष्ट-स्वभाव होने के कारण अपने विद्यालय की लड़कियो की वह मुखिया बनी हुई थी। इस कारण अध्यापिकाएँ भी उससे घबराती थीं। इस षोडशी कुमारी का नेतृत्व इतना जबर्दस्त था कि राजनीतिक खेद का कोई भी महत्वपूर्ण कारण होने से सारे विद्यालय में पूर्ण हड़ताल अवश्य होकर रहती थी। विद्यालय में उसकी धाक होने के कारण कालेजों के अनेक

उत्साही युवकों के साथ उसका परिचय हो गया था। वह रूपवती नहीं थी, उसके चेहरे की बनावट में अनेक त्रुटियाँ थीं; पर उसके रूप की कसर उसके तेजोद्दीप्त स्वभाव ने बहुत कुछ पूरी कर दी थी। वह बिना किसी संकोच और घबराहट के युवको के साथ बेधड़क बातें किया करती थी। वह अंग-रेजी बहुत अच्छी बोल सकती थी, इसलिए अपनी इस योग्यता को प्रकट करने का कोई भी सुअवसर हाथ से न जाने देती थी।

जिन अनेक युवकों से उसका परिचय था, उनमें विनोदशंकर शर्मा नाम का एक छात्र उसका विशेष प्रीति-भाजन था। वह अक्सर उसके यहाँ आया करता था और अनेक बातों में उसे सलाह देकर उसकी भी सलाह बहुत कुछ बातों में ले लिया करता था। विनोदशंकर यूथ-लीग का सदस्य था और राजनीतिक विषयों में विशेष उत्साह प्रकट किया करता था। सामाजिक विषयों में भी उसके विचार बड़े उग्र थे। स्त्री-पुरुष के समाना-धिकार का पाठ वह कामिनी को बार-बार पढ़ाया करता था। वह कहता था कि पुरुष किसी भी बात में स्त्री से श्रेष्ठ नहीं है और उसे कोई भी अधि-कार नहीं है कि वह स्त्री के ऊपर अपना दबाव कायम रखने की कोई भी चेष्टा करे। कामिनी के दिल में यह बात गड़ गयी थी। वह किसी भी पुरुष से अपने को छोटा नहीं समझती थी, और वहाँ तक हो सकता था, प्रत्येक युवक पर उलटा अपना रौब जमाने की चेष्टा करती थी। यह विचार उसके हृदय में अच्छी तरह जम गया था कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी पत्नी के निर्वाचन का अधिकार रखता है, उसी प्रकार स्त्री भी अपने इच्छित पति के निर्वाचन की पूरी अधिकारिणी है। उसकी एक परम प्रिय सहेली का विवाह हाल ही में होना निश्चित हुआ था, लेकिन भावी पति को अपनी आँखों से देखने का सौभाग्य उसकी सहेली को नहीं हुआ था।

कामिनी ने उससे कहा—"मैं नहीं चाहती कि बिना अपने पति को मनोनीत किये तुम्हारा विवाह हो जाय।"

यह उसकी राय नहीं थी, एक प्रकार से उसका आदेश था। सहेली

ने घबराकर उदास भाव से कहा—"मैं क्या करूँ बहन ! बाबूजी की इच्छा का विरोध मैं कैसे कर सकती हूँ !"

कामिनी ने क्रुद्ध होकर दृढ़ कंठ से कहा—"नहीं, यह हरगिज नहीं हो सकता। यही कमजोरी सारे सर्वनाश की जड़ है। तुम्हें सत्याग्रह करना चाहिए—'हँगर-स्ट्राइक' करो। जैसे भी हो, इस अनीति का विरोध तुम्हें करना ही होगा।"

उसकी सहेली डरकर चुप हो रही। पीछे मालूम हुआ कि वह "हंगर-स्ट्राइक" करने में असमर्थ हुई थी और उसका विवाह उसी युवक के साथ हुआ, जिसे उसके पिता ने मनोनीत किया था।

विनोदशंकर के साथ कामिनी की घनिष्ठता दिन-पर-दिन बढ़ती जाती थी। पर अपने हृदय के भाव को व्यक्त करने का साहस विनोदशंकर को नहीं होता था; और कामिनी चाहे कैसी ही धृष्ट क्यों न हो, इस सम्बन्ध में वह नारी-प्रकृति के विरुद्ध नहीं जा सकती थी।

एक दिन दिन-भर पानी बरसने के बाद, सूरज छिपने के कुछ पहले, सारा आसमान नीले काच के समान निर्मल हो गया था। सुंदर सुनहली धूप की आभा से सारी पृथ्वी का रूप जगमगाने लगा था। डाक्टर साहब के बँगले में, एक एकांत कमरे में बैठे हुए विनोदशंकर और कामिनी इस अपूर्व स्निग्ध संध्या के शांताभास का सौंदर्य अतृप्त हृदय से पान कर रहे थे। रह-रह कर एक मीठी उदासी दोनो के हृदयों में संध्या के स्तिमित अंधकार की तरह ही धीरे-धीरे व्याप्त होती जाती थी। राजनीतिक चर्चा शायद कुछ देर पहले ही समाप्त हो चुकी थी, इस समय दोनों स्तब्ध भाव से बैठे थे। विनोदशंकर आज रह न सका। उसने अचानक कामिनी का दाहना हाथ जोर से पकड़ लिया। कामिनी इसके लिए शायद पहले से ही तैयार थी। उसने प्रतिरोध नहीं किया।

विनोदशंकर ने कहा—"कामिनी, मैं कब तक अपने दिल की आग को भीतर-ही-भीतर पीता जाऊँ ?"

लज्जा से कामिनी का सारा मुखमंडल रक्तवर्ण हो आया। उसने सिर कुछ नीचा कर लिया और हाथ छुड़ाने का निष्फल प्रयत्न करने लगी। विनोद आज उत्तेजित हो रहा था। वह कामिनी के अत्यन्त निकट आ गया और बोला—"सच कहो कामिनी, मैं तुम्हारे प्रेम के योग्य हूँ या नहीं?"

कामिनी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, पर अपने लता-कोमल हाथों से धीरे-धीरे विनोद के दोनो हाथो को पकड़ लिया।

कुछ देर तक दोनों आवेश-विह्वल होकर इसी स्थिति में स्तब्ध बैठे रहे। ज़ब नशा कुछ ढीला पड़ गया, तो कामिनी ने धीरे-धीरे अपने हाथ उठा लिये।

विनोद ने प्रेमिक की भाषा में प्रश्न किया—"तब मैं क्या तुम्हारे हृदय के एक कोने में अपने लिए भी कुछ स्थान की आशा कर सकता हूँ?"

कामिनी ने विनोद की नाक की ओर देखते हुए अस्पष्ट, गद्गद स्वर में कहा—"मैं और किसी को नहीं चाहती।"

"जब तुम्हारे पिताजी तुम्हें किसी दूसरे के हाथ सौंप दें?"

"मैं विष खाऊँगी।"

जिस बात का संदेह और भय विनोद को था, कामिनी उस सम्बन्ध में निश्चिन्त थी। विनोद जानता था कि डाक्टर देवकीनन्दन किसी पार्वतीय ब्राह्मण के लड़के के साथ ही कामिनी का विवाह करना चाहेंगे, पर कामिनी इस सामाजिक प्रथा के सम्बन्ध में बिलकुल अनभिज्ञ थी।

कुछ भी हो, विनोद का संदेह अकारण नहीं था। पाँड़ेजी कई दिनों से कामिनी के विवाह की चिंता में थे। सम्भव था, वह एक-आध वर्ष तक इस चिंता को और स्थगित रखते, पर उनकी विधवा बहन जगदम्बा उन्हें इस सम्बन्ध में एक दिन भी चैन नहीं लेने देती थीं। अपने भाई की इतनी सयानी लड़की को अविवाहित देखकर उनका दम खुश्क हुआ जाता था।

बहुत परेशानी के बाद अंत को उनके एक मित्र की चेष्टा से पहाड़ में योग्य वर का पता चला। लड़का लखनऊ में डाक्टरी पढ़ता था। उसके पिता अल्मोड़े के एक नामी वकील थे। दोनो तरफ से बहुत लिखा-पढ़ी चलने लगी। कामिनी को न तो उसके बाबूजी ने ही इस सम्बन्ध मे कुछ इशारा दिया और न उसकी फूफी ने ही उससे कुछ कहा। पर उन दोनो की जो बातें आपस में होती थीं, उनसे उसे पता चल गया था कि उसके विरुद्ध कैसा षड्यंत्र रचा जा रहा है। उसके जीवन का जो परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न था, उस सम्बन्ध में उससे कुछ पूछने की ही आवश्यकता नहीं समझी जा रही थी।

एक दिन संध्या के समय फूफी को एकांत में पाकर, वह उनके गले पर हाथ डालकर, मुँह फुलाए हुए, बच्चो की तरह रोने की आवाज़ में नकिया-कर कहने लगी—"मैं जहर खाकर मर जाऊँगी।"

आश्चर्य-चकित होकर फूफी ने कहा—"क्यो? तुझे क्या हुआ? क्या बावली हुई जाती है?"

वह उसी तरह बड़बड़ाती हुई बोली—"मैं पहाड़ कभी नहीं जाऊँगी!"

फूफी समझ गयी कि बात क्या है। मुस्कराकर, स्नेह-पूर्वक उसके सिर के ऊपर हाथ फेरते हुए बोलीं—"अरी पगली, हम लोग सब पहाड़ी हैं। हमारा असली घर ही पहाड़ में है। पहाड़ जाने से तू क्यो डरती है?"

"नहीं, हमारा घर पहाड़ में कभी नहीं हो सकता। जंगली पहाड़ियों के बीच में मैं मर जाऊँगी, बुआ!"—कहकर वह फूट-फूट कर, बिलख-बिलख कर रोने लगी।

फूफी ने देखा कि बात हँसी में टालने लायक नहीं है। धार्मिक और सामाजिक विषयो में वह अत्यंत कट्टर थीं। कामिनी को रोते देखकर उनके हृदय में बिलकुल भी दया पैदा नहा हुई। अत्यन्त कठिन स्वर में झिड़क-कर उन्होने कहा—"चुप रह, बेहया कहीं की! ऐसा कहते तुझे शरम नहीं मालूम देती? पहाड़ में जाने से कोई नहीं मरता। मैं इतने बरस वहाँ बिताकर आयी हूँ। भाग्य की खोटी होने के कारण यहाँ लौटकर आना पड़ा

है। नहीं तो वहीं मेरे लिए काशी थी, वहीं वृन्दावन।" वह अंचल से आँसू पोछने लगीं; उनका गला भारी हो आया। दो मिनट के बाद फिर अपना कंठ दृढ़ करके बोलीं—"यह सब अँगरेजी स्कूल में पढ़ने का फल है। मैंने भैया से पहले ही कह दिया था। अपने को भाग्य की बली नही समझती कि बड़ी मुश्किल से एक अच्छे घर का वर मिला है। नहीं तो सत्रह वर्ष तक क्वाँरी रहने वाली लड़की को अपने घर लाने में कौन राजी होगा?"

कामिनी चुप हो रही। वह कैसे उन्हें अपने दिल की हालत समझावे! कुछ देर तक फूफी की गोद में अपना मुँह छिपा कर चुप बैठी रही। फिर उठकर अपनी 'छोटी अम्माँ' के पास चली आयी। उसकी 'छोटी अम्माँ' उससे केवल तीन साल बड़ी थी। उनसे वह सब बातें खुलकर कर सकती थी। आते ही उसने प्रश्न किया—

"छोटी अम्मां, तुम क्या पहाड़ी हो?"

यह आकस्मिक अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर छोटी अम्मां को आश्चर्य भी हुआ और हँसी भी आयी। बोलीं—"पहाड़ी न होती तो इस घर में कैसे आती!"

"तुम्हारा मायका तो मुरादाबाद है।"

"मेरे मायके वाले बहुत पुश्तों से वहीं बस गये हैं।"

एक लंबी साँस लेकर कामिनी ने फिर पूछा—"हम लोगों की ब्याह-शादी क्या पहाड़ी ब्राह्मणों को छोड़कर और कहीं नहीं हो सकती?"

एक व्यंग्यभरी मधुर मुसकान छोटी अम्मां की आँखों और होंठों में झलक गयी।

"नहीं, और कहीं संभव नहीं है। देश के किसी ब्राह्मण के घर अगर तुम ब्याही जाओ, तो हमारा धर्म भ्रष्ट हो जायगा। बिरादरी वाले हमें छोड़ देंगे।"

"मैं बिरादरी की परवा नहीं करती।"—कहकर पाँवों से धमाधम आवाज करती हुई कामिनी चली गयी।

* * *

कामिनी का सब आक्रोश विफल गया। डाक्टर साहब इस विवाह के प्रति कामिनी की अनिच्छा से परिचित हो गये थे; पर इस संबंध में वह भी दृढ़संकल्प थे। कामिनी के भावी जीवन के सब मनोहर स्वप्न नष्ट हो गये, आशाओ पर पानी फिर गया, उच्चाकांक्षाएँ मिट्टी में मिल गयीं। हर रोज़ रात को यह सब बातें सोच-सोच कर उसे अपने सिर के बालों को नोचने की इच्छा होती थी, पर विष खाने का साहस उसे नहीं होता था।

अंत को विवाह का शुभ दिन आ उपस्थित हुआ। पर क्या यह कामिनी के लिये वास्तव में शुभ दिन था?

गोधूलि-लग्न के समय जब बारात आ पहुँची, तो कामिनी चिक की आड़ से बारातियो को कौतूहल-वश झाँकने लगी। "जंगली" पहाड़ियों की जिस उजड्ड आकृति की कल्पना वह किये बैठी थी, वह भ्रांतिमूलक निकली। उसने देखा कि एक-से-एक बढ़कर छैल-छबीले, गोरे-उजले बालक, युवक तथा अवस्था-प्राप्त पुरुष बारात में सम्मिलित होकर आये हुए हैं। वह अत्यंत आश्चर्य-चकित होकर बड़े गौर से सब को निहारने लगी। मुकुट-धारी वर का मुँह सुंदर झालर से ढका था; पर हवा के झोके बीच-बीच में उस झालर को किंचित् हटाकर उसके सुंदर सुनहले गालों की द्युति झलका जाते थे। उस कनकाभा से कामिनी की आँखें चौंधिया जाती थीं और वह पुलक-भरी लाज से पसीज-पसीज उठती थी।

शुभ कर्म समाप्त हुआ। बिदाई का समय आया। सुबह ९ बजे के करीब गाड़ी जानेवाली थी। सब बराती सज-धज कर तैयार थे। कन्या-पक्ष के लोगों में बड़ी हड़बड़ी मची हुई थी। सुबह से रोते-रोते कामिनी की आँखें लाल हो आयी थीं। वर-पक्षी जल्दी बिदा करने के लिए गुल मचा रहे थे। मोटरें, गाड़ियाँ और ताँगे स्टेशन के लिए तैयार थे। बीच-बीच में करुण स्वर में शहनाई बजती जाती थी। उससे सुनने वालो का हृदय बरबस विकल हो उठता था। कोलाहल के कारण कामिनी हौलदिल हो रही थी। उसके हाथ-पाँव जैसे टूटे जाते थे। उसे ऐसा जान पड़ता था, जैसे ये सब तैयारियाँ उसे यमपुर को ले जाने के लिए हो रही हैं। वह

बेबस होकर फूफी की कमर पकड़कर नादान बच्चों की तरह सिसक-सिसककर रो रही थी। फूफी भी रो-रोकर व्याकुल थीं। एक मनचला युवक, शायद व्यंग के तौर पर, बाहर खड़े-खड़े भैरवी में गा रहा था—

बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय।

इस करुण राग से कामिनी के हृदय का हाहाकार और भी बढ़ा जाता था। कालेज की लड़कियों की नेत्री आज एक अज्ञान भीरु बालिका से भी अधिक त्रस्त थी।

वर और वधू साथ ही एक मोटर में बिठाये गये। कामिनी त्रस्त कपोती की तरह एक कोने में दुबक गयी। साड़ी को उसने सिर के कुछ नीचे सरका लिया और दृष्टि भी नीचे को कर ली। सदा सिर के बालो को नंगा रखने वाली ढीठ कुमारी आज लज्जा-जड़िता नव-वधू के वेश में थर-थर काँप रही थी। पुरुषों को अपनी वाचालता से झेंपा देने वाली राजनीतिक महिला को आज किसी पुरुष की ओर आँख उठाकर देखने का साहस नहीं होता था।

* * * *

रात को बरेली में पहाड़ की गाड़ी बदलनी पड़ी। वैशाख का महीना था। पहाड़ का सीजन शुरू हो गया था। पहाड़ की तरफ से आने वाली ठंढी-ठंढी हवा के झकोरे दिन-भर की लू के बाद शरीर में और चित्त में परम शांति का संचार कर रहे थे। ऐंग्लो-इंडियन लड़के और लड़कियाँ छुट्टियो के बाद नैनीताल के स्कूलों में फिर से प्रवेश करने के लिए आये हुए थे और स्टेशन में उल्लासपूर्वक इधर-उधर चक्कर लगा रहे थे। उनकी उल्लसित किलकारियों की गूँज कामिनी के हृदय में पूर्व-जीवन की स्मृति जागरित करके गुदगुदी पैदा कर रही थी। वह इस समय कुछ शांत हो गयी थी।

पर जब दूसरे दिन काठगोदाम में गाड़ी पहुँची, तो चारों तरफ गगन-चुंबी, विशालकाय पहाड़ों को देखकर उसका दिल फिर दहलने लगा। उसे

ऐसा मालूम हुआ, जैसे ये सब पहाड़ उसे निगल जाना चाहते हों, जैसे सारे पहाड़ का भार उसकी छाती पर पड़ गया हो।

काठगोदाम से आगे पहाड़ को कोई ट्रेन नहीं जाती थी। मोटर में सवार होकर जाना पड़ता था। एक "कार" वर-वधू के लिए अलग रिजर्व कर ली गयी। वर का छोटा भाई, एक पंद्रह वर्ष का गोरा-उजला लड़का, भी उसी "कार" में ड्राइवर के साथ बैठ गया। और लोग कोई "कार" में गये और कोई "बस" में।

पहाड़ की चढ़ाई में मोटर के चलने से पेट्रोल की गैस अपना विशेष असर दिखाने लगी। कामिनी का जी मचलाने लगा। पर पहाड़ की ठंढी हवा चल रही थी, इस कारण बहुत कुछ आराम मिलता था। इस एकांत यात्रा में वह अपना दुःख बहुत कुछ भूलने की चेष्टा करने लगी, यहाँ तक कि उसने अपने पति की ओर घूरने का दुस्साहस किया। चार आँखें हुईं। कैसी सुंदर, सुसज्जित, सुसंयत वह पुरुष-मूर्ति थी! उसे यह पहला अवसर अपने पति को अच्छी तरह देखने का मिला था। बनारस में अनेक युवकों से कामिनी का परिचय था, पर उन सब में और इस मूर्ति में कितना प्रभेद था! दो मिनट तक सब लज्जा बिसारकर एकटक होकर वह उस देवरूप को निहारती रही। उसके पति ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसकी ओर ताककर उसी दम आँखें फिरा ली थीं, घृणा से या संकोच से—कौन कह सकता है! स्नेह-हास की कोई अस्पष्ट रेखा भी उस ग्रीक-प्रस्तर-मूर्ति के समान सुंदर, उन्नत, सुगंभीर मुखमंडल में वर्तमान नहीं थी। इस रुखाई से कामिनी के मर्म में तीक्ष्ण वेदना पहुँची, पर उस वेदना में भी कितना आनंद था! पल-भर में कामिनी का पहाड़-सम्बन्धी सारा भय जादू की माया की तरह अन्तर्हित हो गया। उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि इस पुरुष की छत्रच्छाया में रहने से त्रिभुवन में उसके लिए कोई भय नहीं रह सकता। चारों ओर की जो पर्वतमाला अब तक उसके हृदय में भीति का संचार कर रही थी, वह अब उसे अभूतपूर्व आनंद प्रदान करने लगी और उसके सौंदर्य पर वह विमुग्ध हो गयी। वह मिनट-मिनट भर के बाद अपने

पति की ओर ताकती जाती थी। बीच में जब एक बार चार आँखें हो पड़ती थीं, तो उस स्थिर दृष्टि की मर्मबेधी तीक्ष्णता उसका कलेजा चीरे डालती थी और मध्याह्न के सूर्य के समान उनके प्रोज्वल प्रकाश से उसकी आँखों में चकाचौंध लग जाता था।

गरम-पानी के स्टेशन में जब मोटर ठहरी, तो उसके पति ने नीचे उतरकर अपने छोटे भाई से कहा—"गोविंद, उससे पूछो कि कुछ खावेगी या नही।" कैसा स्पष्ट सुदृढ़ वह कंठ था! पर "उससे पूछो!" स्वयं पूछने में क्या हानि थी? और यह अनादर-सूचक सर्वनाम! "उनसे" क्यों नहीं? आज तक कभी कोई व्यक्ति इस प्रकार का अनादर-व्यंजक शब्द उसके लिए काम में नहीं लाया था। हाय रे स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की झूठी कल्पना!

उसके देवर ने मधुर संकोचभरी मुसकान के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्वक पूछा—"भाभीजी, क्या खाइयेगा?"

प्रेम-पुलक से कामिनी का हृदय गद्गद हो आया। उसे इस बात का गर्व हुआ कि वह आज इस किशोर-वयस्क बालक की भाभी बनकर एक नये सम्बन्ध के स्नेह-पाश में बँध गयी है।

उसने कहा—"मैं इस वक्त कुछ नहीं खाऊँगी, बिलकुल भूख नहीं है।"

उसके पति ने उसका उत्तर सुन लिया था। बोले—"गोविंद, कहो कि कल भी कुछ नहीं खाया। इस वक्त कुछ-न-कुछ जरूर खा लेना चाहिए। पूछो कि चाय पियेगी या नहीं।"

यह क्या प्रेम-जनित सहानुभूति थी? या केवल कर्त्तव्य का पालन?

गोविंद ने पूछा—"भाभीजी, क्या लाऊँ?"

कुछ सोचकर कामिनी ने कहा—"टी-टोस्ट।"

आश्चर्यचकित होकर गोविंद हुक्म की पाबंदी के लिए चला गया।

* * * *

अल्मोड़े पहुँचने पर शाम को सज-धजकर बारात निकली। कामिनी की पालकी एक हरे पर्दे से ढक दी गयी थी। यद्यपि इस संबंध में उसकी राय नहीं ली गयी थी, तथापि यह बात उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं थी। नव-विवाह के अवसर पर इतने पुरुषों के सामने बेपर्दा होकर रहने का साहस उसे आज बिलकुल नही होता था। क्या उसके पूर्व जन्म का संस्कार अचानक जाग पड़ा था? उसे यह सोचकर हँसी भी आती थी और दुःख भी होता था कि स्त्री-स्वाधीनता के सम्बन्ध में उसका स्वप्न आज चरमावस्था को पहुँच गया है। दैव की विडंबना और किसे कहते हैं!

जब वकील साहब के मकान पर बारात पहुँची, तो एक अवस्थाप्राप्त सुसभ्य, सुसज्जित महिला ने उसका हाथ पकड़कर उसे पालकी से उतरने में सहायता दी। वह समझ गयी कि संभवतः वह उसकी सास होंगी। अनेक सुसज्जिता, रूपवती, नवेली, अलबेली स्त्रियाँ वर और वधू के स्वागत के लिए खड़ी थीं। सभी उसका मुँह देखने के लिए उत्सुक जान पड़ती थीं। उन सब स्त्रियों का अकथनीय रूप देखकर वह चकित थी और अपने साधारण रूप का खयाल करके संकोच से गड़ी जाती थी। उसे देखकर स्त्रियाँ आपस में कानाफूसी करने लगीं। प्रकट में किसी ने कहा—"कुछ बुरी नहीं है।" कोई बोली—"कुछ काली है।" किसी ने ताना देते हुए कहा—"अभी कमसिन है!" इसी तरह नाना प्रकार की सम्मतियाँ व्यक्त होने लगीं। दुःख, शोक और लज्जा से कामिनी को चक्कर-सा आने लगा। उसकी सास सबको ढकेलकर उसे भीतर ले जाते हुए बोलीं—"जैसी कुछ भी है, वह मेरी बहू है। इस वक्त उसे दिक मत करो। जरा दम तो लेने दो।" कामिनी ने सोचा कि उसकी स्नेहमयी फूफी सास के रूप में यहाँ आ पहुँची हैं।

सब मंगल-कर्मों से निवृत्त होने पर जब कामिनी को एक अलग कमरे में आराम करने के लिए बिठाया गया, तो उसकी सास, जेठानी, ननद और घर के बाल-बच्चों ने उसे घेर लिया। सबकी हर्षभरी आँखों में कैसा प्रेम और उल्लास झलक रहा था! बच्चे उसके अंग-स्पर्श के लिए अत्यन्त उत्सुक जान पड़ते थे और उसके बिलकुल निकट बैठकर किसी-न-किसी बहाने

से उसके शरीर पर हाथ लगा लेते थे। कामिनी ने एक छः-सात साल की लड़की को अपनी गोद में बिठाया और उसे पुचकारकर उसका नाम पूछा। लड़की कुछ धृष्ट जान पड़ी। वह अत्यंत विश्वासपूर्वक उसकी गोद में लेट-कर दोनों पाँवों को उल्लास के साथ ऊपर उछालती हुई बोली—"चंद्र-कांता।"

कामिनी ने उसे स्नेहपूर्वक खिझाते हुए कहा—"चंद्रकांता कहते हैं चंद्रमा की दुलहिन को। चंद्रमा क्या तुम्हारा दूल्हा है ?"

वह आश्चर्य से एक बार अन्य स्त्रियों की ओर देखकर फिर कामिनी की ओर ताककर मुस्कराते हुए बोली—"हटो ! चंद्रमा तुम्हारा दूल्हा होगा !"

इतने में बाहर दरवाजे पर जूतों की आवाज सुनायी दी। कामिनी ने आँख उठाकर देखा, तो वही स्थिर, शांत, अनिर्वचनीय मूर्ति थी। इस समय कमान के समान भौंहें कम तनी हुई थीं और शरत् के संध्याकाश के समान निर्मल आँखों की मर्मभेदी तीक्ष्णता एक सरस मधुर हास्यरेखा से कुछ मंद पड़ गयी थी।

सौ जान से उस मूर्ति की बलैयाँ लेती हुई कामिनी आँखें नीचे की ओर करके नाखून से दाहने पाँव का अँगूठा खुरचने लगी। चंद्रकांता बोली—"चाचा के सामने घूँघट क्यों नहीं काढ़ती, चची ?" सब स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। कामिनी कटाक्ष से लड़की की ओर देखने लगी।

कामिनी की जेठानी, चंद्रकांता की अम्मा, अपने देवर से बोलीं—"मैं तुम्हें बधाई देती हूँ, लाला।"

दरवाजे पर से उत्तर मिला—"मुझे बधाई देने में कोई लाभ नहीं है, भाभी। अम्मा को दो। मैंने तो सिर्फ कर्त्तव्य का पालन किया है।"

कामिनी की रीढ़ के भीतर से होकर बरफ के मानिंद एक ठंढी रूखी हवा बह गयी !

उसकी सास ने स्नेह-जड़ित कंठ में अपने पुत्र से कहा—"तू लाख बरस जीते रहियो बेटा। तूने मेरी लाज रख दी। कैसी चाँद-सी बहू आयी है, जरा देख। सारे घर में कैसा उजाला हो गया है !"

"तब तो अम्मा, बत्ती जलाने की कोई जरूरत नहीं है। बुझा दूँ ?"

सब स्त्रियाँ फिर एक बार खिलखिला उठीं। कामिनी के सारे शरीर में काँटे चुभने की-सी सुरसुराहट मालूम होने लगी।

अम्मा ने कहा—"नहीं ज्योति, मैं हँसी नहीं करती। कैसी गुणवती बहू है, यह बात तुम सब लोग पीछे मालूम करोगे।"

* * * *

उस रात कामिनी को बहुत देर तक नींद नहीं आयी। "मैंने सिर्फ कर्त्तव्य का पालन किया है"—पति का यह कथन काँटे की तरह उसके हृदय में गड़ गया था। वह सोचने लगी कि कर्त्तव्य की यह कठोरता कब तक रहेगी ? स्नेह-रस कब उस कठिन हृदय से चूने लगेगा ? वह देव-रूप तब क्या सचमुच इतना निर्जीव है ? अभिमान से उसकी छाती भर आयी और आँखें डबडबा आयीं।

रात को उसे अकेले एक अलग कमरे में सोना पड़ा। पता नहीं, ऐसा प्रबन्ध क्यों किया गया। उसकी ससुराल में रीति ही यही थी या किसी विशेष व्यक्ति के आदेशानुसार ऐसा किया गया ?

दूसरे दिन सवेरे उसकी आँखें देर में खुलीं। ससुरालवाले उसकी आलस्य-प्रियता देखकर मन में क्या सोचेंगे, इस चिंता से वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसकी समवयस्का ननद जयंती ने आकर पूछा—"भाभीजी, रात को नींद तो अच्छी तरह आयी थी ?" कैसा स्नेह-मधुर उसका कंठ था! कैसी कोमलता उसके सुंदर मुख में विराजमान थी! भाई के रूखे व्यंग का लेश भी उसमें नहीं पाया जाता था। पर हाय, उस रुखाई में जो उत्कट आकर्षण था, वह इस स्नेह-हास में कहाँ!

उसने उत्तर दिया—"हाँ, खूब अच्छी नींद आयी।"

जयंती दिन-भर उसी के पीछे लगी रही। नहाने-धोने, खाने-पीने, उठने-बैठने में वह उसका साथ देती रही। दोनों के बीच में हेल-मेल बढ़ गया। खूब घुल-घुलकर बातें होने लगीं। कामिनी को मालूम हुआ कि

उसने यद्यपि किसी अँगरेजी स्कूल में नहीं पढ़ा है, तथापि हिंदी और संस्कृत का उसे अच्छा बोध है और अँगरेजी भी थोड़ा-बहुत समझ लेती है। पिछले साल उसका विवाह हो गया था, पर अपने विवाह की चर्चा में वह विशेष उमंग नहीं दिखलाती थी—इस सम्बन्ध में वह कुछ दुःखित-सी जान पड़ती थी।

जयंती कामिनी को मकान के सब कमरे एक-एक करके दिखा रही थी। पहले उसे अपना कमरा दिखाया, फिर बड़ी भाभी के कमरे में उसे ले गयी, फिर अम्मा के कमरे में। अंत को जिस कमरे में ले गयी, उसकी दीवार पर टँगे हुए एक चित्र को देखते ही वह समझ गयी कि यह किसका कमरा है। कमरे में इस समय कोई नहीं था। "इनलार्ज्ड फोटो" में वही मनोमोहिनी मूर्ति देखकर पुलक-लज्जा से वह व्याकुल हो उठी। कमरे की दोनों तरफ किताबों से भरे हुए दो "रैक" रक्खे हुए थे। एक मोटी किताब उठा कर वह खोलकर देखने लगी। डाक्टरी की किताब थी। भीतर टाइटिल पेज पर बड़े-बड़े स्पष्ट अक्षरों में नाम लिखा था—ज्योतिश्चंद्र त्रिपाठी। काँपते हुए हाथों से उसने उसे उठाकर रख दिया। फिर साहस करके एक-एक करके सब किताबें देखने लगी। सब डाक्टरी की किताबें भरी पड़ी थीं। मन में मुस्कराकर कहने लगी—"डाक्टर लोग दुनिया की और किसी भी बात से परिचित नहीं रहते।" पर दूसरे "रैक" की किताबों को जब देखने लगी, तो दंग रह गयी। राजनीति, विज्ञान और फिलासफी के एक-से-एक कूट ग्रंथ देखकर उसकी बुद्धि चकरा गयी। श्रद्धा और संभ्रम से उसका हृदय झुक गया।

स्वच्छंद, शुभ्र चादर से आवृत स्प्रिंग की चारपाई सामने पड़ी थी। एक बार भूल से उस पर बैठने ही को थी, पर एकदम सँभल गयी। चारपाई के नीचे एक हारमोनियम रक्खा था। जयंती ने कहा—"गाना सुनाइये, भाभीजी। बड़ी इच्छा हो रही है।" अनमनी-सी होकर बिना किसी एतराज के कामिनी ने हारमोनियम उठा लिया और बैठकर बजाने लगी। "सा़ रे ग म प ध नि सा—सा नि ध प म ग रे सा"—केवल इतना ही

बजा सकी थी कि 'फट-फट-फट' जूतों की आवाज होने लगी। दो-तीन मित्रों के साथ ज्योति आ खड़ा हुआ। मित्रगण कामिनी को देखकर परम पुलकित-से जान पड़े, पर ज्योति की आँखो में वही उत्कट अवज्ञा का भाव वर्तमान था। पर घृणा नहीं थी। कामिनी का दिल जोरों से धड़कने लगा। वह उठ खड़ी हुई। ज्योति ने और उसके मित्रो ने रास्ता छोड़ दिया। जयंती के साथ वह बाहर चली आयी।

* * * *

डाक्टर साहब ने अपना जो आदमी उसके साथ अल्मोड़े भेजा था, उसी के साथ एक हफ्ते बाद वह बनारस को वापस चली आयी। मुक्ति! मुक्ति! इस मुक्ति की उमंग में उसे पहाड़ की ठंढी हवा से बनारस की लू भी शांतिप्रद मालूम पड़ती थी। पर क्या वेदना लेकर वह अल्मोड़े गयी थी और क्या वेदना लेकर आयी! सखी-सहेलियाँ उससे मिलीं और ताना देने लगीं; पर इस व्यंग का असर उस पर बिलकुल नहीं होता था। वह उनके तीखे वचनों के उत्तर में केवल मंद-मंद मुस्करा देती थीं। जिस नये स्नेह-प्रेममय संसार से वह परिचित हो गयी थी, उसकी शांत छाया में सब कड़वी बातें सही जा सकती थीं। विनोदशंकर उससे मिलने आया, पर उसका सर्वांग उसे देखकर निविड़ घृणा से जर्जरित हो उठा। उसका अंतःकरण उससे कहने लगा—"आज तक किसी वास्तविक पुरुष से तुम्हारा परिचय नहीं था। पर अब जिस देवरूप का प्रतिबिम्ब तुम्हारे हृदय पर पड़ गया है, उसे मिटा सके, ऐसा पुरुष त्रिभुवन में कोई नहीं है।"

वह जिस तीक्ष्ण किन्तु पुलक-प्रद वेदना की छाया को अपने हृदय में अपने साथ पहाड़ से लाई थी, वह दिन-पर-दिन बढ़ती चली गयी। संसार के किसी भी वाह्य कर्म में अब उसका जी नहीं लगता था। राजनीतिक चर्चा, सामाजिक उत्सव, पारिवारिक सुख-दुःख सब उसके लिए तुच्छ हो गये थे। हर घड़ी, हर काम के बीच में अपने मानस-देवता की निष्ठुर प्रतिमूर्ति उसके हृदय में जाग-जाग पड़ती थी और रह-रहकर उसका जी चाहता

था कि उस मूर्ति के चरणों पर गिड़गिड़ा पड़े और जी भरकर रोवे। कैसे उस पाषाण-देवता का हृदय पिघले, केवल यही चिन्ता उसे रात-दिन विकल कर रही थी।

एक दिन गया, दूसरा दिन गया, इसी तरह तीसरा दिन भी चला गया। एक मास बीता, दूसरा बीता, इसी तरह प्रायः छः महीने बीत गये। पर हृदय को कुछ भी सांत्वना किसी प्रकार की नहीं मिली। व्याकुल वेदना से हृदय पागलों की तरह पछाड़ खाता चला गया।

एक दिन न-जाने उसे क्या सूझी, एक पत्र जयंती को लिखा। अनेक अर्थहीन बातें लिखकर अंत को लिखा कि अपनी और घर के अन्यान्य व्यक्तियों की कुशल-मंगल लिख भेजना। बहुत दिनों तक पत्र का इंतजार करती रही। किन्तु जब पत्र मिला तो उत्तर पढ़कर बहुत निराश हुई। उसके प्रयोजन की असली बात उसमें नहीं थी। उसके पत्र का सार केवल इतना ही था—"आपका पत्र पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँ की सब कुशल अच्छी है। कांता आपको बहुत याद करती है।" उसकी छोटी अम्मा ने वह पत्र देखा। बोली—"तेरा पति भी बड़ा निखट्टू है। इतने महीने हो गये, एक चिट्ठी उसने तुझे नहीं लिखी।" कुछ सोचकर उन्होंने फिर कहा—"अच्छा, एक काम क्यों नहीं करती। तू खुद उसे एक चिट्ठी क्यों नहीं लिखती? देखें, क्या जवाब देता है।"

यह प्रस्ताव कामिनी को जँचा। उल्लासपूर्वक बोली—"क्या सच कहती हो छोटी अम्माँ? लिखूँ?"

"हर्ज ही क्या है!"

वह तत्काल अपने कमरे में जाकर किवाड़ बंद करके पत्र लिखने बैठ गयी। बहुत-सी बातें सोचीं, पर कोई ठीक नहीं जँची। अंत को केवल इतना ही लिख सकी—"प्रियतम, धृष्टता क्षमा कीजिएगा, आपकी कुशल कहीं से न मिलने के कारण चिन्ता हुई है। क्या इस अभागिनी की चिन्ता दूर कीजिएगा?" लखनऊ मेडिकल कालेज का पता लिखकर स्वयं डाक में जाकर पत्र डाल ही तो आयी।

एक सप्ताह तक उसका हृदय प्रतीक्षा में धड़कता रहा। अंत को पत्रोत्तर मिला। काँपते हुए हाथों से उसने पढ़ा—"तुम बड़ी बेहया हो। बिना गुरुजनों की आज्ञा के मुझे पत्र लिखने का साहस कैसे किया? किसने तुम्हें पत्र लिखने की राय दी है, लिखना।" पत्र के सब अक्षर उसकी आँखों के आगे नाचने लगे और सारी पृथिवी घूमती हुई मालूम देने लगी।

"तुम बेहया हो!" पति को पत्र लिखने से ही क्या स्त्री बेहया हो गयी? क्या उसे इतना भी अधिकार नहीं है? उसने सोचा कि ऐसे पुरुष को पत्र लिखने का विचार करना ही पाप है। क्या विनोदशंकर उसे कभी इस प्रकार तिरस्कृत करने का साहस कर सकता था? अपमान और क्रोध से उसका सारा शरीर थर-थर काँपने लगा।

रात-भर वह बेकली से छटपटाती रही। बार-बार उस पत्र के वाक्यों को मन में दुहराती थी। अचानक उसे न-जाने क्या सूझी, बत्ती जलाकर फिर एक बार वही पत्र पढ़ने लगी! अंतिम वाक्य—"किसने तुम्हें पत्र लिखने की राय दी है, लिखना"—उसे एक विशेष अर्थ से भरा हुआ मालूम पड़ने लगा। यह क्या उसे फिर से पत्र लिखने को उत्साहित करने का संकेत नहीं है? अन्त का "लिखना" शब्द उसे गूढ़ अर्थ का द्योतक जान पड़ा। उसने निश्चय कर लिया कि एक पत्र कल फिर लिखेगी और उसमें खोटी-खरी बातें सुनाकर अपने अपमान का बदला लेगी!

दूसरे दिन जब "अपमान का बदला" लेने के लिए पत्र लिखने बैठी, तो उच्छ्वसित आवेग के कारण उसकी आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे। उसने लिखा—"प्रियतम, आपका पत्र मिलने पर जो हर्ष हुआ, उसका वर्णन नहीं कर सकती। मैंने छोटी अम्मा की आज्ञा लेकर आपको पत्र लिखा है। मैं अभी अबोध हूँ, इसलिए अपराध के लिए आपसे क्षमा चाहती हूँ। एक विशेष बात मैं आज आपको लिखना चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं स्वयं-सेविकाओं के दल में भर्ती होकर देश की सेवा करूँ। मैं शीघ्र ही ऐसे कार्य में हाथ डालना चाहती हूँ, जिससे बहुत संभव है, मुझे दो-एक साल के लिए जेल जाना पड़े। आपकी क्या राय है, लिखिये। जेल जाने

से पहले मैं आपसे एक बार मिल लेना चाहती हूँ। क्या यह संभव नहीं है?" वास्तव में वह जेल जाना नहीं चाहती थी, पर पत्र में उसने ऐसा क्यों लिखा, इसका कारण वही जाने।

उत्तर मिला—"छोटी अम्मा की राय लेकर तुमने जो पत्र लिखा, ठीक ही किया। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम स्वयंसेविका बनना चाहती हो, इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है! देश के लिए जेल जाना पुण्य है। मेरे लिए इस समय आना संभव नहीं है।"

मानी पुरुष के अभिमान की कोई सीमा भी होती है! यह उत्तर पढ़कर कामिनी को न दुःख ही हुआ और न आनंद। धीरे-धीरे एक निर्विकार जड़ता ने उसके चित्त को आ घेरा। दो-तीन हफ्ते तक वह इसी अवसाद-ग्रस्त अवस्था में हृदय पर पत्थर का भार रक्खे रही। उसने प्रण कर लिया कि अब कभी पत्र न लिखेगी। उसने सोचा कि जिस प्रकार उसके पति को उसके प्रति संपूर्ण अवज्ञा प्रदर्शित करने का अधिकार है, उसी प्रकार उसे भी उनके प्रति तुच्छता का भाव प्रकट करने का, यहाँ तक कि उनसे घृणा करने का, पूरा अधिकार है। वह हृदय को दृढ़ रखने की चेष्टा करने लगी। पर हाय! वज्र-कठिन पुरुष के आगे नारी का अभिमान कब तक टिक सकता है! उसे तो अब मालूम हो गया था कि संसार के सब पुरुष विनोदशंकर की प्रकृति के नहीं होते, जिन्हें वह अपने पैरों तले लुटा सके। हृदय के पाषाण-भार को अधिक न सह सकने के कारण उसने फिर एक बार बोझ हलका करने की चेष्टा की। जिस हृदयहीन, असाधारण, दृढ़ि-शक्ति-संपन्न, कठिन पुरुष ने अपनी उत्कट अवज्ञा द्वारा अनिवार्य वेग से उसे आकर्षित कर लिया था, उसे किसी-न-किसी रूप से द्रवीभूत करने की अदम्य इच्छा उसके मन में पैदा हो गयी थी।

उस दिन वह दिन-भर हिमालय के शिखर की तरह उस उन्नत मूर्ति का स्मरण करके बिस्तर पर लेटे-लेटे रोती रही और सारी शय्या आँसुओं से भिगो डाली। संध्या को उठकर, कागज-कलम लेकर पत्र लिखने बैठी। उसने लिखा—

"प्रियतम, शक्तिहीन को इस तरह सताना क्या उचित है ? आप एक धीर, वीर, गंभीर पुरुष हैं; मैं एक अबोध, अबला नारी हूँ। इस दुःखिनी के प्रति ऐसा कठिन व्यवहार क्या आपको शोभा देता है ? आप पुरुष हैं, आपके लिए संसार में अनेक कर्म, अनेक आकांक्षाएँ पड़ी हैं। पर मेरे सर्वस्व ! मेरे जीवन तो केवल आप ही हैं। मैं दुःखिनी हूँ। मेरी माता नहीं ह, आपकी अम्मा के रूप में मैंने अपनी अम्मा को पाया है; मेरे भाई नहीं है, आपके छोटे भाई के रूप में मैंने अपना भाई पाया; मेरे कोई बहन नहीं है, आपकी स्नेहशीला बहन को पाकर मेरी वह आकांक्षा पूरी हुई है। स्नेह के इन नये संबंधों से मेरी तृषित आत्मा को जो शांति मिली है, उसे मैं कैसे आपको समझाऊँ। पर जिस देवता को लेकर इस स्नेह-सूत्र में मैं अपना हृदय गूँथने में समर्थ हुई हूँ, उसकी निर्मम कठोरता का भार मैं कब तक सहने की शक्ति रख सकती हूँ ! प्रियतम, मैं आपके चरणों की दासी हूँ। अपने हृदय के ऊँचे आसन पर यदि आप मुझे स्थान नहीं दे सकते तो अपने पैरों-तले तो मुझे लोटने दीजियें ! प्रतिपल मुझे रुलाने में आपको क्या आनंद मिलता है ? मेरा सारा अभिमान आपके पैरों-तले चूर-चूर हो गया है। क्या आप मुझे इससे भी अधिक अवमानित देखना चाहते हैं ?—चरणों की दासी, कामिनी।"

अत्यंत उत्सुकतापूर्वक वह इस पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। जो दिन नियत था, उस दिन जब पत्र नहीं मिला, तो वह क्षुब्ध होकर बैठी रह गयी, पर हताश नहीं हुई; क्योंकि उसे विश्वास था कि उत्तर चाहे कैसा ही रूखा क्यों न हो, वह मिलेगा अवश्य। तीन-चार दिन और बीत गये, पर कोई पत्र नहीं आया। उत्तर न देने से अधिक घोर अपमान और कोई नहीं हो सकता था। पाँचवें दिन जब अत्यंत श्रांत क्लांत होकर भग्नावस्था में अपने कमरे में लेटी हुई थी, तो नौकर ने बाहर से किवाड़ खटखटाया—"बीबी, किवाड़ खोलो। एक चिट्ठी है।"

हड़बड़ाती हुई कामिनी उठ बैठी। किवाड़ खोला। तीन पत्र थे। एक पत्र उसकी किसी सहेली का लिखा मालूम हुआ, दूसरा उसके किसी पुरुष

मित्र का—दोनों को उसने जमीन पर पटक दिया। पर तीसरे पत्र के लिफाफे पर अल्प दिनों से परिचित किंतु चिरअभिलषित हस्तलिपि थी। किवाड़ बंद करके पत्र खोलकर पढ़ने लगी—

"प्यारी कामिनी, तुमने यह कैसा पत्र लिखा! मेरे इतने दिनों के संयम—इतने दिनों की दृढ़ता का बाँध सब टूट गया। मुझे गर्व था कि मेरा यह इस्पात का हृदय कभी नहीं झुक सकता, पर अपनी आर्त करुणा से क्यों तुमने इसे पिघला कर पानी-पानी कर दिया! तुम्हारा पत्र पढ़ने पर, मेरी आँखों में, आज जीवन में प्रथम बार हलके वाष्प का जाल छा गया। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा हृदय इतना बड़ा है। मैं तुम्हें केवल एक उद्धत, शिक्षाभिमानिनी स्त्री समझता था। क्यों तुमने मुझे आज इतना दुर्बल बना दिया? यह मेरी किस शत्रुता का बदला तुमने लिया? आज तुम मेरे चरणों की दासी नहीं हो, बल्कि मैं तुम्हारे चरणों का दास बनने के लिये उतावला हो उठा हूँ। तुमसे मिलने की उत्कट इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हो गयी है। गौना होने के पहले बनारस न आऊँगा, यही सोचा था; पर अब शीघ्र ही आना होगा।—ज्योतिश्चंद्र।"

अदम्य, अप्रत्याशित उल्लास के आँसुओं से कामिनी की आँखें डब-डबा आयीं। विजय! इतने दिनों बाद उसकी परिपूर्ण विजय हुई! उसने पत्र को छाती से लगाकर जकड़ लिया। फिर जिस स्थान पर ज्योति ने अपने हस्ताक्षर किये थे, उस स्थान को चूमा, फिर चूमा, फिर-फिर चूमा। होठों पर स्याही लग गयी, पर इच्छा पूरी नहीं हुई। फिर श्रांत होकर लेट गयी और विकल स्वप्नों के मोह से उसका हृदय आच्छन्न हो आया।

पतिव्रता या पिशाची ?

चारों मित्र टेनिस खेलने के बाद थके हुए आकर डा० भार्गव के यहाँ इधर-उधर की गप्पें उड़ा रहे थे। थकान भूलने के लिए वे लोग एक चट-पटे विषय की चर्चा की ओर प्रवृत्त जान पड़ते थे। स्थानीय सनातन-धर्म हाई-स्कूल के किसी अध्यापक महाशय की पत्नी के सम्बन्ध में शहर में तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थीं। उसी को लेकर पूर्वोल्लिखित मित्र-मण्डली में वाद-विवाद चल रहा था।

मुन्शी किशनलाल, जो उक्त विद्यालय में भूगोल तथा इतिहास पढ़ाते थे, बोले—"मैं तो जगदीशप्रसाद को बहुत दिनों से जानता हूँ। उनके 'फेमीली एफेयर्स' से भी बहुत कुछ परिचित हूँ। ननिहाल के रिश्ते से मेरी स्त्री भी उनके यहाँ अक्सर आया-जाया करती है। उसके मुँह से उनकी स्त्री के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ सुना था, उससे तो मेरा यही खयाल था कि वह विशेष सुशीला और सच्चरित्रा गृहिणी होगी। केवल मेरा ही नहीं, जगदीश-प्रसाद के मुहल्ले के सभी लोगों का आज तक यही खयाल था। समझ में नहीं आता कि आज अचानक कैसे उनकी मति विपरीत हो गयी! उनके समान पतिव्रता तथा गम्भीर-प्रकृति स्त्रियों का भी अगर ऐसा पतन सम्भव हुआ तो स्वभाव से ही चञ्चला स्त्रियों पर कैसे विश्वास स्थापित किया जा सकता है!" यह कह कर उन्होने एक लम्बी सांस ली, जिससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि उन्हें अपने घर की अवस्था के सम्बन्ध में भी कुछ सन्देह है।

पण्डित दीनदयालु शर्मा, जो स्थानीय इण्टरमीडियेट कालेज में अंगरेजी पढ़ाते थे, बोले—"शेक्सपीयर ने क्या झूठ कहा है, साहब,—Frailty, thy name is woman! स्त्री-जाति पर विश्वास करने की सलाह कभी किसी ज्ञानी पुरुष ने नहीं दी है।"

डा० भार्गव बोले—"यह आप स्त्रियों पर सरासर अन्याय करते हैं, शर्माजी ! आप 'जेनेरेलाइज' क्यों करते हैं ? कुछ विशेष स्त्रियों के दोष के कारण आप सारी स्त्री-जाति को ही कलङ्कित सिद्ध करना चाहते हैं ! मैं तो पुरुषों की घोर दुश्चरित्रता की तुलना में स्त्रियों को बहुत उन्नत और श्रद्धा के योग्य समझता हूँ।"

मुन्शी किशनलाल ने कहा—"मेरे मन में भी स्त्री-जाति के प्रति आज तक बड़ी श्रद्धा थी; पर जगदीशप्रसाद की स्त्री के सम्बन्ध में जो अफवाह फैली है, अगर वह सच निकली तब तो मुझे स्त्रियों के सम्बन्ध में अपनी धारणा एकदम बदलनी पड़ेगी। ऐसी पतिव्रता स्त्री का अगर यह हाल है···"

यहाँ पर डा० कपूर ने मुन्शीजी की बात काट कर अपना वक्तव्य प्रारम्भ कर दिया। डा० कपूर डा० भार्गव के मित्र थे। दोनों ने साथ ही लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में पढ़ा था। वह कानपुर में प्रैक्टिस करते थे। इधर कुछ समय से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इसलिए हवा-बदली के लिए इस शहर में आये हुए थे। वह मानोवैज्ञानिक तथा 'हिप्नोटिक' उपायों से बीमारियों का इलाज करने के लिए प्रसिद्ध थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावोत्पादक था, उनकी आँखों की दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण थी, जिससे उनकी प्रखर बुद्धि का परिचय मिलता था। वक्तृत्व-कला में तो वह अपना सानी नहीं रखते थे। उन्होंने कहा—"देखिये साहब, आप लोगों का यह भ्रम है कि पतिव्रता स्त्री कभी फिसल नहीं सकती। मेरी धारणा और अनुभव बिलकुल इसके विपरीत हैं। मेरा तो यह विचार है कि जो स्त्री जितनी पतिव्रता होगी, उसके फिसलने का उतना ही डर है। कारण यह है कि पतिव्रता स्त्री—अर्थात् वह स्त्री, जो अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्यार करती है—स्वभाव से ही कोमल-हृदय, स्नेहशीला और भावुक होती है, यथार्थ प्रेम के रस का जो स्वाद उसे प्राप्त होता है, वह दूसरी स्त्रियों को प्राप्त नहीं हो सकता। इस कारण इस रस को अधिक-अधिक प्राप्त करने की आकांक्षा सदा उसके मन में बनी रहती है, और विशेष-विशेष अवसरों पर इस सम्बन्ध में वह सामान्य प्रलोभन को भी दमन करने में समर्थ नहीं होती।"

डा० कपूर का यह अद्भुत, असाधारण वक्तव्य सुनकर सब लोग स्तम्भित रह गये। डाक्टर साहब के मुख का सुगम्भीर भाव देखने से यह सन्देह नहीं किया जा सकता था कि वह व्यङ्ग के बतौर ऐसा अनोखा मत प्रकट कर रहे हैं। श्रोताओं की चकितावस्था देखकर वह बोले—"आप लोगों को मेरी बात अवश्य ही अधार्मिक और अविश्वसनीय मालूम होगी। पर मैं इस सम्बन्ध में प्रमाण के बतौर अपने एक घनिष्ठ मित्र की अत्यन्त दयनीय जीवन-कथा आप लोगों को सुनाना चाहता हूँ।"

सब लोग उत्सुकतापूर्वक डाक्टर साहब के मुख की ओर ताक रहे थे। डाक्टर साहब ने अपनी कहानी इस प्रकार प्रारम्भ की—

"मेरे मित्र का नाम सूरजप्रसाद था। वह कानपुर की एक मिल में नौकर थे। यह मैं तब की बात कह रहा हूँ, जब वह अपनी घरवाली को लेकर कानपुर में रहते थे। इसके पहले (उनकी जबानी मुझे यह बात मालूम हुई थी) वह बहुत जगह ठोकरें खा चुके थे। उनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इसलिए बहुत भटकने के बाद जब उन्हें यह नौकरी मिली तो उन्हें केवल परम सन्तोष ही नहीं, अपार हर्ष हुआ। पहले मास का वेतन मिलते ही उन्होंने घर से अपनी स्त्री को बुला भेजा। प्रायः आठ वर्ष पहले उनका विवाह हो चुका था। इन आठ वर्षों में वह कभी साल भर लगातार अपनी स्त्री के साथ नहीं रहे थे। अन्त को एक दिन घर छोड़कर प्रायः तीन साल तक एक प्रकार से लापता रहे। न तो घर की कोई खबर उन्हें मिली, न कोई चिट्ठी उन्होंने कभी घर को लिखी। इधर उनकी स्त्री को किसी तरह पता चल गया था कि वह कानपुर में हैं। उसने पत्र पर पत्र भेजना शुरू कर दिया, और प्रत्येक पत्र में तकाजा रहता था कि वह जल्दी उसे अपने पास बुला लें, नहीं तो वह विष खाकर मर जायेगी, इत्यादि-इत्यादि।

"खैर साहब, आखिर वह अपने पति के साथ कानपुर आ ही पहुँची। दीर्घ विरह के बाद पति-पत्नी का जो मिलन हुआ, उसके आनन्द का अनुभव आप लोग सहज में कर सकते हैं। सूरजप्रसाद की पत्नी का नाम

शान्ति था। उसकी उम्र उस समय बीस वर्ष से अधिक हो गयी थी, पर ऐसे नाटे कद की और दुबली-पतली थी कि अठारह वर्ष से अधिक उसकी अवस्था नहीं मालूम होती थी। बड़ी हँसमुख और चञ्चल थी और सब को बच्चों-सी प्यारी लगती थी। मैं आप लोगों को यह जतलाना भूल गया हूँ कि मैं सूरजप्रसाद के बहुत पास पटकापुर में ही रहता था, और उनके यहाँ मेरा आना-जाना अक्सर रहता था। उनका सङ्ग मुझे इतना पसन्द था कि मैं उसका कुछ वर्णन नहीं कर सकता। घड़ी-भर भी अवकाश पाता तो चट उनके पास चला जाता। कारण यह था कि वह बड़े ही सहृदय, प्रेमी और अत्यन्त सरल-स्वभाव थे। पर मूर्ख नहीं थे। बड़े अध्ययनशील और विचार-वान् थे। कुछ भी हो, उनके यहाँ मेरा आना-जाना रहने से उनकी स्त्री की प्रकृति को पहचानने की विशेष सुविधा मुझे प्राप्त थी। अपने चञ्चल, मर्मभेदी कटाक्ष-बाण वह बीच-बीच में मुझ पर भी छोड़ती थी, पर मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे प्रति उसके इस भाव में पाप-प्रवृत्तिका लेश भी नहीं था—वह स्वभाववश अपने अनजान में ऐसा करती थी।

"सूरजप्रसाद की जबानी मैंने सुना है कि जब वह पहले-पहल कानपुर आयी तो ऐसी उमङ्ग, ऐसा प्रेम, ऐसी भावुकता का तूफानी मेंह अपने साथ लायी कि उनका हृदय उसने तर-बतर कर दिया। कुछ दिनों तक तो नित्य उनके पाँवों को कुछ देर तक अपने सिर पर रखने का नियम उसने बना लिया था। वह कभी उन पाँवों को सहलाती, कभी चूमती, कभी छाती से लगाती, कभी सिर पर रखती। कभी उन्हें धोकर उस चरणोदक से मार्जन करती। अंगरेजी में जिसे 'कॉक्वेट्री' कहते हैं, उस कला में भी वह निपुण थी, पर उसकी इस प्रेम-जनित चञ्चल हाव-भाव की कला में सहृदयता भी पूर्ण मात्रा में वर्तमान थी। इसलिए सूरजप्रसाद को उसने थोड़े ही दिनों में हर तरह मन्त्रमुग्ध कर लिया था! दीर्घ विरह के बाद उन्हें पत्नी का यह प्रेम एकदम नया जान पड़ने लगा, और ऐसा मालूम होने लगा, जैसे अभी-अभी उनका विवाह हुआ हो।

"कुछ महीने इसी प्रेमानन्द-जनित गद्‌गद, भावमग्न अवस्था और

मधुर आलाप-प्रलाप में बीत गये। शान्ति का साथ देने के लिए सूरजप्रसाद ने अपनी माँ को भी बुलाया था। पर उनकी मां ने जब देखा कि उनके बेटे पर बहू ने ऐसा 'जादू' कर दिया है कि उनके साथ दो-घड़ी सुख-दुःख की बातें करने का अवकाश भी उसे नहीं रहता—दफ्तर से वापस आते ही बहू के पास बैठ जाता है और उनसे कभी शिष्टाचार के बतौर भी तबीअत का हाल तक नहीं पूछता, तो उन्होंने घर वापस चले जाने का विचार कर लिया। एक दिन उनका छोटा लड़का आकर उन्हें अपने साथ घर ले गया। असल बात यह थी कि शान्ति अपने ऊपर सास की निगरानी से बिलकुल प्रसन्न नहीं थी। वह निर्द्वन्द्व अवस्था में एकाधिकारिणी रानी की तरह निर्मुक्त रहना चाहती थी। इतने दिनो तक सास, ननद, जेठानी, देवरानी के बीच बन्धन की दशा में रह कर वह अत्यन्त मानसिक कष्ट पा चुकी थी। अपने रूप-यौवन की बहार को पूर्णतया झलकाने और अपने प्रेम-पूर्ण हृदय के रस को इच्छानुसार छलकाने की उत्कट अदमनीय अभिलाषा उसे बहुत दिनों से तरङ्गित कर रही थी। इसलिए नाना तिरिया-चरित्रो से अपने सरल-हृदय पति को अपनी मुट्ठी में कर के वह पतिव्रता सूरजप्रसाद को मां के विरुद्ध भड़काने के उद्देश्य से निरन्तर उनके कानो में विष डालती जाती थी। पुत्र को मां के विरुद्ध करना कोई आसान काम नहीं है। इसी से शान्ति की निगूढ़ रहस्य-भरी बुद्धि का पता चल सकता है। वह वास्तव में 'जादू' जानती थी।

"मा के चले जाने पर सूरजप्रसाद को प्रारम्भ में कुछ दुःख हुआ, पर फिर वह अपनी मायामयी पत्नी के मोहन-मन्त्र के वश होकर उसके ऐन्द्र-जालिक बाहुपाश में पूरी तरह से आबद्ध हो गये। वह 'फीमेल इमेन्सिपेशन' के पक्षपाती थे; जब शान्ति उनके सामने किसी पुरुष से पर्दा करने लगती तो वह बलपूर्वक उसका घूंघट हटाने की चेष्टा करते। कोई मित्र जब उनसे मिलने आता तो उसे बेझिझक अपनी स्त्री के सामने अपने ही कमरे में बैठाते। इसलिए दफ्तर जाने पर स्त्री को उस मकान में अकेली छोड़ने में कभी किसी प्रकार की झिझक उनके मन में उत्पन्न नहीं होती थी। उनके घर में प्रति-दिन मेहमानो का आना जाना लगा रहता था। जब वह दिन

को दफ्तर चले जाते तो शान्ति अपने कमरे में स्प्रिंग की चारपाई पर सिर नङ्गा करके खुले हुए बालों को फैला कर, एक किताब हाथ में लेकर पढ़ने का बहाना कर के नागन की तरह लहराने लगती। उसके कमरे का दरवाजा खुला रहता, और बरामदे से होकर आने-जाने वाले व्यक्तियों की दृष्टि उस पर पड़ती रहती। उन अतिथियों में से बहुत से ऐसे होते, जिन्हें देखकर वह ससुराल में डेढ़ हाथ का घूंघट तान लेती थी। पर कानपुर में एक तो स्वच्छन्द वातावरण ने और दूसरे पति के 'रिफाम्ंड' विचारों ने उसे विशेष ढीठ बना दिया था। अक्सर यह देखा जाता है कि अवसर मिलने पर इस प्रकार की भावुक स्त्रियां एक चरमावस्था से एकदम दूसरी चरमावस्था को पहुँच जाती हैं। इनके लिए मध्य मार्ग का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह नागन की तरह लहराती हुई पुस्तक पढ़ती रहती, अर्थात् पुस्तक पढ़ने के बहाने गृहागत अतिथियों पर अपने रूप-यौवन के प्रभाव के संबंध में विचार करती हुई अकारण मुस्कराती रहती, और बीच-बीच में किसी विशेष व्यक्ति पर कटाक्ष-बाण भी छोड़ती रहती। विशेष-विशेष अतिथियों से वह खूब घुल-घुल कर बातें करती; धर्म, पतिभक्ति, रामायण, समाज-सुधार, पाक-शास्त्र, थियेटर, सिनेमा आदि सभी प्रकार के विषयों पर वह बड़ी चटपटी भाषा में वाद-विवाद करती थी। इन विषयों की वास्तविकता से अनभिज्ञ होने पर भी वह वाक्-चातुर्य में प्रवीण थी, इसलिए सुनने वाले पर उसका काफी असर होता था। सारांश यह कि वह उस मकान में स्त्री-सङ्ग से प्रायः वर्जित होकर पुरुष-समाज के बीच अविरोध अवस्था में स्वच्छन्द आनन्दपूर्वक तरङ्गित होने लगी। पुरुषों का सङ्ग ही उसे पसन्द था। पड़ोस की स्त्रियाँ जब कभी-कभी उससे मिलने आतीं भी, उन्हें वह रूखी बातों से टाल देती थी। पर यह सब होने पर भी अपने पति के प्रति उसका प्रेम बिलकुल कम नहीं हुआ। पति की छोटी से छोटी आवश्यकता पर भी वह पूरा ध्यान देती थी और प्रतिक्षण सच्चे मन से उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी।

* * * *

"एक बार एक सोलह-सत्रह वर्ष का लड़का, जिसका नाम मुरलीमोहन था और जो सूरजप्रसाद का एक दूरस्थ सम्बन्धी था, उनके यहाँ आकर रहने लगा। वह कानपुर के एग्रीकल्चरल कॉलेज में पढ़ने के लिए आया था। मुरलीमोहन की अवस्था सोलह-सत्रह वर्ष की होने पर भी वह तेरह वर्ष से अधिक अवस्था का नहीं दिखायी देता था। तिस पर तारीफ़ की बात यह थी कि सांसारिक अनुभव और व्यावहारिक बुद्धि में वह शान्ति के २० वर्ष के अनुभवों से भी बहुत आगे बढ़ गया था। लड़का बड़ा चुस्त-चालाक था। उसकी प्रकृति में एक ऐसी बात थी जो शान्ति की प्रकृति के बिलकुल अनुकूल थी। पहले ही दिन से वह शान्ति से ऐसा हिल-मिल गया, मानों उससे शान्ति का वर्षों से परिचय हो, यद्यपि शान्ति ने उसे पहले-पहल इसी वर्ष देखा था। मुरलीमोहन को पाकर शान्ति के कर्महीन दीर्घ दिन बेमालूम कटने लगे। वह अपने मन को ऐसा हलका तथा प्रफुल्ल मालूम करने लगी मानो वह हवा में उड़ रही हो। प्रारम्भ में कुछ दिनो तक मुरली नियमानुसार कॉलेज जाता रहा; पर धीरे-धीरे इस नियम में व्यतिक्रम होता चला गया। सूरजप्रसाद के सामने वह दो-एक पुस्तकें बगल में दबा कर चल देता, और ऐसा व्यस्त भाव दिखाता, मानो केवल मात्र कॉलेज की चिन्ता से ही वह घुला जाता हो। पर सूरजप्रसाद के दफ्तर चले जाने के प्रायः घण्टे-भर बाद ही वह वापस चला आता। शान्ति की चञ्चल प्रकृति ने इस उच्छृङ्खल लड़के का मन ऐसा विचलित कर दिया था कि वह यथा-सम्भव एक मिनट के लिए भी उसका साथ छोड़ना न चाहता। वह ऊपर बैठती तो ऊपर जाता, नीचे जाती तो नीचे आता, रसोई-घर जाती तो वह भी वहीं उसके साथ हो लेता। दिन को शान्ति जब चारपाई पर खुले बालों से लहराती हुई लेटी रहती तो मुरली भी वहीं पर बैठ जाता। वह बात-बात पर अकारण मुस्कराती और इस अदने से छोकरे पर भी कटाक्ष-बाण चलाने में कभी न चूकती।

"दिन-दिन दोनों की घनिष्ठता बढ़ती जाती थी। सूरजप्रसाद के समान अन्यमनस्क-प्रकृति व्यक्ति भी इस सम्बन्ध में कुछ सचेत से हो उठे, पर

सामान्य रूप से। क्योंकि एक साधारण लड़के के प्रति मन में किसी प्रकार के सन्देह का भाव पोषित करना किसी तरह भी बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं कहा जा सकता था; इसलिए जब कभी इस प्रकार की भावना (इच्छा न होने पर भी) उनके दिमाग में घर करने की चेष्टा करती तो वह बल-पूर्वक उसे बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न करते।

"एक दिन दोनों (शान्ति और मुरलीमोहन) रङ्गरस की बातों में ऐसे रम गये थे कि सूरजप्रसाद के दफ्तर से वापस आने पर उनके पाँवों की आहट किसी ने नहीं सुनी। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि सूरजप्रसाद जानबूझ कर दबे पाँव ऊपर चले आये थे; या शान्ति ने जान-बूझ कर उनके आगमन के सम्बन्ध में उदासीनता प्रकट करके संभल कर उठ बैठना आवश्यक न समझा हो। कारण कुछ भी हो, ज्योंही सूरज अपने कमरे में पहुँचे तो देखते क्या हैं कि शान्ति खुले हुए बालों की बहार दिखाती हुई चारपाई पर लेटी है, उसके जम्पर-हीन शरीर के एक सिरे से साड़ी का अञ्चल खिसक गया है। मुरलीमोहन पैताने में बैठ कर शान्ति का बांया पांव सहला रहा था। दोनों किसी बात पर हँस रहे थे। अचानक सूरजप्रसाद को आते देख कर शान्ति हड़बड़ा कर उठ बैठी, और साड़ी से उसने अपना सिर और शरीर अच्छी तरह ढक लिया। मुरलीमोहन चोर की तरह उठ कर भाग गया। उसका इस ढङ्ग से भागना किसी के मन में अकारण भी सन्देह उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त था। शान्ति के मुख पर लज्जा का एक हलका रङ्ग कुछ क्षण के लिए छा गया था, पर वह ऐसा सामान्य था कि अन्य किसी व्यक्ति की दृष्टि उस पर नहीं पड़ सकती थी। किन्तु सूरजप्रसाद की दृष्टि प्रेम-जनित ईर्ष्या द्वारा प्रेरित होने से इस संबंध में धोखा नहीं खा सकती थी। फिर भी शान्ति कुछ विचलित होती न दिखायी दी। उसने यथासम्भव स्वाभाविक स्वर में अपनी स्वाभाविक प्रेम-पूर्ण मुसकान के साथ पूछा—'आज क्या जल्दी चले आये?'

"सूरजप्रसाद ने सन्देह की वेदना को बहुत कुछ दबाने की चेष्टा करते

हुए उदासीनता का भाव दिखा कर कहा—'जल्दी कहाँ! पांच बज चुके, और तुम कहती हो जल्दी! खूब!'

"और दिनों सूरजप्रसाद बड़े प्रेम से, हास-परिहास के साथ शान्ति की बातों का उत्तर दिया करते थे। आज पहली मर्तबा अपनी पत्नी के प्रति उन्होंने रूखा व्यवहार प्रदर्शित किया। शान्ति सचमुच खिसिया गयी और उसके मर्म में इससे गहरी चोट पहुँची; क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि अपने पति को वह वास्तव में बहुत प्यार करती थी। सूरजप्रसाद बिना अधिक कुछ बोले कपड़े उतारने लगे और इसके बाद चुपचाप पलंग पर शान्ति की ओर से मुँह फेर कर लेट गये; आँखें बन्द करके ऐसा भाव दिखाने लगे जैसे वह सोने की चेष्टा कर रहे हों। शान्ति धड़कते हुए कलेजे से दूसरे पलंग पर नीरव बैठी रही। सूरजप्रसाद यदि उससे कोई कैफियत तलब करते तो वह तत्काल उन्हें समझा-बुझा कर शान्त कर देती—इस बात का उसे पूरा विश्वास था; पर उन्हें चुपचाप लेटते देख कर उसे ऐसा अनुभव होने लगा जैसे उन्होंने उसके मुँह पर घृणा से थूक दिया हो।

"किन्तु सूरजप्रसाद अधिक देर तक चुप रह सकने वाले आदमी नहीं थे। इसका कारण एक तो यह था कि वह दिन-भर दफ्तर में काम कर के शाम को बिलकुल थके-मांदे घर वापस आते थे और इस स्थिति में स्त्री के साथ हृदय की दो बातें करने के अतिरिक्त थकान भूलने का अन्य कोई साधन उनके लिए नहीं था; दूसरा कारण यह था कि वह स्त्री को प्राणों से भी अधिक चाहते थे, और यथासम्भव उसके हृदय को जरा भी चोट पहुँचाते उनसे नहीं बनता था। आज जो दृश्य उन्होंने अपनी आँखों देखा था वह मर्मघाती था सन्देह नहीं, पर यह भी उन्होंने मन में सोचा कि जितना भयङ्कर वह उसे समझे बैठे हैं, सम्भव है वह वास्तव में उतना भयंकर न हो। वह जानते थे कि शान्ति से इस सम्बन्ध में प्रश्न करने पर वह अपने स्वाभाविक चातुर्य के साथ उनके सन्देह को अपनी युक्ति के बाणों से तत्काल खण्ड-खण्ड कर देगी। वह अपने हृदय को स्वयं धोखा देकर

भी उस समय बेदना को किसी तरह भूलना चाहते थे। आँखें खोल कर उन्होंने करवट बदली, और स्निग्ध मुसकान से हलके व्यङ्ग के साथ बोले—'अब तो तुम्हें पैर दबाने के लिए मुरली मिल गया है, अब तुम्हें दूसरो की क्या गरज पड़ी है !'

"साहस पाते ही शान्ति ने जिद्दी, मुँह लगायी, ढीठ लड़की की तरह कहा—'धन्य है आपकी विवेचना को ! तीस साल की उम्र हो चुकी है, पर अभी बुद्धि में सयानेपन की बू भी नहीं आयी। इतनी-सी बात भी नहीं समझ सकते कि एक छोटा-सा लड़का मेरे साथ बैठने से मेरा क्या बिगाड़ सकता है ! मुरली के समान बच्चों को तो मेरी उम्र की स्त्रियां दूध पिलाती हैं। मैं कम-नसीब हूँ, इसलिए अभी तक······' यह कर कर वह अपनी निस्सन्तान अवस्था के खयाल से सचमुच रो पड़ी। सूरजप्रसाद तत्काल पिघल गये और उसे दिलासा देने लगे। उनका सन्देह जाता रहा (कम-से-कम उस समय के लिए वह निश्चिन्त हो गये।)

"कुछ दिनों तक स्थिति शान्त रही। पर एक दिन फिर सूरजप्रसाद को सन्देह का मौका मिला। उस समय वह खा-पीकर दफ्तर जाने की तैयारी कर रहे थे और अन्यमनस्क भाव से खिड़की से नीचे की ओर देख रहे थे। नीचे शान्ति अलगनी पर एक तौलिया सुखाने के लिए टांग रही थी। मुरली भी वहीं खड़ा था। उनके अलावा आज तीसरा व्यक्ति वहाँ कोई नहीं था। उसने अचानक हौज से थोड़ा-सा पानी हाथ में लेकर शान्ति के मुँह पर दे मारा और हँसने लगा। शान्ति ने भी आँखें पोंछ कर बदले में उसके मुँह पर पानी छिड़का। दोनों विशेष भावपूर्वक मुस्कराने लगे। सूरजप्रसाद का कलेजा धक से रह गया। घोर अपमानकर पुरानी ईर्ष्या फिर एक बार द्विगुण वेग से जाग पड़ी। उनके मन में इस सन्देह के भूत ने विकटाकार धारण कर लिया कि आज दिन में अवश्य ही कुछ-न-कुछ अनर्थमूलक घटना घटने वाली है। (यद्यपि उन्हें यह भी सन्देह हो रहा था कि जो कुछ अनर्थ होना था हो चुका।) उन्होंने निश्चय कर लिया कि आज दफ्तर नहीं जावेंगे। कपड़े पहन कर बाहर निकले। उनके दफ्तर का एक

आदमी पास ही रहता था। छुट्टी की दरख्वास्त लिख कर उसके हाथ दे दी. और तत्काल घर को वापस चले। घर के दरवाजे के पास पहुँचने पर उन्होंने जूतियाँ उतार लीं, ताकि रसोई के कमरे से उनके पावों की आहट किसी को न सुनायी दे। (उन्हें मालूम था कि मुरली और शान्ति इस समय खाना खा रहे होंगे।) लुक-छिप कर बिना किसी शब्द के वह ऊपर चले आये। ऊपर पहुँचने पर उन्होने भगवान् को धन्यवाद दिया कि उन्हें दोनो में से किसी ने नहीं देखा। वह सीधे ऊपर छत को चले गये। कड़ाके की धूप थी, पर जिस आशङ्का और कौतूहल के ज्वर से वह जर्जरित हो रहे थे, उसके आगे इस धूप की गरमी कुछ भी नहीं थी। वह निश्चयपूर्वक जानते कि ऊपर कोई नहीं आवेगा। बहुत देर तक धड़कते हुए कलेजे से ऊपर खड़े रहे। इसके बाद उन्होने आड़ से देखा कि शान्ति खाना खाकर गली से भीतर आने का दरवाजा बन्द कर आयी। मुरली उसके शरीर पर हाथ लगाता और वह नाज से उसका हाथ हटा देती थी। उनके कलेजे पर जैसे कोई अत्यन्त निर्दयता से निरन्तर हथौड़े से मार रहा हो। उनकी अक्ल कुछ काम नहीं करती थी। वह जैसे इस लोक में नहीं, किसी प्रेतलोक में निवास कर रहे हों। यह छोटा-सा छोकरा ऐसा विषैला साँप निकलेगा, इस बात की कल्पना उन्होने कभी स्वप्न में भी नहीं की थी। थोड़ी देर बाद दोनों ऊपर आये। छत पर से उन्होने अनुमान से यह मालूम कर लिया कि दोनों उनके कमरे के भीतर चले गये हैं। कुछ देर तक वहीं खड़े रह कर वह उसी प्रकार बिना जूते के, दबे पाँव नीचे उतर आये और फुर्ती से अपने कमरे के बगल वाले कमरे में (जो खुला था और खाली था) चले गये। वहाँ से वह कान लगाकर दोनों की बातें सुनने लगे। स्तब्ध हृदय से, एकान्त चित्त से वह सुन रहे थे, ताकि एक शब्द भी उनसे छिपा न रहे। दोनों के हास परिहास का शब्द उनके हृदय में आरी चला रहा था। मुरली जिस ढङ्ग से बातें कर रहा था, उससे स्पष्ट था कि वह संसार के दुष्कर्मों से केवल परिचित ही नहीं है, उनका अनुभव भी उसे हो चुका है। और शान्ति ? उफ ! कभी उन्होंने इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि वह

ऐसी निर्लज्जता के साथ पर-पुरुष से बातें कर सकती है ! वह भीतर खड़े न रह सके। भ्रान्तावस्था में बाहर बरामदे में खड़े होकर आड़ से अपनी आँखों वह देखना चाहते थे कि दोनों परस्पर कैसे हाव-भाव प्रदर्शित कर रहे हैं। साथ ही उन्हें यह जानने की भी हार्दिक इच्छा थी कि इस रङ्गा-लाप की पूर्ण परिणति कहाँ पर होती है। पर हड़बड़ी में वह बरामदे में चले ही आये। थोड़ी ही देर में मुरली ज्योंही भीतर से दरवाजा बन्द करना ही चाहता था कि अचानक उसकी दृष्टि सूरजप्रसाद पर पड़ गयी। वह घबरा कर भीतर को वापस चला गया, उस दिन की तरह भागा नहीं। इस धृष्टता से वह यह सिद्ध करना चाहता था कि वह निर्दोष है। शान्ति ने स्वाभाविक स्वर में पूछा—'आज क्या दफ्तर में छुट्टी है ?' सूरजप्रसाद ने बिना उसकी ओर देखे कहा—'नहीं, कुछ तबीअत खराब है; आज नहीं जाऊँगा।' यह कहकर वह कपड़े उतार कर लेटने की तैयारी करने लगे। मुरली से उन्हें यह पूछने की न तो इच्छा ही हुई और न साहस ही हुआ कि वह कालेज क्यों नहीं गया। मुरली कुछ देर तक वहाँ खड़े रह कर फिर चला गया। शान्ति ने जब देखा कि सूरजप्रसाद के पाँवों में जूते नहीं हैं, चेहरे में मुर्दनी छायी हुई है और दफ्तर जाते-जाते वापस चले आये हैं तो वह शङ्कित और भयभीत हो उठी; पर यह केवल कुछ क्षण के लिए। इसके बाद वह अत्यन्त धैर्यपूर्वक अपने पलंग पर बैठ गयी।

"सूरजप्रसाद कुछ बोले नहीं। वह रहस्य का पूरा पता लगाना चाहते थे, पर जासूसी की कला में अभी नौसिखिया थे। अपने अधैर्य के कारण बीच ही में दोनों को सावधान होने का अवसर देकर वह मन-ही-मन कुढ़ने लगे और समझ गये कि अब जीवन-भर उन्हें सन्देह की आग में जलते रहना होगा और इस सन्देह का निराकरण कभी नहीं हो सकेगा। यदि स्त्री की विश्वासघातकता का पूर्ण प्रमाण असन्दिग्ध रूप से उन्हें मिल जाता तो उनका मन निश्चिन्तावस्था में चैन से सोता। पर अब सन्देह का धुंधला-पट सदा उनकी आँखों के आगे छाया रहेगा—क्योंकि अब निश्चय ही दोनों सावधान हो जावेंगे। वह मन-ही-मन अपना खून पीकर रह गये। सबसे

अधिक दुःख उन्हें इस बात पर हो रहा था कि उन्हें अत्यन्त नीच लोगों की तरह लुक-छिप कर अपनी स्त्री के चाल-चलन की परीक्षा के लिए प्रवृत्त होना पड़ा। इसकी आवश्यकता ही क्यों आ पड़ी! उनके कुल में कभी आज तक किसी को अपनी स्त्री पर सन्देह करने का अवसर नहीं मिला था, उन्हें अपने उच्च कुल के उन्नत चरित्र के इतिहास पर बड़ा गर्व था। पर आज!...आज स्वयं अपनी स्त्री के सन्दिग्ध चरित्र के कारण उन्हें उस पर जासूसी करने को बाध्य होना पड़ा! सोचते-सोचते उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा जैसे उनकी स्त्री ने नहीं, स्वयं उन्होंने कोई घोर कुकर्म किया हो, जिसके कलङ्क का दाग मानो उनके मन से किसी प्रकार छूटना नहीं चाहता हो।

* * * *

"अपनी स्त्री से उन्होंने भर्त्सना के रूप में एक शब्द भी नहीं कहा, और उससे बोलना भी नहीं छोड़ा। पर अब वह केवल आवश्यक बातें ही उससे करते थे। शान्ति को पति के इस रूखे व्यवहार से दुःख न हुआ हो, सो बात नहीं। पर उसे इस बात का पूर्ण विश्वास था कि शीघ्र ही एक दिन वह अपने आप उसके प्रति पहले की तरह ही प्रेमपूर्वक पेश आने लगेंगे। इसलिए वह धैर्यपूर्वक गृहस्थी के सब काम पूर्ववत् करती जाती थी। मुरली के साथ उसने बोलना नहीं छोड़ा, क्योकि उसका खयाल था कि उसके साथ बोलना एकदम बन्द कर देने से उसके पति का सन्देह उस पर बढ़ जायगा। पर सूरजप्रसाद उसके हर काम को, हरएक हरकत को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। वह ऐसा मालूम कर रहे थे कि उनकी जादूगरनी डाकिनी स्त्री किसी प्रेतलोक से उनके सर्वनाश के लिए इस मर्त्यलोक में आयी है। कभी-कभी उसे देख कर उन्हें वास्तव में भौतिक भय होने लगता और उनके रोंगटे खड़े हो जाते। ऐसी हालत में उनकी इच्छा होती कि चिल्ला कर भागें। पर किसी तरह सँभल कर चुप रह जाते। अल्फलैला की एक कहानी उन्हें बार-बार याद आती। उन्होंने उसमें पढ़ा था कि एक व्यक्ति एक सुन्दरी स्त्री को ब्याह लाया। वह स्त्री जब खाना खाने बैठती तो भात में

से केवल एक-एक चावल उठा कर खाती, और पाँच-सात चावल खाकर हाथ समेट लेती। पति को आश्चर्य हुआ कि यह क्या अजब तमाशा है। पर उसने उससे कुछ नहीं कहा, क्योंकि उसके मन में एक रहस्यमय भय का भाव उत्पन्न हो गया था। एक दिन उसने देखा कि आधी रात को उसकी स्त्री चुपके से उसका साथ छोड़ कर बाहर चली गयी। उसने भी चुपके से उसका पीछा किया। वह स्त्री शहर से बहुत दूर निकल कर एक कब्र के पास आयी और कब्र को खोद कर एक लाश निकाल कर उस सड़े हुए मांस को नोच-नोच कर खाने लगी। पति के मन में आतङ्क छा गया। अन्त को उसे मालूम हो गया कि वह स्त्री डाकिनी थी। सूरजप्रसाद अपनी स्त्री को बिलकुल इसी रूप में देखने लगे।

*   *   *   *

"शान्ति को एक दिन मालूम हुआ कि उसके गर्भ रह गया है। दो महीने से इस सम्बन्ध में उसे सन्देह हो रहा था, पर तीसरे महीने उसे निश्चित रूप से पता लग गया। आशा और आशङ्का के भाव उसके मन में एक-साथ पैदा हुए। पुत्र की इच्छा उसे बहुत दिनों से थी; यदि इतने दिनों के बाद उसकी यह आकांक्षा पूरी होने की सम्भावना हुई तो इससे बढ़ कर प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती थी! पर इस सम्बन्ध में उसे एक बात का सन्देह था जिससे उसके गर्भ के कारण समुज्ज्वल मुख में भय-जनित वेदना की छाया स्पष्ट दिखायी देने लगी। दिन-दिन उसका चेहरा अधिकाधिक पीला पड़ता जाता था, और रह-रह कर उसका शङ्कित हृदय दिन-रात धड़का करता।

सूरजप्रसाद को पत्नी के इस शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन का कुछ भी पता न चला। वह दफ्तर से आते ही एक पुस्तक हाथ में लेकर पलंग पर लेट जाते और स्त्री की आवश्यक बातों के उत्तर में केवल 'हाँ' या 'ना' के अतिरिक्त और कुछ नहीं बोलते थे। शान्ति के मुख की ओर कभी भूल से यदि उनकी दृष्टि पड़ जाती तो तत्काल आँखें फिरा लेते। उनकी इस नीरव घृणा से भी शान्ति के मर्म में कम आघात नहीं पहुँचता था।

वह सोचती—यदि साधारण अवस्था में उसके गर्भ रहता तो कैसे आनन्द और हर्ष के साथ वह अपने पति को इसकी सूचना देती ! पर अब !...... अब तो बात ही कुछ दूसरी थी। इस संसार में अपने कलङ्कित मन और अन्तर्यामी के अतिरिक्त किसी के आगे इस रहस्य की बात वह नहीं कह सकती थी। रह-रह कर उसे रोना आता था, पर तत्काल एक क्षीण आशा का सञ्चार भी उसके मन में होने लगता, और इसी तिनके के सहारे वह धैर्य धारण कर लेती। वह निश्चयपूर्वक समझ गयी कि इस गर्भ पर ही उसका भावी जीवन निर्भर है—या तो वह चिरकाल के लिए भ्रष्ट सिद्ध हो जायगी, या उसका 'पातिव्रत्य' अक्षय रहेगा।

"बहुत देर में सूरजप्रसाद को पत्नी की गर्भावस्था का हाल मालूम हुआ। वह भी सशङ्कित हो उठे। पर अपने कर्तव्य में नहीं चूके। शान्ति से पूछ कर निश्चित मास के प्रारम्भ में ही उन्होंने उसे अस्पताल भेज दिया, और स्वयं भी उसकी देख-रेख करने लगे। अन्त को प्रसव के दिन, बड़े इन्तजार के बाद, 'नर्स' ने सूरजप्रसाद को खबर दी कि लड़का पैदा हुआ है। नर्स ने यह भी कहा कि 'आपकी स्त्री मरते-मरते बची है, ईश्वर को धन्यवाद दीजिये।' वास्तव में सूरजप्रसाद ने मन-ही-मन ईश्वर को धन्यवाद दिया, क्योंकि वह शान्ति की मृत्यु का दुःख सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। इस घटना से उन्होंने मन-ही-मन यह भी निश्चय कर लिया कि स्त्री के सभी पिछले अपराधों को अब वह क्षमा कर देंगे और दोनों फिर पहले का-सा स्निग्ध जीवन बितावेंगे। सद्योजात शिशु के प्रति भी (जिसे उन्होंने अभी नहीं देखा था) उनके मन में स्नेह का भाव उत्पन्न होने लगा।

* * * *

प्रसव के बाद दो-एक दिन तक शान्ति की हालत बहुत खराब रही। इसके बाद जब वह सचेत होकर उठी और गौर से उसने उस नवोत्पन्न क्षुद्र मानव-शिशु को देखा तो वह चौंक उठी। इतने दिनों तक उसके मन में जिस बात का धड़का लगा था, अन्त को वही बात हुई ! उसे यह सन्देह हुआ कि पुत्र की आकृति बिलकुल मुरली से मिलती-जुलती है। शान्ति को

इस बात की बहुत-कुछ आशा थी कि बच्चा उसी की आकृति का होगा; साथ ही इस बात की भी क्षीण सम्भावना थी कि उसके पति का ही सादृश्य उसमें कदाचित् पाया जाय। पर अब इस मूर्तिमान् कलङ्क को लेकर वह संसार को कैसे मुख दिखावे ! वह ऐसी उन्माद-ग्रस्त हो उठी कि यदि उस समय पास ही कहीं जलती हुई भट्टी पाती तो उस बच्चे को तत्काल उसमें झोंक देती। वह सर्वत्र अन्धकार देखने लगी। उसने बच्चे को दूध पिलाना एक प्रकार से छोड़ दिया। यदि विष होता तो छाती में विष लगा कर उसे पिलाती। पर 'नर्स' यह समझ कर कि वह अस्वस्थ होने के कारण दूध पिलाने में असमर्थ है, बच्चे को इस विशेष कार्य के लिये नियुक्ति एक धाई का दूध पिलाने लगी।

"सूरजप्रसाद ऐसे भोले आदमी थे कि बच्चे को देखने पर भी उन्होंने उस पर गौर करना आवश्यक नहीं समझा, और वास्तव में यदि वह आकृति पहचानने को चेष्टा भी करते तो पूर्णतः असमर्थ होते, यह बात मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। इसके अतिरिक्त शान्ति उनके आते ही बच्चे का मुँह (खास कर आँखें) ढक देती थी।

"शान्ति पागल-सी हो गयी थी, और प्रतिपल उसे यही चिन्ता थी कि क्या उपाय किया जाय। वह इस बच्चे को लेकर अस्पताल से घर वापस नहीं जाना चाहती थी। जब उसे कोई उपाय न सूझा तो एक दिन रात को उसने निर्मम होकर बच्चे का गला मरोड़ डाला और जब तक उसकी सांस बिलकुल बन्द न हो गयी तब तक उसका गला दबाये रही।

"दूसरे दिन नर्स ने जब यह हाल देखा तो घबरा कर हौस सर्जन को बुला लायी। बस, फिर क्या था; सब भण्डाफोड़ हो गया। शान्ति को आजीवन निर्वासन की दण्डाज्ञा हुई। अपील खारिज हो गई। इस दण्ड से उसे कितना दुःख हुआ, उस पर कैसी बीती, कह नहीं सकता। पर यह निश्चय है कि जब अपने कर्मों का अन्तिम फल उसे मालूम हो गया तो अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसने उसे ग्रहण किया। सूरजप्रसाद एक दम पागल हो गये। इलाज के लिए बरेली के पागलखाने भेजे गये, पर कोई फायदा नहीं

हुआ। अन्त को पागलखाने में ही बड़ी दुर्गति के बाद उनकी मृत्यु हुई। उनकी स्त्री को केवल आठ या नौ वर्ष निर्वासन में रहना पड़ा। उसके बाद किसी कारण से वह छोड़ दी गयी। जब लौट कर आयी तो एक अनाथालय में चली गयी। मैंने वहाँ उसे देखा था—वह अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट तथा प्रसन्न थी, और पहले से अधिक निर्लज्ज हो गयी थी। यह स्पष्ट था कि जेल में उसे अधिक कष्ट नहीं भोगना पड़ा। कुछ भी हो, अब वह कुटनी का पेशा करती है।"

सब लोग अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक डाक्टर कपूर की कहानी सुन रहे थे। जब कहानी समाप्त हुई तो कुछ देर तक सब स्तब्ध बैठे रहे। इसके बाद फिर विवाद होने लगा। थोड़ी ही देर में वे लोग विषयान्तर में चले गये और डा० भार्गव को किसी बात पर ठठा कर हँसते हुए सुना गया।

रेल की रात

गाड़ी आने के समय से बहुत पहले ही महेन्द्र स्टेशन पर जा पहुँचा था। उसे गाड़ी के पहुँचने का ठीक समय मालूम न हो, यह बात नहीं कही जा सकती। पर जिस छोटे शहर में वह आया हुआ था वहाँ से जल्दी भागने के लिए वह ऐसा उत्सुक हो उठा था कि जान-बूझ कर भी अज्ञात मन ने शायद किसी अबोध बालक की तरह यह समझा था कि उसके जल्दी स्टेशन पहुँचने से सम्भवतः गाड़ी भी नियत समय से पहले ही आ जायगी!

होल्ड-आल में बँधे हुए बिस्तर और चमड़े के एक पुराने सूट-केस को प्लेटफार्म के एक कोने पर रखवा कर वह चिन्तित तथा अस्थिर-सा अन्य-मनस्क भाव से टहलते हुए टिकट-घर की खिड़की के खुलने का इन्तजार करने लगा।

महेन्द्र की आयु बत्तीस-तेंतीस वर्ष के लगभग होगी। उसके कद की ऊँचाई साढ़े पाँच फीट से कम नहीं मालूम होती थी। उसके शरीर का गठन देखने से उसे दुबला तो नहीं कहा जा सकता, तथापि मोटा वह नाम को भी न था। रंग उसका गेहुँआ था। कपाल कुछ चौड़ा, भवें कुछ मोटी किन्तु तनी हुई, आँखें मझोली पर लम्बी, काली मूँछें घनी पर पतली और दोनों सिरों पर कुछ ऊपर को उठी थीं। वह खद्दर का एक लम्बा कुरता और खद्दर की ही धोती पहने था। सर पर टोपी नहीं थी। पाँवों में घड़ियाल के चमड़े के बने हुए चप्पल थे। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण अवश्य था, पर वह आकर्षण सब समय सब व्यक्तियों की दृष्टि को अपनी ओर नहीं खींचता था।

सूरज बहुत पहले डूब चुका था और शुक्ल पक्ष का अपूर्ण गोलाकार चन्द्रमा अपने किरण-जाल से दिग-दिगन्त को स्निग्ध आलोक-छटा से

विभासित करने लगा था। स्टेशन पर अधिक भीड़ न थी। प्लेटफार्म पर टहलते-टहलते पूर्व की ओर चार कदम निकल जाने पर ऐसा मालूम होने लगता था कि चाँदनी दीर्घ-विस्तृत समतल-भूमि पर अलस क्लान्ति की तरह पड़ी हुई है। झिल्ली-झनकार का एकान्तिक मर्मर-स्वर इस अलसता की वेदना को निर्मम भाव से जगा रहा था, जिससे महेन्द्र के हृदय की सुप्त व्याकुलता तिलमिला उठती थी।

सिगनल डाउन हो गया था। टिकट घर खुल गया था। थर्ड क्लास का टिकट खरीद कर महेन्द्र गाड़ी का इन्तजार करने लगा। थोड़ी देर मे दूर से ही सर्चलाइट के प्रखर प्रकाश से तिमिर विदारण करती हुई गाड़ी दिखाई दी और भकभक करती हुई स्टेशन पर आ खड़ी हुई।

सामने के कम्पार्टमेन्ट मे केवल दो व्यक्ति बैठे थे और वे भी उतरने की तैयारी कर रहे थे। महेन्द्र एक हाथ मे बिस्तर की गठरी और दूसरे हाथ मे सूटकेस पकड़ कर उसी मे जा घुसा। जो दो व्यक्ति कम्पार्टमेन्ट मे थे उनके उतरते ही एक चश्माधारी सज्जन ने दो महिलाओ के साथ भीतर प्रवेश किया। कुली ने आकर नवागन्तुक महाशय का सामान भीतर रख दिया और मजूरी के सम्बन्ध मे काफी हुज्जत करने के बाद पैसे ले कर चला गया। चश्माधारी सज्जन महिलाओ के साथ महेन्द्र के सामने वाले बेञ्च पर बड़े आराम से बैठ गए। मालूम होता था कि वह बड़ी हड़बड़ी के साथ गाड़ी आने के कुछ ही समय पहले स्टेशन पहुँचे थे और इस घबराहट मे थे कि महिलाओ को साथ लेकर यदि किसी कम्पार्टमेन्ट में जगह न मिली तो क्या हाल होगा। वह अभी तक हाँफ रहे थे, जिससे उनकी अब तक की परेशानी स्पष्ट व्यक्त होती थी। अब जब आराम से बैठने को खाली जगह मिल गयी तो एक लम्बी साँस लेकर चश्मा उतार कर रूमाल से मुँह का पसीना पोछने लगे। पसीना पोछते-पोंछते महेन्द्र की ओर देख कर उन्होंने प्रश्न किया—"शिकोहाबाद कै बजे गाड़ी पहुँचेगी, आप बता सकते हैं?"

महेन्द्र ने उत्तर दिया—"जहाँ तक मेरा खयाल है, बारह बजे के करीब पहुँचेगी।"

महेन्द्र कनखियों से महिलाओं की ओर देख रहा था। महिलाएँ उसके एकदम सामने बैठी थीं और यदि वह दृष्टि सीधी करके स्वाभाविक रूप से उन्हें देखता रहता तो भी शायद न तो चश्माधारी सज्जन को और न महिलाओं को कोई आपत्ति होती, पर उसे अपनी स्वाभाविक संकोचशीलता के कारण उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखने का साहस नहीं होता था। दोनों महिलाएँ बेपर्दा बैठी थीं। उनमें एक की अवस्था प्रायः पैंतीस वर्ष की होगी, वह एक सफेद चादर ओढ़े थी। दूसरी बाईस-तेईस वर्ष की जान पड़ती थी। वह ऐक गुलाबी रंग की सुन्दर, सुरुचिपूर्ण साड़ी पहने थी। दोनों यथेष्ट सभ्य और सुशील जान पड़ती थीं। ज्येष्ठा को देखने से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि किसी समय वह सुन्दरी रही होंगी; पर अब अस्वस्थता के कारण उनका मुखमण्डल बिलकुल निस्तेज जान पड़ता था। कनिष्ठा यद्यपि सौन्दर्य-कला की दृष्टि से सुन्दरी नहीं, थीं तथापि उनके मुख की व्यञ्जना में एक ऐसी सरस मधुरिमा वर्तमान थी जो बरबस आँखों को आकर्षित कर लेती थी।

आज कई कारणों से महेन्द्र का जी दिन भर अच्छा नहीं रहा। गाड़ी में बैठने तक वह चिन्तित, अन्यमनस्क तथा उदास था। पर गाड़ी में बैठते ही शिष्ट, सुशील तथा सुन्दरी महिलाओं के साहचर्य से उसके खिन्न मन में एक सुखद सरसता छा गयी। यद्यपि वह संकोच के कारण कुछ कम घबराया हुआ न था, तथापि चश्माधारी सज्जन की भोली आकृति-प्रकृति तथा सरल भाव-भंगियों से और महिलाओं की शालीनता से उसे इस बात पर धीरे-धीरे विश्वास होने लगा था कि उनके बीच किसी प्रकार का संकोच अनावश्यक ही नहीं, बल्कि अशोभन भी है।

चश्माधारी सज्जन ने चश्मा उतार कर एक रूमाल से उसे पोंछते हुए पूछा—"आप क्या शिकोहाबाद जा रहे हैं?"

"जी नहीं, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। आप क्या शिकोहाबाद में ही रहते हैं?"

"जी नहीं, मुझे टूँडला जाना है। मैं वहाँ कोर्ट में प्रेक्टिस करता हूँ। इधर कुछ दिनों के लिए घर आया हुआ था। अब अपनी 'वाइफ' को और 'सिस्टर' को लेकर वापस जा रहा हूँ। 'सिस्टर' की तबीअत ठीक नहीं रहती, इसलिए उसे हवाबदली के लिए ले जा रहा हूँ।"

एक साधारण से प्रश्न के उत्तर में इतनी बातों से परिचित होने पर महेन्द्र को नव-परिचित सज्जन की बेतकल्लुफी पर आश्चर्य हुआ और वह मन ही मन मुस्कराने लगा। उसने अनुमान लगाया कि ज्येष्ठा महिला उन की 'सिस्टर' होंगी और कनिष्ठा 'वाइफ।'

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। कोई दूसरा यात्री उस डिब्बे में न आया। चश्माधारी महाशय गाड़ी चलने के कुछ ही देर बाद ऊँघने लगे। वह रह न सके और बँधे हुए बिस्तर को तकिया बना कर एक दूसरे बेञ्च पर लेट गये और लेटते ही खर्राटे लेने लगे। न जाने क्यों, महेन्द्र के मन में यह विश्वास जम गया कि इन नव-परिचित महाशय का जीवन बड़ा सुखी है। उनकी बेतकल्लुफी तथा उनके मुख का आत्मसंतोषपूर्ण भाव देख कर उसके मन में यह विश्वास जमने लगा था और जब उसने उन्हें निश्चिन्त सोते हुए तथा खर्राटे भरते देखा तो उसकी यह धारणा दृढ़ हो गयी।

ज्येष्ठा महिला ने भी थोड़ी देर में ऊँघना शुरू कर दिया। वह ऊँघती जाती थीं और बीच-बीच में जब जबर्दस्त हिचकोला खाती थीं तो जाग पड़ती थीं। केवल कनिष्ठा महिला पूर्णतः सजग थीं। वह कभी खिड़की से बाहर झाँक कर चाँदनी के उज्ज्वल आलोक में शायद 'पल-पल-परिवर्तित' प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेती थीं, कभी ऊँघने वाली महिला की ओर देखती थीं, कभी खर्राटे भरने वाले महाशय (शायद अपने पति) को एक बार सरसरी निगाह से देख लेती थीं, और कभी महेन्द्र को स्निग्ध किन्तु विस्मय की उत्सुकता से पूर्ण आँखों से देखने लगती थीं। उन आँखों की स्थिर दृष्टि जब महेन्द्र पर आ कर पड़ती थी तो उसे ऐसा मालूम होने

लगता कि वह मोहाविष्ट हुआ जा रहा है और उसकी सारी आत्मा, यहाँ तक कि सारा शरीर भी, अपना रूप बदल रहा है, और वह किसी अव्यक्त तथा अतीन्द्रिय मायावी स्पर्श से कुछ का कुछ हुआ जा रहा है। वह उस स्थिर दृष्टि का तेज सहन न कर सकने के कारण आँखें फिरा लेता था।

गाड़ी टटर-टट्ट टटर-टट्ट शब्द से चली जा रही थी। जाग्रत महिला की गुलाबी साड़ी का अञ्चल हवा के झोंके से सर से नीचे खिसक कर उनके लहराते हुए घनकुञ्चित काले केशों की बहार दिखा रहा था। गुलाबी साड़ी भी हवा के जोर से फर-फर फहरा रही थी। महेन्द्र पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने लगा। उसे यह भ्रम होने लगा कि यह महिला, जो इस समय के पहले उसके लिए एकदम अज्ञात थी और निश्चय ही सदा अज्ञात रहेगी, न जाने किस चिदानन्दमय उल्कालोक से अकस्मात् आविर्भूत हो कर उसके पास आ बैठी है और गुलाबी रंग की पताका फहरा कर विश्व-विजय को निकली है, और वह उसका सारथी बन कर उस अनन्तगामी रेल रूपी रथ पर चला जा रहा है। सारा विश्व, समस्त मानवी तथा मानसी सृष्टि उसके लिए उस कम्पार्टमेन्ट के भीतर समा गयी थी, जिसमें ऊँघने वाली महिला तथा सोये हुए सज्जन का कोई अस्तित्व नहीं था, और उसके बाहर क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले अस्थिर माया-जगह का चिर-चञ्चल रूप एकदम असत्य तथा सत्ताहीन-सा लगता था।

महेन्द्र सोचने लगा कि उसने जीवन में कितनी ही स्त्रियों को विभिन्न रूपों तथा विचित्र परिस्थितियों में देखा है, पर आज का यह बिलकुल साधारण सा अनुभव उसे क्यों ऐसा अपूर्व तथा अनुपम लग रहा है? वह सोच ही रहा था कि फिर उस विश्व-विजयिनी ने अपनी सुन्दर विस्मित आँखों की रहस्यमयी उत्सुकता से भरी स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह मन ही मन उसे सम्बोधित करते हुए कहने लगा—"चिर-अज्ञाता, चिर-अपरिचिता देवी! तुम मुझसे क्या चाहती हो? तुम्हारी इस मर्मभेदिनी दृष्टि का क्या अर्थ है? दैवयोग से महाकाल के इस नगण्यतम क्षण में, जिसकी सत्ता महासागर में एक क्षुद्रतम बुदबुद के बराबर भी नहीं है, हम दोनों का

आकस्मिक मिलन घटित हुआ है, और महासागर में बुदबुद की तरह ही यह क्षण सदा के लिए विलीन हो जायगा। तथापि इतने ही अर्से में क्या तुम हम दोनो के जन्मान्तर के सम्बन्ध से परिचित हो गयीं ? अथवा यह सब कुछ नहीं है ? तुम्हारी आँखो की उत्सुकता का कोई मूल्य नहीं है, मेरी विह्वल भावुकता का कोई महत्व नही है ? महत्वपूर्ण जो कुछ है वह है तुम्हारे पास लेटे हुए व्यक्ति का खर्राटे भरना ?"

शिकोहाबाद पहुँचने तक चश्माधारी सज्जन की नींद न टूटी और ज्येष्ठा महिला ऊँघती रही। पर महेन्द्र की विश्वविजयिनी की आँखो में एक क्षण के लिए भी निद्रा-रसावेश का लेश नहीं दिखाई दिया। वह बीच-बीच में अपनी मर्म-भेदिनी दृष्टि की प्रखर उत्सुकता से उसके हृदय को अकारण निर्मम रूप से विद्ध करती चली जाती थी। फलस्वरूप महेन्द्र की गुलाबी मोहकता भी शिकोहाबाद पहुँचने तक अखण्ड बनी रही।

शिकोहाबाद पहुँचने पर विश्वविजयिनी ने चश्माधारी सज्जन के किञ्चित् स्थूल शरीर को हाथ से हिलाते हुए जगाया। ऊँघती हुई महिला भी सँभल कर बैठ गयी। कुलियों से सामान उतरवा कर चारो व्यक्ति उतर पड़े। दिल्ली वाली गाड़ी जिस प्लेटफार्म पर लगने वाली थी वहाँ को जाने के लिए पुल पार करना पड़ा। पुल पार करके वे लोग जिस प्लेटफार्म पर आये वहाँ कहीं एक भी बत्ती जली हुई नहीं थी। पर चूँकि सर्वत्र निर्मल चाँदनी छिटक रही थी, इसलिए बत्ती की कोई आवश्यकता न जान पड़ी। गाड़ी के आने में अभी डेढ़ घन्टे की देर थी। चश्माधारी महाशय एक बेञ्च पर बिस्तर फैला कर लेट गये। दोनों महिलाएँ भी नीचे रखे हुए सामान के ऊपर बैठ गयीं।

चश्माधारी सज्जन ने महेन्द्र से कहा—"आप भी किसी बेञ्च पर बिस्तर बिछा कर लेट जाइये।"

पर कोई बेञ्च खाली नहीं था और न महेन्द्र ही सोने के लिए उत्सुक था। आज की रेलवे यात्रा की चन्द्रोज्ज्वल रात्रि उसे चिर-जाग्रत तथा चिर जीवित स्वप्न-लोक में विचरण करा रही थी। वह प्लेटफार्म पर टहलता

हुआ अपने अन्तर्पट में नव-उद्घाटित जीवन-वैचित्र्य की चहल-पहल देख कर विस्मित हो रहा था। उसे ऐसा अनुभव हो रहा था कि वह जीवन की मधुरिमा से आज प्रथम बार परिचित हो रहा है। रेलवे लाइन के उस पार दिगन्त-विस्तृत ज्योत्स्ना-राशि अपने आवेश में स्वयं पुलकित हो रही थी और सामने काफी दूरी पर दो रक्त-रञ्जित गोलाकार प्रकाश-चिह्न आकाश-दीप की तरह मानो आनन्दोज्ज्वल रंगीन जीवन का मार्ग उसके लिए इंगित कर रहे थे। रेलगाड़ी से होकर वह अनेक बार आया था और गया था और कितनी ही बार उसे रात के समय स्टेशनों पर गाड़ी के इन्तजार में ठहरना पड़ा था, पर आज की ऐन्द्रिजालिक उल्लासपूर्ण अनुभूति उसके लिए एकदम नयी थी। इस बार इन्द्रजाल के उद्घाटन का श्रेय जिस को था वह मायाविनी इस समय टीन की छत के नीचे की छाया में बैठी हुई थी और अंधकार में उसकी आँखों के जादू का चलना बन्द हो गया था। पर वहाँ पर केवल मात्र उसका अस्तित्व ही महेन्द्र की आत्मा में मायालोक की मोहकता का सृजन करने के लिए पर्याप्त था।

वह टहलते-टहलते न मालूम किन निरुद्देश्य स्वप्नों की माया के फेर में पड़ा हुआ था कि अचानक चश्माधारी महाशय ने बेञ्च पर से पुकारते हुए कहा—"अरे जनाब, कब तक टहलियेगा! अगर लेटना नहीं चाहते तो यहाँ पर बैठ तो जाइये। नींद तो अब आवेगी नहीं, इसलिए गाड़ी के आने तक गपशप ही रहे।" महाशय जी पहले ही काफी सो चुके थे, इसलिए अब नींद नहीं आती थी। महेन्द्र मुस्कराता हुआ उनके पास ही अपने सूटकेस के ऊपर बैठ गया।

महाशयजी ने कहा—"आप क्या दिल्ली में कहीं मुलाजिम हैं?"

"जी नहीं।"

"तब आप क्या करते हैं?"

"यों ही आवारा फिरा करता हूँ।"

"आप खद्दर पहने हैं, क्या आप काँग्रेसमैन हैं?"

"पहले था, अब नहीं के बराबर हूँ।"

"अब नहीं के बराबर क्यों ? काँग्रेस ने अपना मंत्रित्व कायम किया है, क्या इसलिए आप उसके विरोधी हो उठे हैं ?"

"जी नहीं, मैं काँग्रेस का विरोधी नहीं हुआ हूँ, बल्कि काँग्रेस ही मेरे विरुद्ध हो गयी है।"

"वह कैसे ?"

इस प्रश्न के उत्तर में महेन्द्र ने परम क्लान्ति का भाव दिखाते हुए कहा—"अरे साहब, सुन के क्या कीजिएगा ! व्यर्थ में आपके संस्कारों को आघात पहुँचेगा। इस चर्चा को हटाइये। और किसी अच्छे विषय की चर्चा चलाइये।"

स्वभावत: चश्माधारी सज्जन का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा—"फिर भी, जरा सुनें तो सही। आखिर कौन सी ऐसी बात हो गयी !"

महेन्द्र की सुप्त स्मृतियाँ तलमला उठी थीं। कनखियों से उसने देखा, प्रायान्धकार में बैठी हुई मायाविनी महिला का ध्यान उसी की ओर था। पल में उसके मानसिक चक्षुओं के आगे अपने सारे विगत जीवन की व्यर्थता के दुःखद संस्मरणों की झांकी चित्रपट पर क्रम से परिवर्तित होने वाले चित्रों की तरह भासमान होने लगी। भाव के आवेश में आकर उसने कहा—"अच्छा, तो सुनिए ! ग्यारह वर्ष की उम्र से लेकर तीस वर्ष की अवस्था तक काँग्रेस के सिद्धान्तों के पीछे पागल होकर उसकी खातिर अपने जीवन और यौवन की बलि देकर भी मैं काँग्रेस के देवताओं को कभी प्रसन्न न कर सका, यह मेरे भाग्य का दोष है। फिर भी मैं सोचता हूँ कि क्या इन देवताओं को इतना निर्मम होना चाहिए था ! मैंने काँग्रेस के लिए क्या नहीं किया ! भूखों रह कर, पग-पग पर ठोकरें खाकर, समाज तथा परिवार की फटकारें सह कर, जीवन के सब सुखों को अपने ध्येय के लिए तिलाञ्जलि देकर, राष्ट्रीय आदर्श को ब्रह्मतत्व से भी अधिक महत्व देकर, सच्ची लगन से अपनी सारी आत्मा को निमज्जित करके काँग्रेस का साथ दिया। तीन बार काफी अवधि के लिए जेल में सड़ता रहा, बार-बार पुलिस के

डण्डे सर पर पड़ते रहे, जमीन-जायदाद कुर्क हो गयी, माता-पिता अपनी कपूत सन्तान के कारण तबाह होकर मानसिक और शारीरिक पीड़न की पराकाष्ठा भोग कर चल बसे, पत्नी तड़प-तड़प कर, घुल-घुल अपने भाग्य को कोसती हुई मर गयी। फिर भी मैं राष्ट्र के कल्याण के परम ध्येय को स्त्री, परिवार, आत्मा और परमात्मा से बहुत ऊँचा मानता हुआ सच्ची लगन से काँग्रेस का अनुयायी बना रहा। मेरी आँखें तब खुलीं जब अन्तिम बार जेलखाने में लम्बी मियाद पूरी करने के बाद थका-मांदा, मन से तथा शरीर से क्लिष्ट और क्लान्त होकर मैं बाहर आया और देखा कि जिन नेताओ के नीचे मैंने अपनी सारी आत्मा का रस निचोड़-निचोड़ कर देश-हित के व्रत की कठोर साधना की थी, वे मेरे प्रति एकदम उदासीन से हो गये थे और स्वयं अपने सांसरिक स्वार्थ तथा परमार्थ की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करते हुए, सच्चे कार्यकर्ताओं के रक्त और पसीने से अर्जित यश को लूट कर, त्यागी महात्मा की पदवी प्राप्त करके, परम प्रसन्न थे। अपने विगत जीवन की भयंकर भूल मुझे निर्मम रूप से दग्ध करने लगी। पर अब उसके प्रतीकार का कोई उपाय नहीं था। एक-एक करके उन स्नेही जनों की स्मृतियाँ मेरे मन में उदित हो-हो कर मुझे व्यथित करने लगीं जिनकी मैं सदा अवज्ञा करता आया था। अपनी पत्नी से मैंने जीवन में शायद दो दिन भी घनिष्ठता से बातें न की होंगी। जब मैं बाहर रहता था तो उसके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते थे और मैं सरसरी दृष्टि से उन्हें पढ़ कर अवज्ञा से फाड़ कर फेंक देता था। एक या दो बार से अधिक मैंने उसके पत्रो का उत्तर नहीं दिया और जो उत्तर दिया था वह भी चार पंक्तियों में बिलकुल रूखे-सूखे ढंग से। अब जब मैं अपने को सारे संसार में अकेला, स्नेह तथा समवेदना से वंचित, असहाय तथा निरुपाय मालूम करने लगा तो उसकी भोली-भाली, सकरुण स्नेह की वेदना से भरी, सहज सलोनी मूर्ति प्रति पल मेरी आँखों के आगे मंड़राने लगी। उसके पत्रों में सरल शब्दो में वर्णित कातर व्याकुलता के हाहाकार की पुकार मानो मेरी स्मृति के अतल गह्वर में दीर्घ सुप्ति की घोर जड़ता के बाद अकस्मात्

जागरित होकर मेरे हृदय पर जलते हुए अंगारो के गोलों से आघात करने लगी। अपने जीवन में मैं कभी किसी बात पर नहीं रोया था। माता-पिता तथा पत्नी, किसी की मृत्यु पर एक बूंद आँसू की मेरी आँखों से न निकली थी। पर अब रह-रह कर उन लोगो की याद में बिलख-बिलख कर मैं बार-बार रो पड़ता। मुझे ऐसा भास होने लगा कि आज तक मै वास्तविक सुख-दुःखमय संसार में रहते हुए किसी भौतिक जगत् में विचरण किया करता था। अध्यात्मवादी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि इस दृश्य जगत् के भीतर ही ऐसे अनेक अदृश्य स्तर वर्तमान हैं जिनमें विभिन्न योनियो के जीव निवास करते हैं। ये अदृश्य जीव रात-दिन हमारे ही बीच में विचरण करते रहते है और उनके शरीर भी हाड़-मांस से बने हुए हैं, फिर भी वे हमारे स्पर्श-संघर्ष में इसलिए नही आते कि उनके और हमारे स्तरो में विभिन्नता है। पहले मुझे भी ऐसा जान पड़ता था कि मैं जिस स्तर में निवास करता हूँ वह मेरे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के स्तर से बिलकुल अलग है और वहाँ के जीवो से मेरा बिलकुल भी सरोकार नहीं है। पर जब कारावास की अन्तिम अवधि के बाद मैं बाहर निकला तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि किसी ने मुझे अत्यन्त निर्ममता से उस चिर-विस्मृत स्तर में ढकेल दिया है और अपने पारिवारिक जीवन की सब स्मृतियाँ पूर्व जन्म की सी स्मृतियो की तरह जागरित हो कर मुझे एक निराले ही पीड़न का अनुभव कराने लगी हैं। राष्ट्रगत जीवन के अस्पष्ट तथा धुंधले नीहारिका-पुञ्ज का रहस्यमय आवरण भेद कर मेरी स्नेहशीला पति-परायणा पत्नी की सकरुण पुण्य-च्छवि उज्ज्वल नक्षत्र की तरह मेरी आँखो के आगे स्पष्ट भासमान होने लगी। रह-रह कर मेरा जी विकल हो उठता था और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे मेरे हृदय में किसी के निष्कलंक सुकुमार प्राणो की पैशाचिक हत्या का अपराध पाषाण भार की तरह पड़ा हो। बहुत दिनों तक इस नृशंस अपराध की भयंकर अनुभूति का भूत मेरी आत्मा को अत्यन्त निष्ठुरता से दबाता रहा। अब भी यह भौतिक आतंक कभी-कभी मेरे मन में जागरित हो उठता है। फिर भी अब मैंने अपने मन को बहुत कुछ समझा

लिया है और जीवन को मैं एक नयी दृष्टि से नये रूप में देखने लगा हूँ और साधारण से साधारण घटना भी कभी-कभी मेरे मन में एक अलौकिक आनन्द का आश्चर्य उत्पन्न करने लगती है। किसी स्त्री को देखते ही अब मेरे हृदय में एक श्रद्धापूर्ण उत्सुकता का भाव जाग पड़ता है—ऐसा मालूम होने लगता है जैसे मैंने जीवन में पहले कभी स्त्री को देखा भी न हो और अब पहली बार इस आनन्ददायिनी रहस्यमयी जाति के अस्तित्व का अनुभव मुझे हुआ हो।"

महेन्द्र का लम्बा लेक्चर समाप्त होते ही चश्माधारी सज्जन 'हाः हाः' कर के ठठा कर हँसते हुए बोले—"आप भी बड़े मजे के आदमी हैं! खूब!" यह कह कर वह बेञ्च पर आराम से लेट गये और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद वह जोरों से खर्राटे लेने लगे।

एक लम्बी साँस लेते हुए महेन्द्र ने प्रायान्धकार में अस्पष्ट झलकती हुई गुलाबी साड़ी की ओर देखा। दो आँखों की मार्मिक दृष्टि की तीव्र मोहकता उस अर्द्ध-अन्धकार में भी विस्मित वेदना की उत्सुक उज्ज्वल रेखाओं को विकीरित कर रही थी। महेन्द्र पुलक-विह्वल हो कर मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा रहा।

घण्टी बजी, दिल्ली को जाने वाली गाड़ी के आने की सूचना देते हुए सिगनल डाउन हुआ। सामने रक्त-आकाश-दीप के बदले हरे रंग का प्रकाश जल उठा। यह हरित् आलोक महेन्द्र के मानस-पट पर साड़ी के गुलाबी रंग के साथ मिल कर एक स्निग्ध शुचि सौन्दर्य-लोक का सृजन करने लगा।

थोड़ी देर में दूर ही से गाड़ी का सर्च-लाइट दिखाई दिया। चश्माधारी महाशय महेन्द्र के जगाने पर धड़फड़ाते हुए उठे। कुलियों ने सामान सँभाल लिया। भक-भक करती हुई गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी। बड़ी भीड़ थी। कुली चश्माधारी सज्जन को महिलाओं के साथ इंजिन की उलटी ओर बहुत दूर तक ले गये। कहीं स्थान न पाकर वे लोग अन्त में एक डिब्बे में जबर-दस्ती घुस गये। महेन्द्र भी उन लोगों के साथ-साथ जा रहा था। पर जिस डिब्बे में वे लोग घुसे उस डिब्बे में स्थान का निपट अभाव देख कर वह

विवश हो कर एक दूसरे डिब्बे में चला गया। वहाँ भी काफी भीड़ थी। किसी प्रकार उसने अपने बैठने के लिए थोड़ा-सा स्थान बनाया।

गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। महेन्द्र के मस्तिष्क में नाना अस्पष्ट भावनाएँ चक्कर लगाने लगीं। दो दिन से उसे नींद नहीं आयी थी। आज भी वह अभी तक सो नहीं पाया। इसलिए सोचते-सोचते वह ऊँघने लगा। ऊँघते हुए उसने देखा कि गुलाबी रंग की साड़ी द्रौपदी के चीर की तरह फैलती हुई अकारण सारे आकाश में छा गयी है। सहसा दो स्थानों पर वह गगनव्यापी साड़ी फटी और उन दो छिद्रों से होकर दो वेदनाशील, तीक्ष्ण, उज्ज्वल आँखें तीर की तरह प्रखर वेग से उसकी ओर धावित होकर एक रूप में मिल कर एक बड़ी आँख के आकार में परिणत हो गयीं। वह बड़ी आँख उसके शरीर को छेद कर उसके हृतपिण्ड को छू कर फिर ऊपर आकाश की ओर तीर की तरह छूटी और आकाश में फैली हुई गुलाबी साड़ी में जा लगी और फट कर फिर से दो सुन्दर, किन्तु करुणा-विकल आँखों के आकार में विभक्त हो गयीं।

टूँडला स्टेशन पर गाड़ी ठहरने पर महेन्द्र पूर्णतः सचेत हो कर बैठ गया। चश्माधारी महाशय दोनों महिलाओं को साथ लेकर कम्पार्टमेन्ट से बाहर उतरे और सामान को कुलियों के हवाले करके उनके साथ बाहर फाटक की ओर चले। महेन्द्र ने अपने कम्पार्टमेन्ट से अपनी विश्व-विजयिनी को देखा। वह इस उत्सुकता में था कि एक बार अन्तिम समय के लिये दोनों की चार आँखें हो जावें; पर न हुईं, और गुलाबी साड़ी से आवृत सजीव प्रतिमा व्यस्त विह्वलता से आगे को निकल गयी।

टूँडला से गाड़ी छूटने पर महेन्द्र के कानों में चश्माधारी सज्जन के ठठा कर के हँसने का शब्द गूँजने लगा। उससे अदृष्ट की चिर-व्यंग पुकार मानो बार-बार कहती थी—"हाः हाः! आप भी बड़े मजे के आदमी हैं! खूब!"

दुष्कर्मी

हम लोग टण्डनजी के यहाँ बैठे हुए थे। इतवार का दिन था। दोपहर से ताश खेलते-खेलते रात हो चली थी। बाहर लगातार कई घण्टों से झमाझम पानी बरस रहा था। अनुभवी सज्जनों से यह बात छिपी न होगी कि वर्षा का रविवार या तो प्रिया के सङ्ग में, या मल्लार के करुण क्रन्दन में, या ताश के खेल में ही सब से अच्छी तरह कटता है। चूंकि हम लोगों से अधिकांश सज्जन प्रियासङ्ग से रहित थे और मल्लार गाने का शौक भी बहुत कम को था, इसलिए सारा दिन ताश के खेल में ही कट गया। जब रात हो गयी और दो-एक सज्जन उठ कर चले गये तो टण्डनजी ने ताश के दोनों पैकेट उठा कर ताक पर रख दिये; हुक्का नये सिरे से भरवाया गया; सिगरेट, सिगार और पान का पन्द्रहवीं बार पुनरावर्तन हुआ। मैं टण्डनजी की बगल में एक तकिये के सहारे लेट कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। तीन-चार सज्जन उठ कर कुर्सियों पर बैठ गये। अब लगीं इधर-उधर की गप्पें उड़ने।

एक मंझले कद के दुबले-पतले व्यक्ति पर मैं बहुत देर से गौर कर रहा था। उसकी अवस्था ३०-३५ वर्ष के बीच की होगी। जब मैं दोपहर को टण्डनजी के यहाँ पहुँचा था तो वह पहले से ही उनके यहाँ विराजमान था। इससे पहले मैंने कभी उसे कहीं नहीं देखा था। जब लोग ताश खेलने बैठे तो वह कुर्सी पर ही बैठा रहा और वहीं पर से सिर और कमर झुका कर यह भाव दिखाने लगा कि वह ताश के खेल में बड़ी दिलचस्पी ले रहा है, और केवल देखकर ही सन्तुष्ट है—खेलने का इच्छुक नहीं। दिन भर वह उसी तरह कुर्सी पर बैठा रहा। शायद ही किसी से उसने कोई बात की हो। तथापि किसी प्रकार की थकावट, जी उतकाने का कोई चिह्न मैंने उसके चेहरे पर एक क्षण के लिए भी नहीं देखा। वास्तविक अथवा

कृत्रिम मुसकान उसके चेहरे पर सब समय समान भाव से बनी हुई थी। मैं यद्यपि ताश के खेल में व्यस्त था, तथापि बीच-बीच में कनखियों से इस अपरिचित और असाधारण-प्रकृति व्यक्ति के हाव-भाव पर गौर करता जाता था। उसके मुख के भाव से एक ऐसी सहृदयता-भरी सरलता टपकती थी जो बहुधा साधारण, भोले-भाले आदमियों में पायी जाती है, पर बीच-बीच में उसकी आँखें अकारण ही विद्युत् की तरह ऐसी तीक्ष्णता से चमक उठती थीं कि उन्हें देखकर मैं किसी अज्ञात अनुभूति से चकित हो उठता था।

ताश का खेल खतम होने पर वह अपरिचित व्यक्ति कुर्सी पर अच्छी तरह से डट कर बैठ गया, जिससे स्पष्ट था कि वह अभी जाने का विचार नहीं करता।

दो-चार इधर-उधर की बातें होने पर चर्चा छिड़ी कि वर्तमान समय में दुष्कृतियों की संख्या जो दिन-दिन बढ़ती चली जाती है, उसका कारण क्या है। किसी ने कहा कि बेकारी बढ़ने के कारण लोगों की हालत खराब हो गयी है और निरुपाय होकर बेकार व्यक्ति दुष्कृतियों का आश्रय लिया करते हैं। एक दूसरे सज्जन ने कहा—"बेकारी ही यदि इसका कारण होती तो केवल चोरी, डकैती, गबन या जालसाजी तक ही दुष्कृतियाँ सीमित रहतीं, पर आजकल नारी-हरण, परस्त्री-गमन, प्रेम-सम्बन्धी हत्या तथा आत्म-हत्याओं की संख्या में जो वृद्धि होती चली जाती है इसका कारण आर्थिक सङ्कट कदापि नहीं हो सकता। नारी-हरण कुछ अंश में बेकारी के कारण उत्पन्न सामाजिक व्याधियों में गिना जा सकता है, क्योंकि कुछ पेशे-वर गुण्डे घृणित आर्थिक लाभ के लिए इस व्यवसाय में लिप्त पाये जाते हैं। पर इस प्रकार के सभी मामलों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। इसके अलावा, इस युग में हम देखते हैं कि पति और पत्नी अपनी-अपनी प्रेमिकाओं तथा प्रेमियों के जाल में इस बुरी तरह जकड़े हुए पाये जाते हैं कि एक-दूसरे की हत्या का षड़यन्त्र रचने लगते हैं।" टण्डनजी ने फरमाया—"वास्तव में पातिव्रत धर्म की मिट्टी इस घोर अनैतिक युग में किस कदर खराब हो गयी है, यह देखकर आश्चर्य होता है। स्त्रियाँ अपने

पतियों को विष देकर मार सकती हैं, यह बात किस्से-कहानियों को छोड़ कर प्रत्यक्ष जगत् में कभी सम्भव हो सकती है. इस बात पर कुछ ही वर्ष पहले तक मैं कभी विश्वास नहीं करता था। पर आजकल अखबारों में इस प्रकार की खबरें इस साधारण रीति से छपती हैं, ठीक जैसे रुई या पाट का भाव। सनसनीखेज खबरें छापकर बिक्री बढ़ाना ही जिन पत्रों का काम है वे भी इस प्रकार की खबरों को उपेक्षणीय समझते हैं, और मोटे टाइप में न छापकर साधारण टाइप में प्रकाशित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि समाज की नैतिक मनोवृत्ति का कैसा अधःपतन हो गया है। किसी भी दुर्नीति पर लोगों को आश्चर्य ही नहीं होता।"

यहां पर पूर्वोक्त अपरिचित व्यक्ति ने अपना सुदीर्घ मौन अकस्मात् भङ्ग किया। टण्डनजी की ओर देखकर वह बोला—"आप लोगों की बातों से यह साफ जाहिर होता है कि दुष्कर्मियों को आप बेहद घृणा की दृष्टि से देखते हैं और समाज में दुष्कर्मों की बढ़ती देखकर बहुत दुःखित हैं। आप लोगों का यह मनोभाव स्वाभाविक है। दुष्कर्म आखिर दुष्कर्म ही है। फिर भी अगर आप सब प्रकार के दुष्कर्मों को एक ही श्रेणी के भीतर लेकर सब का मूल कारण 'नैतिक मनोवृत्ति का अधःपतन' समझ लें तो मैं आपकी इस बात से कदापि सहमत नहीं हो सकता। उन्नत मानसिक वृत्तियों के आवश्यकता से अधिक अनुशीलन के कारण भी अक्सर मनुष्य को दुष्कर्म करते देखा गया है।"

यह मन्तव्य ऐसा अद्भुत था कि मैं उठ बैठा और अत्यन्त उत्सुकता से अपरिचित व्यक्ति की ओर देखने लगा। टण्डनजी तथा अन्यान्य सज्जन स्पष्ट ही इस उक्ति से प्रसन्न नहीं हुए थे, तथापि आश्चर्य उन्हें भी कुछ कम नहीं हो रहा था। वह अपरिचित व्यक्ति किसी की प्रसन्नता, अप्रसन्नता, कौतूहल अथवा आश्चर्य के प्रति कुछ भी लक्ष्य न करके आवेश में कहता चला गया—"अगर दुष्कर्म और दुष्कर्मी के प्रति हर हालत में घृणा प्रकट करना आप लोगों का सिद्धान्त है तो मैं सब से पहले घृणा के योग्य हूँ। यदि आप लोगों को समय हो तो मैं अपने जीवन की कहानी सुनाऊँ जिससे

आप अच्छी तरह अनुमान कर सकेंगे कि आदमी इच्छा न होने पर भी किस हद तक नीचता को अपना सकता है।"

मैंने कहा—"हम लोग बड़े शौक से सुनेंगे।" टण्डनजी यद्यपि कहानी सुनने के लिए विशेष उत्सुक नहीं जान पड़ते थे, तथापि शिष्टाचार के लिहाज से उन्होंने भी अपनी मौखिक इच्छा प्रकट की।

अपरिचित व्यक्ति ने अपनी कहानी आरम्भ कर दी—

"अपने प्रारम्भिक जीवन में मैं कभी स्वप्न में भी इस बात की कल्पना नहीं कर सकता था कि किसी दिन मुझमें दुष्कर्मियों की मनोवृत्ति अपना घर कर लेगी। सुन्दर निर्मल, स्निग्ध और पवित्र विचारों की फुलझड़ियों के साथ मेरा बाल्य और कैशोर जीवन बीता था। इसमें सन्देह नहीं कि नारी के रूप की मोहिनी के आकर्षण ने मुझ पर बचपन से ही अपना प्रभाव डालना शुरू कर दिया था। मैं भावुक था और मेरी हृदयानुभूति अत्यन्त प्रबल थी। इसलिए स्त्री-सौन्दर्य की अपरूप माया का प्रतिबिम्ब फोटो के 'सैन्सटाइज्ड प्लेट' की तरह मेरे अनुभूतिशील अन्तःकरण पर अवश्य ही पड़ना चाहिए था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पर उस प्रतिबिम्ब का किसी प्रकार का हानिकारक प्रतिफल होने के बजाय ऐसा विशुद्ध प्रकाशमय आनन्द मेरे हृदय के कण-कण से विकीरित होने लगता था जैसे हिमालय पर्वत के शुभ्र-शीतल हिम पर प्रभातकालीन सूर्य की रश्मियां पड़ने से विचित्र रङ्गीनी छा जाती है। मैं अपने पाप-पुण्यमय जीवन की एक भी बात आप लोगों के आगे छिपाना नहीं चाहता। मैं स्पष्ट स्वीकार कर देना चाहता हूँ कि मैं जब पहले-पहल नारी-सौन्दर्य के प्रति आकर्षित हुआ तब मेरी आयु केवल दस वर्ष की थी। एक दिन मैं अपने एक साथी के यहाँ खेलने गया हुआ था। बाहर आँगन में हम लोग चोर-मुंडौरा खेल रहे थे। हमारा जो साथी चोर बना हुआ था उसे छकाने के लिए एक-बार मैं पिछवाड़े के रास्ते से जनाने में चला गया। उस घर की सब स्त्रियों को मैं जानता था, इसलिए बेधड़क बिना किसी सङ्कोच के भीतर घुस गया। पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने एक अद्भुत रूपवती

अपरिचित स्त्री को वहाँ खड़े पाया। नीले रङ्ग की, बनारस की सच्ची जरी से चमकती हुई रेशमी साड़ी पहने, सुन्दर गहनों से सुसज्जित, तपाये हुए सोने की तरह गोरी उस युवती को देखते ही मैं विह्वल दृष्टि से उसकी ओर बहुत देर तक ताकता रह गया। मेरी व्याकुल उत्सुकता देखकर उसने स्निग्ध मुसकान से अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरे सिर पर हाथ फेरना शुरू किया और बड़ी मीठी आवाज में पूछा—'किसे ढूँढ़ते हो, लल्ला?' उस स्नेह-स्पर्श से मेरे रोमाञ्चित हृदय की ठीक क्या दशा हो रही थी, मैं कह नहीं सकता; पर इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि वैसा मधुर, पवित्र, परमानन्दयय स्पर्श इस जीवन में मैंने फिर दूसरी बार कभी अनुभव नहीं किया। खेलना भूलकर मैं बहुत देर तक उसी अपरिचिता महिला के साथ लगा रहा। जब वह अपने घर को वापस जाने लगी तो जाते समय फिर एक बार मङ्गल-स्नेहमय दृष्टि से मेरी देखकर मेरे गालों पर अपने स्निग्ध सरस हाथ फेरकर मुझ से कहने लगी—'चलो, हमारे घर चलोगे?' जाने की अदम्य इच्छा होने पर भी मैं नहीं गया। बिना पिताजी की आज्ञा लिये मुझे किसी के घर जाने का अधिकार नहीं हो सकता, यह संस्कार मेरे मन पर जमा हुआ था। पर वह मोहिनी रमणी प्रतिपल मेरे मनोराज्य में विचरती रही। सम्भवतः उस रात को मैंने उसे स्वप्न में भी देखा और दूसरे दिन सुबह को आँख खुलते ही पहले-पहल उसी की याद आयी। वह कौन थी, कहाँ से आयी थी, इस बात का पता मुझे अभी तक नहीं है, और उस दिन के अतिरिक्त फिर कभी एक दिन के लिए भी मैंने उसे नहीं देखा। पर मेरी मानसिक आँखें अभी तक (आज प्रायः पचीस वर्ष के बाद भी) उसे प्रत्यक्ष देखती हैं। किसी उल्काराज्य से छूटी हुई फुलझड़ी की तरह वह क्षणमात्र के लिए अपनी अलौकिक आभा दिखाकर विलीन हो गयी और अपना स्थायी चिह्न मेरे मन पर अङ्कित कर गयी है।

"तब से जब-जब किसी काव्य में किसी अनुपम सुन्दरी स्त्री की चर्चा आयी है तो मैं अपने मन में नायिका के बदले उसी अपरिचिता महिला का ध्यान करता आया हूँ। शकुन्तला, कुमारसम्भव की पार्वती और तुलसीदास

की सीता मेरे लिए उसी एक रूप में व्यक्त हुआ करती थीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब तेरह वर्ष की आयु में तुलसीदास की रामायण में सीता स्वयंवर का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इस चौपाई को पढ़ने लगता—'सोह नवल तनु सुन्दर सारी, जगत्-जननि अतुलित छबि भारी', तो मैं अपने मनश्चक्षु से उसी पूर्वोक्त रमणी को जगत्-जननी सीता के रूप में देखकर अलौकिक प्रेम के हर्ष से पुलकित हो उठता था और मेरी आँखें सचमुच में डबडबा आतीं। अकलुष सौन्दर्य और पवित्र प्रेम की वह दिव्य स्मृति मैं कभी भूल नहीं सकता।

"इसके बाद चौदह या पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मुझे एक दूसरी महिला का अनिर्वचनीय रूप देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे एक साथी की बगल में एक बहुत बड़ा फोड़ा हो गया था। चूँकि वह लड़का स्कूल के होस्टल में रहता था और उसके घर का कोई आदमी उपस्थित न था, इसलिए मैं ही उसे साथ लेकर अस्पताल चला गया। डाक्टर साहब शायद किसी काम में व्यस्त थे, इसलिए उन्होंने डाक्टरनी साहबा से (जो एक भारतीय महिला थीं और किसी कारण से उस समय वहाँ उपस्थित थीं) आपरेशन करने के लिए कहा। डाक्टरनी साहबा का निर्मल, स्निग्ध हास से प्रभासित रूप ऐसा विमोहक था कि मैं उनके चरणस्पर्श के लिए लालायित हो उठा। पर मुझे आश्चर्य इस बात पर हो रहा था कि ऐसा करुण-कोमल जिनका रूप है वह कैसे चीर-फाड़ के काम में हाथ दे सकती हैं! वह मेरे मित्र को और मुझे एक अलग कमरे में ले गयीं। मेरे साथी को उन्होंने एक पलंग पर चित करके लिटाया और उसका कमीज उतारने के बाद मुझसे उसका हाथ मजबूती से पकड़े रहने के लिए कहा। मैंने कठपुतली की तरह उनकी आज्ञा का पालन किया। एक चाकू लेकर वह नश्तर देने लगीं। मेरा साथी कराह उठा और छटपटाने की चेष्टा करने लगा। मैं उस दृश्य को सहन न कर सका और हाथ मैंने ढीला कर लिया। डाक्टरनी साहबा मेरी ओर अपनी कमान-सी तनी भौंहों से तेवर चढ़ा कर देखने लगीं और बोल उठीं—'तुम बड़े बुजदिल हो!' हड़बड़ा कर मैंने

फिर मजबूती से अपने साथी का हाथ पकड़ा और डाक्टरनी साहबा ने बिना लेशमात्र झिझक के फोड़ा आरपार चीर डाला। मरहम-पट्टी बाँधने के बाद डाक्टरनी साहबा अपना कोप-रूप त्याग कर अपने स्वाभाविक मधुर स्नेह से हम लोगों की ओर मुस्कराती हुई बोलीं—'घबराने की कोई बात नहीं है, अब सब ठीक हो गया है।'

"उस दिन मैं एक अद्भुत अनुभूति लेकर घर पहुँचा। स्नेह और निर्ममता का जो अपूर्व सम्मिश्रण मैंने उस अनुपम रूप-मोहिनी में देखा था वह निराला था। सारा हृदय एक विचित्र स्पन्दन से कण्टकित हो उठा। देवी दुर्गा के महामहिम रूप की जगत्-वन्दनीय शोभा मेरी आँखों के आगे भासमान होने लगी। उस छोटी उम्र में भी मेरे मन में भक्ति का भाव जागरित हो उठा था। रामायण के पाठ से इस भाव को और भी उत्तेजना मिल चुकी थी। आप लोग हँसेंगे यदि मैं कहूँ कि डाक्टरनी साहबा को मैं मन ही मन वास्तव में दुर्गाजी के बतौर मानकर भक्ति-विह्वल भाव से उनकी मूर्ति का ध्यान करने लगा था।

"लड़कपन की इन सब भावुकता-भरी बातों का उल्लेख मैंने यह दिखाने के लिए किया है कि मेरी भक्ति और श्रद्धा-भरी निष्कलङ्क आत्मा का झुकाव किस ओर था। स्त्री को उसके उन्नततम रूप में देखने, उसकी पूर्णतम पवित्रता पर विश्वास करने की प्रवृत्ति मेरी रग-रग में समायी हुई थी। सीता के सतीत्व के उज्ज्वल आदर्श की कल्पना करते हुए कितनी बार मैंने पुलकित होकर आँसू बहाये हैं, इसकी गिनती नहीं की जा सकती। गरज यह कि सौन्दर्य, प्रेम, पवित्रता और आनन्द की दुनिया में ही मेरा बाल्य और कैशोर जीवन बीता था।

"युवावस्था में पाँव रखते ही मुझे ऐसी दुःख और शोक से भरी सांसारिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा कि मेरी मानसिक क्रिया का सारा चक्र ही बदलने-सा लगा। कुछ ही समय के भीतर एक-एक कर के घर के प्रायः सभी बड़े-बूढ़ों की मृत्यु के बाद मेरी बहन को क्षय रोग ने धर दबाया। उस समय घर पर पुरुष कहने को केवल मैं ही था। दो-तीन

महीने तक उसकी अक्लान्त परिचर्या करने के बाद एक दिन उसे श्मशान में जला आया। जिन लोगों को अनुभव नही है, वे नही समझ सकते कि क्षय के रोगी की परिचर्या कैसी कठिन होती है। दूसरे रोगियो की सेवा-टहल से केवल शरीर ही थकित होता है, पर क्षय का रोगी सारी अन्तरात्मा को थकित और निर्जीव कर डालता है। वह जीवितावस्था में ही सारे घर में प्रेतलोक का भयावह वातावरण उत्पन्न कर देता है। खैर। एक बहन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद एक दूसरी विधवा बहन को ठीक इसी रोग ने धर दबाया। दीर्घ परिश्रान्ति के बाद अन्त को उसे भी श्मशान पहुँचाया। इसके थोड़े ही दिन बाद भाभीजी बीमार पड़ गयीं—ठीक इसी बीमारी से! उफ़! वह कैसी परेशानी थी! इन झंझटो के कारण मुझे लगातार दो-तीन वर्ष तक कभी चैन से दम लेने की फ़ुर्सत न मिली। भाभीजी की भी वही गति हुई जो दूसरों की हुई थी। मैं ऐसा मालूम करने लगा था कि मैं क्षय-रोग के सागर-मार्ग का मल्लाह हूँ और मृत्यु-लोक के यात्रियों को एक-एक करके जीवन के उस पार पहुँचाता चला जाता हूँ। अपने चारों ओर के वायुमण्डल मे मैं मृत्यु का धुंधला पट छाया हुआ देखने लगा; प्रत्येक प्राणी मुझे क्षय रोग मे छीजता हुआ और प्रेतरूप धारण करता हुआ जान पड़ता था। सर्वत्र अतल विषाद से आच्छन्न मृत्यु का अटल राज्य मुझे दिखायी देता था।

"स्त्री के सौन्दर्य में लेशमात्र भी आकर्षण मेरे लिए नहीं रह गया। किसी रूपवती रमणी पर जब मेरी दृष्टि पड़ती तो मेरी अन्तरात्मा तत्काल सचेत होकर मुझे सावधान करते हुए मानो कहने लगती—'इस रूप के भीतर क्षय के कीटाणु भरे हैं जो समय पाते ही इसे प्रेत बनाकर छोड़ेंगे।' और उसी दम उस मोहिनी महिला का प्रेत-रूप मेरी मानसिक आँखों के आगे नाचने लगता। मेरी मानसिक भावधारा में ऐसा अद्भुत परिवर्तन हो गया कि मैं घोर तामसिक अवसाद से ग्रस्त होकर मानो सचमुच प्रेतलोक में विचरण करने लगा और उसी में एक प्रकार के विकृत आनन्द का अनुभव करने लगा। किसी की सन्निकट मृत्यु का समाचार पाते ही मेरी खिन्न

आत्मा उल्लसित हो उठती, और आप लोग मेरी इस बात पर विश्वास कीजिये कि बरातों में सम्मिलित होने पर मेरे मन में वर्णनातीत उदासी छा जाती थी, पर किसी की शव-यात्रा के अवसर पर मेरे रोम-रोम में ऐसा उत्साह समा जाता था, ऐसी चेतना जाग पड़ती थी कि मुझे उसका खयाल करके स्वयं आश्चर्य होता था। श्मशान में जाकर चिता बनाने में मैं सब से ज्यादा मुस्तैदी से काम करता था और आग लगाये जाने पर अत्यन्त लुब्ध दृष्टि से मृतव्यक्ति को जलते हुए देखता, और देख-देख कर मेरे हर्ष का पारावार न रहता। मस्तिष्क का गूदा अथवा हाथ-पाँव की चर्बी अथवा हृदय का रक्त जलने पर जब-जब चटखने की आवाज होती तब-तब मेरे हृदय में आनन्द का विस्फोट-सा होता! अगर रात का समय होता तो अन्धकार में निर्धूम चिताग्नि की लपलपाती हुई लपटों का प्रज्वलित प्रकाश देखकर जो उद्दीप्त उमङ्ग मेरे अणु-अणु में व्याप्त हो जाती थी उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। उस आनन्द के आगे मुझे ब्रह्मानन्द भी तुच्छ जंचता था। मेरे हृदय की ऐसी विचित्र दशा हो गयी कि शहर में मेरा परिचित अथवा अर्द्ध-परिचित कोई भी व्यक्ति जब कभी किसी भी समय मरता तो मैं सब काम छोड़कर उसकी शव-यात्रा में जाकर शामिल हो जाता था। गोया किसी का मरना मेरे लिए परम उत्सव का दिन था।

"यह मानसिक स्थिति बहुत दिनों तक रही। संसार के सब लोग जीवन के नाना चक्रों में जड़ित थे, पर मैं उन सब की मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठा था। किसी भी व्यक्ति में लेशमात्र भी स्वास्थ्य-सम्बन्धी कोई गड़बड़ मुझे दिखायी देती तो मैं तत्काल मन-ही-मन यह कल्पना करने लगता कि उसके थोड़े ही दिन शेष रह गये हैं, अब उसका बात करना, हँसना, खुशी मनाना व्यर्थ है। किसी का लड़का पैदा होता और मुझे वह दुबला-पतला नजर आता तो मैं सोचता कि शीघ्र ही उसे क्षयरोग धर दबावेगा, और उसके माँ-बाप उसे देख-देख कर व्यर्थ ही निहाल हो रहे हैं और खुशियाँ मना रहे हैं। गरज यह कि बच्चे में, बूढ़े में, स्त्री में, पुरुष में, पृथ्वी में, आकाश में, सर्वत्र मृत्यु की छाया मेरी आँखों के आगे नाच रही थी।

"मेरी इस आच्छन्न मानसिक अवस्था को एक दिन अकस्मात् ऐसा धक्का लगा कि उसमें मूलतः परिवर्तन हो गया। उस दिन एक सज्जन के यहाँ किसी विशेष उत्सव के अवसर पर भोज था। मुझे भी निमन्त्रण था। भोज के पहले सङ्गीत-मण्डली बैठी थी। दो-एक व्यक्तियों के गा चुकने के बाद एक प्रायः तेरह वर्ष की लड़की कुछ सज्जनों के अनुरोध से हारमोनियम के पास आकर बैठी। मैं अपने मित्रों तथा परिचित व्यक्तियों के यहाँ की प्रायः सभी लड़कियों को जानता था, पर इस लड़की को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वह दुबली-पतली थी। उसके मुख का रङ्ग यद्यपि गोरा नहीं था, तथापि साँवला भी नहीं कहा जा सकता। वह बैजनी रङ्ग की दामी साड़ी पहने थी। साड़ी के पहनावे का ढंग बङ्गालनों का-सा था। उसके उठने-बैठने का ढंग यथेष्ट सुघड़पन और सौष्ठव का द्योतक था। पर इन सब बातों के प्रति मेरा विशेष ध्यान नहीं था। मैं केवल उसकी आँखों को देखकर चकित था! उज्ज्वल, विस्मित आँखों की वैसी मार्मिक तीव्रता मैंने अपने जीवन में अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं देखी है। मैं मोहाविष्ट होकर उन्माद-ग्रस्त-सा उसकी ओर देखता ही रह गया। देखते-देखते मैं ऐसा मालूम करने लगा कि मेरे हृदय के सामने युगों से कराल मृत्यु का जो निबिड़ काला पर्दा पड़ा हुआ था उसे जैसे किसी ने अपने जादू के स्पर्श से पल में आर-पार चीर कर छिन्न-भिन्न कर दिया हो। शरत्काल की पारदर्शी नीलिमा मेरे रोम-रोम में अनन्त-जीवन की स्निग्ध-चेतना सञ्चारित करने लगी। मेरी अन्तरात्मा का कण-कण प्रभातकालीन तुहिन की उज्ज्वल सजलता से भींग गया। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वह दुबली-पतली थी; पर उसकी आँखों की अलौकिक माया के कारण उसके शरीर की ओर मेरा ध्यान ही नहीं जाता था; ऐसा जान पड़ता था जैसे उसमें शरीरत्व का नाम नहीं है—जैसे वह ईथर में तरङ्गित होने वाली एक अतीन्द्रिय छाया हो।

"लड़की ने हारमोनियम बजाते हुए ऐसे सधे हुए स्वर में पीलू गाना शुरू किया कि सारी सभा में स्तब्धता छा गयी। उसके लचीले गले

में ऐसा दरद था कि मालूम होता था जैसे सारा वायुमण्डल निखिल विरह की करुण वेदना से मन्द-मधुर रो रहा है। सारी जनता को विह्वल-विभ्रान्त करते हुए उसने और भी दो-एक गाने गाये। उस रात को जब मैं घर पहुँचा तो पलंग पर लेट कर बहुत देर तक नवीन अनुभूति के चैतन्य से सिसक-सिसक कर रोता रहा। रोने में इतना आनन्द है, यह बात मुझे पहली बार मालूम हुई। मृत्यु की अच्छेद्य माया भेद करके आज मैं जीवन के प्राङ्गण में पाँव रखने पर पूर्ण प्रसन्न था।

"दूसरे दिन सुबह को मैं फिर किसी बहाने से अपने मित्र के यहाँ गया। कल भरी सभा में उस लड़की को देखा था, आज व्यक्तिगत रूप से उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने मित्र से, जिनका नाम रामेश्वरप्रसाद था, मैंने पूछा कि वह लड़की कौन है और उनसे किस प्रकार सम्बन्धित है। रामेश्वर बाबू की बात से मालूम हुआ कि वह उनके मामा की लड़की है, बनारस के किसी हाई स्कूल में पढ़ती है और अपनी भाभी (रामेश्वर बाबू की पत्नी) के विशेष अनुग्रह से छुट्टियों में उनके पास आयी हुई है। मैंने फिर एक बार लड़की की ओर देखकर कहा—'गाती तो बहुत अच्छा है। आसावरी सुनाने को कहिये, मुझे सब रागिनियों में यही सबसे ज्यादा पसन्द है।' रामेश्वर बाबू ने लड़की को सम्बोधित करते हुए कहा—'गा दो सरला, गौरी बाबू अनुरोध करते हैं।' बिना किसी आपत्ति के सरला टिम-टिमाते हुए तारे की तरह विस्मित, तथापि स्निग्ध दृष्टि से एक बार मुझे घूरती हुई स्थिर शान्त पगों से नीचे बैठ गयी। हारमोनियम पहले से ही वहाँ पर रखा हुआ था। शायद मेरे आने के पूर्व एक बार गाना हो चुका था। आज भी मेरी सारी अन्तरात्मा अतृप्त भाव से उसकी निराली, तीक्ष्ण भावुकता से भरी आँखों का रस पान कर रही थी, और किसी बात की सुध मुझे नहीं थी।

"वह आसावरी गाने लगी। अपने जीवन में मैं कभी इस रागिनी को सुनकर थकित नहीं हुआ हूँ। उस दिन बहुत दिनों के बाद मुझे आसावरी सुनने का अवसर मिला था। मेरे हृदय का प्रत्येक रक्तकण उसे सुनकर

नाचने लगा। इसके बाद एक-आध गाना उसने और सुनाया। रामेश्वर बाबू को धन्यवाद देकर, लड़की के प्रति मूक कृतज्ञता प्रकट करके मैं भाव-विभोर होकर वापस चला गया। अगर कोई आदमी मेरी इस बात से यह समझ बैठे कि सरला के प्रति मेरे मन में प्रेम का भाव उत्पन्न हो गया था तो यह भयङ्कर भूल होगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेम के लक्षण करीब-करीब ऐसे ही होते हैं। पर मेरे हृदय का वास्तविक भाव प्रेम नहीं, उससे भी बढ़कर था। अपरिसीम श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से मेरा हृदय झुक गया था। प्रेम वहाँ होता है जहाँ दोनों पक्षों के हृद्गत भावों के परस्पर विनिमय की सम्भावना हो। पर सरला एक तो उम्र में बहुत छोटी होने के कारण संसार के अनुभवों से अपरिचित थी, दूसरे वह ऐसे उच्च समाज के गौरव-गम्भीर वातावरण में पली हुई थी कि मेरी किसी प्रकार की भी घनिष्ठता उसके साथ सम्भव नही हो सकती थी, यह बात मैं प्रथम दृष्टि से ही समझ गया था। इसलिए उसके साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने की लालसा मेरे मन में किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं हो सकती थी। तथापि, जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, जो भाव मेरे मन में उसके प्रति उत्पन्न हुआ था वह प्रेम से कई गुना अधिक उन्नत और सुन्दर था।

"उस दिन के बाद मैं सरला का दर्शन करने रामेश्वर बाबू के यहाँ नहीं गया। पर बाद में मुझे मालूम हो गया था कि दो-तीन दिन के बाद ही वह बनारस को वापस चली गयी थी। वह चली गयी, पर मेरी जीवन-धारा को ही एकदम पलट गयी—केवल दो दिन के दर्शन से! संसार की रात-दिन की तुच्छता के भीतर मुझे विमल आनन्दाभास दिखायी देने लगा, रोग-शोक और मृत्यु की क्लान्त छाया विलीन होकर मेरी आँखों के आगे अनन्त जीवन की स्निग्ध ज्योति जगमगाने लगी। क्षयरोग का भूत मेरे मन से एकदम हट गया।

"तीन वर्ष तक लगातार मैं प्रायः प्रति दिन किसी-न-किसी क्षण सरला का ध्यान एक बार अवश्य कर लेता, विशेष कर के स्निग्ध विषाद से पीली पड़ी हुई स्वर्ण-सन्ध्या के समय। बिना एक बार उसका ध्यान किये मेरी

आत्मा में किसी प्रकार की चेतना ही जागरित नहीं होती थी। चौथे वर्ष के प्रारम्भ में मुझे खबर मिली कि सरला रामेश्वर बाबू के यहाँ आयी हुई है। यह भी मालूम हुआ कि वह बीमार है। मैं दूसरे ही दिन रामेश्वर बाबू के यहाँ जा खड़ा हुआ। मैंने सोचा था कि साधारण ज्वर होगा, 'फीवर मिक्शचर' या कुनैन के सेवन से दो-एक दिन बाद ठीक हो जायगा। पर रामेश्वर बाबू की बात सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये और सिर भिन्नाने लगा। उन्होंने कहा कि उसे टी० बी० हो गया है! टी० बी० ! वही क्षय-रोग, जिसके आतङ्क से मैं बड़ी मुश्किल से त्राण पा सका था! उस रोग ने उसी लड़की को धर दबाया जिसने मुझे अपने व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता से उसके बन्धन से मुक्त किया था! काँपती हुई आवाज में मैंने रामेश्वर बाबू से पूछा—'क्या मैं भीतर जाकर उसे देख सकता हूँ?' रामेश्वर बाबू मुझे अपने साथ उस कमरे में ले गये जहाँ सरला पलंग पर चित लेटी हुई पड़ी थी। कहाँ गयी उसकी आँखों की वह आध्यात्मिक मनोहरता! कहाँ गयी वह विस्मित भावुकता! हड्डियों के ढांचे के भीतर कोटरों के नीचे धुसे हुए दो प्रकाश-बिन्दु उसके प्रेत-मुख को और भी अधिक भयावना रूप दे रहे थे। मैं बहुत जल्दी उस कमरे से बाहर निकल आया।

"मालूम हुआ कि सरला की मां या बहनें कोई नहीं हैं, इसलिए रामेश्वर बाबू की स्त्री ने उसकी परिचर्या का भार अपने ऊपर लिया है। उसके पिता एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी थे। कुछ दिनों बाद लम्बी छुट्टी लेकर वह भी रामेश्वर बाबू के यहाँ आ पहुँचे। तीन महीने तक सब लोगों ने मिलकर सरला की यथेष्ट परिचर्या की। अन्त को राम-नाम की महिमा का नारा लगाते हुए हम लोग उसे श्मशान ले गये।

"जिस रूप ने कभी मेरे मन में चिदानन्द का आभास झलकाया था वह किस अवस्था को परिणत हो गया था, उसकी विभिषिका का ठीक-ठीक चित्र खींचना असम्भव है, इसलिए इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहींकहूँगा। पर इस घटना से मेरे मन में फिर से मृत्यु का भूत इस प्रबलता से सवार हुआ कि अब की मेरे पागल होने की नौबत आ पहुँची—रूपक के अर्थ में नहीं,

वास्तविक अर्थ में पागलपन के भय ने मुझे जकड़ लिया। मैंने सोचा कि पागल होने से आत्महत्या बेहतर है। पर चूँकि जीवन का आनन्द एक बार किसी अंश में पा चुका था, इसलिए अब आत्महत्या के लिए भी पूरा साहस नहीं होता था।

"विभीषिकामय विचारों के पारस्परिक संघर्ष ने मेरी मानसिक अवस्था को अत्यन्त विकृत कर डाला। मृत्यु के चिरान्धकारमय कालरूप ने मुझे इस कदर परेशान कर दिया था कि किसी उपाय से मैं उससे मुक्ति पाना चाहता था। मैंने देखा कि घोर पाप में डूबकर भी यदि जीवन का आभास किसी अंश में मिल जाय (चाहे वह कैसे ही विकृत रूप में क्यों न हो) उसको हर तरह अपनाना चाहिये।

"अन्त में मेरे परिपूर्ण पतन का चरम अवसर आ ही पहुँचा। एक तङ्ग गली के भीतर जिस मकान में मैं रहता था उसके सामनेवाले मकान में एक पन्द्रह-सोलह वर्ष की लड़की नित्य अपने छज्जे से मुझे नाना चञ्चल हाव-भाव दिखाया करती थी। पहले मैं उसकी ओर दृष्टि पड़ते ही घृणा से मुँह फिरा लिया करता था। पर अब मेरे मन में पाप के कीड़े ने घुसकर मेरा दृष्टिकोण ही एकदम बदल डाला था। इसलिए मैं भी अब उसके प्रति आकर्षित होने लगा; यहाँ तक कि आँखों के भाव से प्रेम भी जताने लगा। उसे मेरा मनोभाव भाँपने में देर न लगी। वह द्विगुण उत्साह से अपना हास-विलास व्यक्त करने लगी।

"मैंने धीरे-धीरे उस मकान के पुरुषों के साथ घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी और मेरा आना-जाना वहाँ बराबर जारी रहने लगा। पहले ही कह चुका हूँ कि मेरी 'मरता क्या न करता' की-सी मानसिक अवस्था हो रही थी। मेरे पहले जीवन का व्यक्तित्व एकदम दब चुका था और एक दूसरा ही व्यक्तित्व परिपूर्ण प्रवेग से जोर बाँध रहा था। जिस प्रकार 'सोम्नेबुलिज्म'—निद्रा-विचरण—का रोगी निद्रावस्था में ही उठ खड़ा होता है और नींद की हालत में एक निश्चित 'प्लान' के अनुसार बड़े-बड़े कामों को ठीक उसी स्थिरता से करता है जिस तरह एक जगा हुआ आदमी, और

जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में उस ढंग के कामों को करने की कल्पना ही कभी उसके मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं होती, ठीक वही दशा उस समय मेरी हो रही थी। मेरा असली व्यक्तित्व जिस प्रकार के आचरण के साहस का कयास भी कभी नहीं कर सकता, मेरा दूसरा व्यक्तित्व उस समय बल-पूर्वक मुझे उसी को अन्त तक सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए उकसा रहा था। अर्थात् मैंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि उस लड़की को जिस उपाय से भी हो, भगा ले चलूँगा। मैं नपे-तुले निश्चित पगों से इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर आगे बढ़ता चला जाता था।

"मैं मौका देख रहा था। अन्त को एक दिन (बल्कि यह कहना ठीक होगा कि एक रात) अवसर पाकर उसे भगा ले गया; किस उपाय से और कैसे, यह बताने के लिए समय नहीं है और न इसकी विशेष आवश्यकता ही है। हम दोनों बनारस में एक गुप्त गली के भीतर रहने लगे। कुछ दिनों के खर्च के लिए मेरे पास रुपया था, इसके अतिरिक्त लड़की भी अपने साथ बहुत-सा रुपया अपनी मां के सन्दूक से चुराकर लायी थी, और गहना भी उसके पास यथेष्ट था। हां, मैं यह बात कहना ही भूल गया कि लड़की बाल-विधवा थी। उसका नाम मैं नहीं बताऊँगा और न जाति ही। केवल इतना ही सूचित कर देना चाहता हूँ कि वह मेरी स्वजातीया नहीं थी—अर्थात् कायस्थ कुल में उसका जन्म नहीं हुआ था। कुछ भी हो, बनारस में हम दोनों बड़े प्रेम से आनन्दपूर्वक रहने लगे। मैं इस बात पर गर्व अनुभव करने लगा कि समाज-बन्धन तोड़कर मैं एक भले घर की लड़की को सतीत्व को तिलाञ्जलि देने के लिए बहकाने में समर्थ हुआ हूँ और पाप के रहस्य-मय संसार में गुप्त, निषिद्ध सुख प्राप्त कर रहा हूँ। कभी-कभी बीच में मेरा असली व्यक्तित्व जब कुछ क्षण के लिए सचेत हो उठता था तो मैं सिहर उठता था। पर वह लड़की मुझ पर पूरा भरोसा करके निश्चिन्त थी और अपने सम्पूर्ण हृदय से मुझे प्यार करके मेरे संग में परम तृप्त थी। मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे उस अनुचित सम्बन्ध से उसकी आत्मा में कभी एक क्षण के लिए भी द्वन्द्व न मचा होगा। अपने मां-बाप को छोड़ने का

दुःख वह लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर रही थी। उसे प्रतिपल केवल इस बात की चिन्ता रहती थी कि मैं सुखी होकर आराम से रहूँ। मेरी छोटी से छोटी आवश्यकता पर इस उत्सुकता से ध्यान देती थी कि मैं गर्व से फूला न समाता था।

"इसी तरह तीन-चार महीने बीत चले। हम दोनो पति-पत्नी के बतौर रहते थ। इसलिए पास-पड़ोस की स्त्रियों ने बिना किसी सन्देह के मेरी प्रेमिका के साथ आकर हेलमेल बढ़ाना शुरू कर दिया था। उनके पुरुषों के साथ मेरा भी परिचय हो गया था। वे लोग मुझे अकसर भोजनादि का निमन्त्रण दिया करते थे और फलतः मुझे भी बदले में उन्हें बुलाना पड़ता था। पर्दे का पक्षपाती मैं बिलकुल नहीं था, क्योकि मुझे अपनी योग्यता और अपने प्रति उस लड़की के प्रेम पर पूरा विश्वास था। पर वह पर्दे का संस्कार नहीं छोड़ सकी थी और मेरे मित्रो के आगे घूँघट निकाला करती थी। मैंने निश्चय कर लिया कि उसकी यह आदत छुड़ाऊँगा। धीरे-धीरे अन्त में मैं अपनी चेष्टा में सफल हुआ। यद्यपि उसमें सङ्कोच का भाव वैसा ही बना हुआ था, तथापि अब वह कुछ पूछे जाने पर मेरे मित्रों की बातों का उत्तर दे देती।

"पहले तो मैं उससे इस बात पर नाराज रहता था कि वह पर्दा करती है; पर अब मेरी नीच प्रवृत्ति में सन्देह का कीड़ा अपना काम करने लगा। परिचित सज्जनो में से एक विशेष व्यक्ति के प्रति उसकी घनिष्ठता बढ़ रही है, यह वहम मेरे मन में पैठ गया। इस जूं ने बढ़ते-बढ़ते भैंस का रूप धारण किया और मैं अत्यन्त खिन्न-हृदय से यह सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए; क्योंकि उस लड़की का प्रेमावेश मुझे एकदम कड़वा और विषैला जान पड़ने लगा। साथ ही मैं यह भी जानता था कि मेरे प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आयी है और अब भी वह सच्चे हृदय से मुझे प्यार करती है। पर ईर्ष्या का घातक कीट जहाँ एक बार मस्तिष्क और मन में घुस जाता है तो अनर्थ करके ही छोड़ता है।

'मेरी बेचैनी बढ़ती गयी। अन्त को जब परिस्थिति असहनीय हो उठी

तो मैंने उसे सदा के लिए त्याग कर भाग चलने का निश्चय कर लिया। उसकी प्रेम-भरी, उत्सुक और सदा गद्गद रहने वाली आँखों की कृतज्ञ दृष्टि का स्मरण मेरी अन्तरात्मा को बार-बार पीड़ित करके मुझे अपने निश्चय से विचलित करने की चेष्टा करता था। पर मैंने अपने जी को कड़ा करने की ठान ली। आखिर एक दिन मैं उसे उस परदेश में निस्सहाय अवस्था में अकेली छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

"कुछ ही दिन बाद बनारस के एक समाचार-पत्र से मुझे मालूम हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली है। इस समाचार से मेरे चित्त की जो अवस्था हुई उसका वर्णन करना अनावश्यक है। तब से पल-पल वही एक भावना—केवल उसी की स्मृति—तिल-तिल करके मेरे हृदय को चाटती है। जिस प्रेम को दुनिया ने और मैंने पापमय समझा था, आज एकमात्र उसी के चिन्तन से मेरा रोम-रोम व्याकुल है। मेरे प्राथमिक जीवन की सब पवित्र अनुभूतियों को डुबोकर केवल वही एक पाप मेरे मनोगगन में सारे निखिल को अपनी महिमा से आच्छन्न किए हुए है। यदि हम दोनों के उस प्रेम का अन्त इस प्रकार दुःखात्मक न होता तो शायद उसके महत्त्व से मैं कभी परिचित न हो पाता। मेरी पापात्मा को समुचित दण्ड ही मिला है। मैं दुष्कर्मी हूँ और अवश्य आप लोगों की घृणा के योग्य हूँ। फिर भी आप ··· · पर मेरा दिमाग खराब होने लगा है। बीच-बीच में कुछ महीनों के लिए मेरा मस्तिष्क बिगड़ जाता है और मैं घर और बाहर उपद्रव मचाने लगता हूँ। पागलखाने भेजे जाने पर फिर कुछ दिनों में स्वस्थ हो उठता हूँ। दो बार बरेली के पागलखाने में भरती हो चुका हूँ। आज फिर पागलपन के पूर्व लक्षण दिमाग के भीतर मालूम कर रहा हूँ। इसलिए अब जाता हूँ।"

यह कह कर वह रहस्यमय व्यक्ति बिना किसी का अभिवादन किये तत्काल उठकर बाहर चला गया, यद्यपि बाहर जोर का पानी बरस रहा था। हम लोग एक-दूसरे का मुँह ताकते ही रह गये। टण्डनजी ने जब मुझसे पूछा कि वह व्यक्ति कौन है तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैं यह सोचे

बैठा था कि वह टण्डनजी के परिचित व्यक्तियों में से कोई होगा और स्वयं टण्डनजी से उसका परिचय जानना चाहता था।

तब से फिर कभी वह व्यक्ति मुझे कहीं नहीं दिखायी दिया। किस रहस्यमय लोक से वह आया था और कहाँ गया, मैं कभी इस बात का पता लगाने में समर्थ न हुआ।

होली

रामनारायण और शिवनारायण दो भाई थे। वे लोग खत्री थे। लखनऊ में सुन्दरबाग के पास अपने निजी मकान में रहते थे। केवल छ महीने पहले इस नये मकान में गृह-प्रवेश हुआ था। रामनारायण सेक्रेटेरियट के किसी विभाग में सुपरिण्टेण्डेण्ट थे और छ सौ के करीब वेतन पाते थे। शिवनारायण कण्ट्रैक्टर थे। उनकी भी मासिक आय खासी अच्छी थी। उनका एक भाई और था, जो सबसे छोटा था। उसका नाम था व्रजनारायण। प्रायः चार वर्ष पहले उसकी मृत्यु हो चुकी थी। वह वकालत किया करता था, अर्थात् "बार" में जाकर अपने अन्यान्य वकील बन्धुओं के साथ गप्पें उड़ाया करता था और बैठा-बैठा मक्खियाँ मारा करता था। कभी-कभी वकीलों की दुर्दशा पर एक कहानी लिखकर किसी मासिक पत्र में छपाने की तरङ्ग भी उसके मन में उठा करती थी, पर अपनी इस इच्छा को वह कभी कार्य-रूप में परिणत न कर सका। कुछ भी हो, उसकी फैशनेबुल सूटों और पाकिट का खर्च उसके बड़े भाई ही चलाया करते थे। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश उसके एक लड़का भी हो गया था। इस लड़के के जन्मोत्सव पर वैसी ही धूमधाम हुई, जैसी अन्यान्य भाइयों के लड़कों के जन्म के समय हुई थी, बल्कि उससे कुछ अधिक ही हुई। व्रजनारायण की भाभियाँ इस बात से प्रसन्न नहीं हुईं। व्रजनारायण और उसकी स्त्री से उसकी भाभियों की बनती न थी। कारण शायद यह हो कि वह बेकार रहने पर भी भाइयों का दुलारा था और भाभियों पर रौब गाँठने की चेष्टा किया करता था, यद्यपि अपनी स्त्री को बहुत चाहता था और (बकौल उसकी भाभियों के) उसे सदा सिर पर चढ़ाये रहता था। केवल यही नहीं। उसकी भाभियों की जलन का एक कारण और भी था। उनकी सास और ननद भी व्रजनारायण की ही स्त्री के प्रति अधिक कृपा दृष्टि रखती थीं। उनके

पतियों की कमाई पर इन अनधिकारियों का यह अनुचित दर्प उन्हें किसी प्रकार अच्छा नहीं लगता था। इन सब कारणों से इन दो पक्षों का वैमनस्य दिन-दिन बढ़ता जाता था और तूषाग्नि की तरह परस्पर-प्रतिहिंसा की अन्त-र्ज्वाला दोनों पक्षों में भीतर-ही-भीतर धधकती जाती थी। इसलिए जब अचानक एक दिन न्यूमोनिया से आक्रान्त होकर व्रजनारायण इहलोक से चल बसा तो उसकी माता, स्त्री और विधवा बहन सुशीला के आर्त-क्रन्दन के साथ यद्यपि उसकी भाभियों ने भी योग दिया था, तथापि मन-ही-मन उन्होंने जिस प्रतिहिंसा-जनित उल्लास का अनुभव किया था, उसका उल्लेख करने से ज्ञानी लोग मन-ही-मन अविश्वासपूर्वक हँसेंगे। इसलिए हम भी इस सम्बन्ध में चुप रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। व्रजनारायण की मृत्यु के बाद उसी वर्ष अत्यधिक शोक से अथवा किसी वास्तविक रोग के कारण उसकी स्त्री की भी मृत्यु हो गयी, और उसकी स्त्री की मृत्यु के प्रायः एक महीने बाद ही उसकी माता भी चल बसी। उसका साल भर का अनाथ लड़का, जिसका नाम उसने बड़े लाड़ से प्यारेलाल रखा था, सुशीला की गोद में आया।

दुधमुँही अवस्था में ही प्यारेलाल से मातृस्तन छूट गया। सुशीला के बड़े भाइयों के कहने पर भी उसकी कोई भाभी उसे दूध पिलाने को राजी न हुई। लाचार होकर उसने उसे बोतल का दूध पिलाना आरम्भ कर दिया। इसमें काफी झंझट था, और नित्य आधी-आधी रात में उठ कर स्टोव जला कर दूध गरम करके उसे इस असहाय बच्चे को पिलाना पड़ता था, पर फिर भी बच्चा रात-भर रोता ही रहता था, और उसे यथार्थ तृप्ति नहीं होती थी। इसका फल यह होता था कि प्रायः सारी रात उसे जागरण में ही बितानी पड़ती थी। यह अभ्यास उसके लिए नया था। इसके पहले कभी उसे रात को जागना नहीं पड़ा था और अपनी गाढ़ निद्रा के लिए वह कुटुम्ब-भर मे विख्यात थी। एक तो भाई, माता और छोटी भाभी का मृत्यु-शोक, तिस पर इस नादान बच्चे की चिन्ता, जो सब से अधिक आव-श्यक थी। इन दो प्रबल ताड़नाओं के बीच वह जैसे पिसी जाती थी।

तथापि बच्चे की रक्षा के खयाल से उसकी अन्तरात्मा किसी अज्ञात संस्कार की प्रेरणा से सतत इस प्रयत्न में थी कि उसका अपना स्वास्थ्य भग्न न हो। क्योंकि उसके एक दिन के लिए भी बीमार पड़ जाने से बच्चे की क्या हालत होगी, यह वह भली भाँति जानती थी। फिर भी जब वह दिन-भर और प्रायः रात-भर बच्चे का आर्त-क्रन्दन सुनती रहती तो कभी-कभी मन-ही-मन मचल उठती थी और उसकी इच्छा होती थी तत्काल विष खाकर वह भी मर कर कुटुम्ब के अन्य तीन प्राणियों की तरह मुक्त हो जाय। पर फिर बच्चे का खयाल करके शान्त हो जाती और उसे पकड़ कर अत्यधिक स्नेह से उसका मुँह चूमती और दुलारने लगती।

इसी प्रकार के झंझटों और दुश्चिन्ताओं में किसी अज्ञात देवता की सहायता से उसके सुदीर्घ पाँच वर्ष कट गये। अब प्यारेलाल छ वर्ष का हो गया। ये पाँच वर्ष निर्विचित्र भाव से, अपरिवर्तित गति से बीते थे। प्यारेलाल की चिन्ता के अतिरिक्त अन्य किसी भावना ने इस अवधि के भीतर सुशीला के मन में प्रवेश नहीं किया था। यहाँ तक कि अपने वैधव्य का दुःख भी वह इस स्थिति में बहुत-कुछ भूल गयी थी। अनेक कष्टों तथा कठिनाइयों का सामना करके अब जब वह इस दुधमुँहे, निपट अबोध बच्चे को कुछ स्थिर, निश्चित अवस्था में लाने में समर्थ हुई तो अपने त्याग तथा श्रम की सार्थकता का खयाल करके वह बीच-बीच में पुलकित हो उठती थी। प्यारेलाल पहले जितना रोता था, अब उतना ही शान्त और शिष्ट हो गया था। उसकी आँखों में, हाव-भाव में, चाल-चलन में असाधारण बुद्धिमत्ता की स्पष्ट छाप पायी जाती थी। वह ताइयों के लड़कों के साथ खेला करता था और ताइयों के प्रति भी विशेष स्नेह जतलाना चाहता था, यद्यपि उनके स्वभाव की रुखाई से डरता भी था। एक दिन किसी कारण से (अथवा अकारण ही) एक ताई ने उसे पीटा और एक ने धमकाया। तब से वह न तो उनके लड़कों के साथ ही कभी खेलने गया और न कभी किसी ताई के साथ ही उसने कोई सम्बन्ध रखा। हर घड़ी केवल अपनी बुआ का अञ्चल पकड़े रहता और बुआ के साथ ही खेलता था। सुशीला भी प्रति-

क्षण उस पर दृष्टि रखती थी, और यक्ष जिस प्रकार प्रतिपल सजग होकर किसी गुप्त धन पर पहरा देता रहता है, उसी प्रकार उसे भी सोते में, जागते में उसी की रखवाली का ध्यान रहता। रामनारायण और शिवनारायण अपना कर्तव्य समझ कर बीच-बीच में सुशीला से प्यारेलाल का हाल-चाल पूछ लेते, और उसके कपड़े-लत्ते और दूध-मिठाई के वास्ते सुशीला को प्रतिमास कुछ रुपये अलग दे दिया करते थे। इतने ही में उन लोगों का "कर्तव्य" समाप्त हो जाता था। अन्य सब विषयों में वे घर के अन्यान्य व्यक्तियों की तरह ही उसके प्रति उदासीन थे। इसका परिणाम यह हो गया था कि सुशीला और प्यारेलाल को वे लोग अभ्यासवश एक दूसरे ही कुटुम्ब के प्राणी के बतौर देखने लगे थे। सुशीला ने प्यारेलाल को लिखना-पढ़ना सिखाना शुरू कर दिया था। प्यारेलाल की बुद्धि एक तो स्वभावतः तीक्ष्ण थी, तिस पर बुआ के साथ एक प्रकार से एकान्त-जीवन बिताने के कारण उसका मन खेलने की अपेक्षा पढ़ने की ओर अधिक लग गया। वह कुछ ही दिनों के भीतर कहानियों की छोटी मोटी किताबों को धड़ाधड़ पढ़ने लग गया। यह देखकर सुशीला की प्रसन्नता की सीमा न रही। कहानियों की ओर उसका चस्का देखकर वह उसे रामायण, महाभारत की कथाएँ और पौराणिक उपाख्यान सुनाने लगी। प्यारेलाल उनमें बड़ी दिलचस्पी लेता था और बार-बार उससे उन कथाओं के सम्बन्ध में नाना ऊटपटांग प्रश्न करता था। सुशीला भी परम स्नेह से उसके प्रश्नों का यथायोग्य उत्तर दिया करती थी। इस प्रकार इस स्नेहशील, बुद्धिमान तथा एकान्तप्रिय अनाथ बालक के साथ उसके वैधव्य के दिन बीत रहे थे।

* * * *

उस वर्ष रामनारायण के दफ्तर में इलाहाबाद से बदली होकर एक नया क्लार्क उनके अधीन आया हुआ था। उसका नाम शम्भुप्रसाद था। जाति का वह ब्राह्मण था, पर दफ्तर के अन्यान्य क्लार्क आपस में यह काना-फूसी किया करते थे कि अपने स्वभाव के अनेक गुणों में वह ब्राह्मणत्व की सीमा को लांघकर बहुत आगे बढ़ गया है। वह बड़ा मिलनसार और

खुशामदी था। अपनी प्रकाश्य शिष्टता और मिष्टता से उसने रामनारायण की विशेष कृपादृष्टि प्राप्त कर ली थी। चलते-फिरते आदमी का परिचय प्राप्त करके वह उसके साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित कर लेता था। प्रतिक्षण वह मुस्कराता ही रहता था और स्त्रियों से भी अधिक कोमल स्वर तथा मधुर शब्दों में वार्तालाप करता था। कपाल में वह सदा चन्दन-तिलक धारण किये रहता था। इसे वह द्विजत्व की पहचान का आवश्यक वाह्य चिह्न बतलाता था। दफ़्तर में ब्राह्मण तथा कायस्थ पार्टियों के पारस्परिक वैमनस्य का प्रश्न जोर पकड़ने पर भी उसकी मिलनसार प्रकृति के कारण कायस्थ लोग भी उससे प्रसन्न रहते थे।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रामनारायण उसके प्रति विशेष कृपालु थे। वैसे वह बड़े कड़े अफसर थे, और उनके अधीन सब क्लार्क उनसे बाघ की तरह डरते थे। यहाँ तक कि सुपीरियर सर्विसवालों के साथ भी वह विशेष घनिष्ठता का भाव स्थापित करना नहीं चाहते थे, क्योंकि (वह कहा करते थे) ऐसा होने से वे लोग मुँह लग जाते हैं और ठीक ढग से काम नहीं करते। पर शम्भुप्रसाद जूनियर सर्विस का क्लार्क होने पर भी उसके साथ वह प्रतिदिन बेतकल्लुफ बहुत देर तक बेकाम की बातें किया करते थे। उसे काम भी वह बहुत कम देते थे, क्योंकि उसे अधिक फाइलें देने से उनके मनोविनोद में विघ्न होता था।

शम्भुप्रसाद ने जब इस प्रकार रामनारायण पर अपनी मोहनी डाल दी तो एक दिन उसने उन्हें परोक्ष रूप से यह सूचित किया कि लखनऊ में भाड़े के किसी सस्ते और अच्छे मकान के अभाव से उसे रहने की बड़ी असुविधा है। रामनारायण ने उस समय तो उससे कुछ न कहा, पर दूसरे दिन उसे एकान्त में बुलाकर बोले—"अगर तुम हमारे मकान में रहना पसन्द करो तो दो कमरे हमारे पास 'स्पेयर' हैं। जब खुशी तब आकर देख सकते हो। रसोई का अलग प्रबन्ध भी हो सकता है, साथ चाहो तो साथ भी हो सकता है। बाल-बच्चे तुम्हारे साथ हैं?"

"जी नहीं। मैं अकेला हूँ। मुझे दो कमरों की जरूरत नहीं। रसोई

का कमरा अलग होने से एक ही कमरे से मेरा काम चल जायगा।"

"महाराज साथ है?"

"जी नहीं, मैं स्वयं अपने हाथ से खाना बनाता हूँ। गरीब आदमी ठहरा, महाराज रखने की गुञ्जाइश···"

रामनारायण मुस्कराये। डेढ़ सौ रुपया प्रतिमास पानेवाले इस ब्राह्मण-पुत्र की कञ्जूसी देखकर उन्हे हँसी आयी। साथ ही यह देखकर प्रसन्नता भी हुई कि आजकल के फैशनेबुल बाबुओ की तरह (जिन्हें देखकर वह बहुत चिढ़ते थे) शम्भुप्रसाद श्रम-विमुख नही है, और रुपये-पैसे की कदर जानता है।

दूसरे ही दिन शम्भुप्रसाद अपना बोरिया-बंधना लेकर रामनारायण के यहाँ आ उपस्थित हुआ। आते ही पहले ही दिन वह परिवार के सभी पुरुषों के साथ हिलमिल गया और स्त्रियों का परिचय भी परोक्ष रूप से प्राप्त करके अपना परिचय भी उसने उन्हें दे दिया। कुटुम्ब के सभी व्यक्तियो को उसे देखकर ऐसा भान होने लगा, जैसे वह उन्हीं के सगे-सम्बन्धियों में से कोई हो।

सुशीला भी इस नवयुवक ब्राह्मण की धर्म-निष्ठा, उसका प्रसन्न स्वभाव और सौजन्य देखकर एक अनोखे, अभूतपूर्व चेतन की अनुभूति से कम्पित होने लगी। उसके इतने वर्षों के निर्विचित्र जीवन में एक नयी वेदना का तार झंकृत होता जान पड़ने लगा। शम्भुप्रसाद नित्य तड़के उठकर, स्नानादि से निवृत्त होकर, माथे पर तिलक चढ़ा कर गीता का पाठ किया करता था, और इसके बाद स्वय अपने हाथ से भोजन बनाता था। सुशीला उसे देखकर श्रद्धा से गद्गद् हो जाती, और भीतर-ही-भीतर किसी-न-किसी रूप से उसकी सेवा करने के लिए लालायित हो उठती थी।

शम्भुप्रसाद सन्ध्या को दफ़्तर से आकर घर के बच्चो को अपने साथ ले लेता था और उन्हें पढ़ाने लग जाता। वह रामनारायण के उपकार का बदला इसी रूप मे चुकाना चाहता था। उसने देखा कि प्यारेलाल घर के अन्यान्य बच्चों से प्रायः अलग ही रहता है, और इस बात पर भी उसका

ध्यान गया कि सुशीला उसे एक मिनट के लिए भी नहीं छोड़ती। सुशीला को प्रसन्न करने के विचार से हो, अथवा आन्तरिक दया के कारण से,—कारण कुछ भी हो, वह प्यारेलाल के प्रति विशेष ध्यान देने लगा। फल यह हुआ कि प्यारेलाल कुछ ही दिनों में उससे बहुत हिलमिल गया। उसका भावुक शिशु-हृदय किसी सहृदय साथी के आगे अपने को उन्मुक्त रूप से व्यक्त करने के लिए बहुत दिनों से छटपटा रहा था। जब उसने देखा कि शम्भुप्रसाद ताई के लड़कों से उसी को अधिक चाहता है (अपनी बुआ को छोड़कर संसार के किसी स्त्री या पुरुष से उसे यह आशा न थी) उसके साथ मीठी-मीठी स्नेह-भरी बातें करता है, उसके प्रत्येक प्रश्न को अत्यन्त धैर्यपूर्वक सुनता है और ऐसा उत्तर देता है जो उसकी आशा के अनुकूल हो, तो वह हर्ष और उल्लास से तरङ्गित हो उठा। उसकी प्यारी बुआ भी उसे कभी-कभी खामखाह डांट दिया करती थी, पर यह नवागत प्रसन्न-चित्त व्यक्ति कभी भूलकर भी उससे कोई कड़ी बात न कहता था। सुशीला ने जब देखा कि शम्भुप्रसाद को पाकर प्यारेलाल का अस्वाभाविक विराग-भाव लुप्त होने लगा है, और उसमें शैशवोचित आनन्द नये रूप से जग-मगाने लगा है तो वह हर्ष से फूली न समायी। उसका कल-हास्य सुनकर उसका पुलकाकुल हृदय एक अपूर्व अनुभूति से झंकृत हो उठता था।

विशेष-विशेष धार्मिक अवसरों पर वह रामनारायण के घर में स्त्रियों को पूजा करा देता था। सुशीला के विधवा होने के कारण घर की अन्य स्त्रियों की अपेक्षा उसी की प्रवृत्ति देवार्चन की ओर अधिक थी। ब्राह्मण-देवता से हिन्दू-स्त्रियां परदा नहीं रखतीं। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे अन्तःपुर में शम्भुप्रसाद का आना-जाना निरन्तर अवारित रूप से होने लगा। अन्य स्त्रियों की तरह सुशीला भी धीरे-धीरे उसके साथ बेपर्दा होकर खुलकर बातें करने लगी।

सुशीला को एक बार यह सोचने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई कि शम्भुप्रसाद के प्रति वह क्यों आकर्षित हुई जाती है। यदि वह एक बार अपना मन टटोल भी लेती तो भी वह इस आकर्षण को सहज

स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण करती। उसका कुछ दूसरा अर्थ लगाना उसके समान भोली-भाली युवती के लिए एक प्रकार से असम्भव ही था। पर वह जितना आकर्षित हुई थी, शम्भुप्रसाद उसके प्रति उससे कहीं अधिक आकर्षित हुआ था। वह उन दोनों के इस पारस्परिक आकर्षण का स्पष्ट अर्थ इस सरला विधवा को बता देने की चेष्टा में था, और धीरे-धीरे अवकाश मिलते ही नाना हाव-भावो से अपने भाव को व्यक्त करने का दुस्साहस भी करने लगा। वह सन्ध्या को स्त्री-समाज में बैठकर रामायण अथवा महाभारत की चर्चा छेड़ देता और बीच-बीच में ऐसे उपाख्यानो पर टिप्पणी करने लग जाता, जो शृङ्गार-रसात्मक होने पर भी धार्मिक, सर्व-विदित और लोकप्रिय थे। वह इस ढंग से उन पर टिप्पणी करता कि सुननेवालो के हृदयो में उन्मद वासन्ती लहर थरथर हहरा उठने पर भी वक्ता की नीयत पर सन्देह करने का साहस किसी को नहीं हो सकता था।

सुशीला बड़े ध्यान से उसकी बातें सुनती और रात को एकान्त में उन पर विचार करने की चेष्टा करती। एक सुरसुरी-सी उसके मन में पैदा होती, उसके जड़-हृदय की सुप्त वासनाएँ एक बार तारङ्कित-सी होने लगतीं, पर तत्काल एक अज्ञात भय की शङ्का से वह आतङ्कित हो उठती। सुबह को उठकर पिछले दिनो की तरह वह अभ्यासवश प्यारेलाल को जगाती, उसका हाथ-मुँह धोकर उसे नाश्ता करवाती और इसके बाद उसके हाथ में उसकी किताब दे देती। पर ये सब कर्तव्य कर्म अब वह बहुत कुछ अन्य-मनस्क होकर करने लगी थी। अवसर पाते ही प्यारेलाल को उसकी पुस्तक के साथ अकेले छोड़कर वह शम्भुप्रसाद के पास किसी बहाने से चली जाती। शम्भुप्रसाद खाना बनाने में लगा रहता। वह भी मसाला पीस देती, कभी तरकारी काटने लग जाती।

एक दिन शम्भुप्रसाद ने ऐसे ही अवसर पर उससे विनोदपूर्वक कहा—"मेरा फूटा भाग्य देखिये! अगर मेरी स्त्री इस समय यहाँ होती तो क्या आपको इस प्रकार कष्ट उठाना पड़ता!"

सुशीला मसाला पीसती हुई लाज-भरी मुसकान से बोली—"तो आप

उन्हें यहाँ साथ लिवा क्यों नहीं लाये ?"

शम्भुप्रसाद ने कृत्रिम गम्भीरता का भाव दिखाकर कहा—"लाता कैसे ! ससुरजी लाने दें तब तो ! कहते हैं डेढ़ सौ में मेरी लड़की का गुजारा तुम्हारे साथ हो नहीं सकता। आप ही बतलाइये, यह कैसा अन्याय है ! दोनों सुख-दुख से साथ ही अपने दिन बिताते। डेढ़ सौ क्या कम हैं। हमें करना ही क्या है। सैर करने के लिए फिटन न सही तो एक्का ही सही। ठाठ से रहना क्या जरूरी है ! स्त्री को मायके रहना क्या सुहाता है ! जिय बिन देह नदी बिन वारी, तैसेहि नाथ पुरुष बिन नारी। वैसे ही नारी बिन पुरुष ! मेरी आत्मा की तड़पन की ससुरजी को क्या खबर !"

सुशीला यह व्याख्यान सुनकर कुछ देर तक विह्वल-सी होकर उसकी ओर ताकती रही। उसके मन में एक टीस-सी पैदा हुई। अपने दीर्घ-निःश्वास को कुछ दबाकर प्रकट में विनोद का भाव जताकर उसने कहा—"आपके ससुरजी बड़े निष्ठुर हैं, इसमें सन्देह नहीं।"

शम्भुप्रसाद बोला—"यही तो मैं भी कहता हूँ ! आप ही बतलाइये, इस परदेश मैं विरह की लम्बी रातें कैसे बिताऊँ !"

सांसारिक बातों से अभिज्ञ कोई स्त्री होती तो शम्भुप्रसाद के इस कृत्रिम परिताप पर हँसती। पर सुशीला उसकी प्रत्येक बात को यथार्थ मानकर मन-ही-मन उसके प्रति समवेदना का अनुभव कर रही थी। विरह की वेदना से और मिलन की सुखानुभूति से वह अनभिज्ञ थी। पर आज शम्भुप्रसाद ने उसके मन में एक व्याकुलता उत्पन्न कर दी थी। एकाएक शम्भुप्रसाद ने उसके सामने ही गजलें गाना शुरू कर दिया। जब वह वापस चली आयी तो उसका चित्त उद्भ्रान्त हो गया था। प्यारेलाल के हाथ में पुस्तक देकर उसे वह बिठा गयी थी, पर आकर देखा कि वह वहाँ पर नहीं है। शायद कहीं खेलने गया होगा। उसे ढूँढ़कर अपने पास बुलाने की तनिक भी सामर्थ्य अथवा इच्छा उसमें नहीं रह गयी थी। वह अपने पलंग पर लेट गयी। नाना अर्थहीन कल्पनाएँ उसके मस्तिष्क को व्यतिव्यस्त करने लगीं।

सुशीला की अब यह दशा हो गयी थी कि वह दिन अथवा रात के किसी भी समय किसी भी विषय पर कुछ सोचने लगती तो शम्भुप्रसाद उस कल्पना से अवश्य किसी-न-किसी रूप में संश्लिष्ट रहता। जैसे उठते-बैठते, सोते-जागते शम्भुप्रसाद की आत्मा अज्ञात, सूक्ष्म रूप में उसके साथ विचरण कर रही हो। शम्भुप्रसाद जब दफ्तर को चला जाता तो दिन-भर वह उसी के लौटने के इन्तजार में घण्टे गिना करती। पाँच बजे जब वह लौटता और अपने आगमन की सूचना के बतौर बाहर से मीठी सुरीली आवाज में प्यारेलाल को पुकारता तो सुशीला के हृदय का तार थरथर पुलक से झनझना उठता। प्यारेलाल के बहाने से शम्भुप्रसाद उसी के कमरे में पहले-पहल आता। वह भी शायद अपने अन्तस्तल में यह अनुभव करने लगा था कि सुशीला दिन-भर उसी की प्रतीक्षा में कान लगाये बैठी है। पर पहले की तरह वह प्यारेलाल के साथ बातें नही करता था। प्यारेलाल अब केवल मध्यस्थ के बतौर उन दोनों की घनिष्ठता को बढ़ाने का साधन-मात्र था। जब दोनों बातों में निमग्न रहते तो वह चुपके से उनकी दृष्टि बचाकर बाहर खेलने चला जाता था।

* * * *

होली का दिन था। घर के सब लोग राग-रङ्ग में मस्त थे। बच्चे एक-दूसरे पर पिचकारी मार रहे थे। स्त्रियाँ पुरुषों पर रंग भरी हाँड़ियां उंड़ेल रही थीं और पुरुष स्त्रियों पर। नौकर-चाकर भी उन्मत्त हो रहे थे। रामनारायण और शिवनारायण के मित्र टोलियां बांधकर उनसे मिलने आते थे और अबीर और गुलाल मलकर कुछ समय के लिए विनोद की बातें करके फिर चले जाते थे। ठण्डाई छन रही थी और मिठाइयाँ उड़ रही थीं। एक को दूसरे की सुध न थी। यह स्वच्छन्द, स्वाधीन अवसर पाकर शम्भुप्रसाद सुशीला के पास गया और उसके कपड़ों पर रङ्ग छिड़कने लगा। विधवा को होली खेलने का कोई अधिकार नहीं है, यह बात सुशीला भली भाँति जानती थी, और इसके पहले किसी वर्ष होली के उत्सव पर कभी किसी ने उस पर रङ्ग डाला भी न था। पर आज शम्भुप्रसाद के

रंगीले मन का रंग उसके मन पर भी चढ़ गया। मन में कोई आपत्ति न होने पर भी प्रकट में वह कृत्रिम कोप का भाव दिखाती हुई, और अधरों पर लहराती हुई मुसकान को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करती हुई बोली—"मुझ पर रङ्ग डालते हुए आपको लज्जा नहीं मालूम होती !"

उसने धृष्टतापूर्वक कहा—"होली के दिन लज्जा का क्या काम ! आप भी मजे की बात करती हैं !" यह कहकर गाने लगा—"होरिन में लाज न कर गो—" सुशीला ने घबरा कर बीच ही में उसे टोककर, हथेली से अपना मुंह ढककर संकेतपूर्वक कहा—"चुप कीजिये ! कोई सुनेगा तो क्या कहेगा !"

"उंह ! कोई फाँसी थोड़े ही देगा ! साल में मुश्किल से एक दिन राग-रङ्ग के लिए मिलता है, उसे भी अगर हम बेकाम के डर में गंवा दें तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है !" इस प्रकार सुशीला की घबराहट को तुच्छ करके वह बोला—"बैठिये, मैं आपके लिए शरबत ले आता हूँ।"

नीचे जहाँ ठण्डाई छन रही थी, वहाँ से एक बड़ा कुल्हड़ वह भर लाया और सुशीला से बोला—"लीजिये, बहुत अच्छा शरबत है।" सुशीला कुछ हिचकिचायी। बोली—"पहले आप पीजिये, तब मैं पीऊंगी।"

"मैं एक बार पी चुका हूँ।"

"और पीजिये।"

"अच्छी बात है।" यह कहकर वह फिर नीचे गया, और एक दूसरा कुल्हड़ भर लाया। पहले उसने पिया। उसे पीते देखकर सुशीला ने भी पीना शुरू कर दिया। ठण्डाई में भाँग की पत्तियाँ यथेष्ट मात्रा में पड़ी हुई थीं; पर बहुत से मसाले डाले गये थे, जिनके कारण वह बहुत स्वादिष्ठ बनी थी। जब दोनों पी चुके तो शम्भुप्रसाद ने बहुत देर तक इधर-उधर की बातों से उसका मन बहलाया। इसके बाद जब उसने देखा कि धीरे-धीरे उसकी आँखों पर नशे की लाली चढ़ने लगी है तो उसने जेब से मुट्ठी भर गुलाल निकालकर उसके मुंह पर मलने का प्रस्ताव किया। सुशीला

"हाँ" या "ना" कुछ न बोली। उसकी जबान लड़खड़ाने लगी थी। शम्भुप्रसाद ने अधिक देर करना व्यर्थ समझकर उसके अत्यधिक गोरे-उजले मुँह पर गुलाल खूब अच्छी तरह से मल ही तो दिया। सुशीला ने किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं किया। बल्कि शम्भुप्रसाद की जेब में हाथ डालकर उसने भी मुट्ठी भर गुलाल लेकर उसके मुँह पर मलना शुरू कर दिया। अब शम्भुप्रसाद का साहस बढ़ा। उपयुक्त अवसर देख कर वह उसके और निकट आकर खड़ा हो गया। एक हाथ से उसका बांया हाथ पकड़ कर और दूसरे हाथ से उसकी गर्दन पकड़ कर वह विशेष दुस्साहस की चेष्टा करने लगा। नशे की हालत में भी सुशीला ने इस बार यथेष्ट प्रतिरोध किया और दोनो में छीना-झपटी चलने लगी।

सहसा नीचे से किसी के आर्त-क्रन्दन का शब्द सुनायी दिया। आवाज किसी बच्चे की थी, सम्भवतः प्यारेलाल की। दोनो के कानों में उसकी भनक पड़ी; पर किसी ने भी उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। आवाज निकट आती गयी, और थोड़ी देर में "बुआ! बुआ!" कहकर चिल्लाता, रोता, सिसकिया भरता हुआ प्यारेलाल वहीं पर आ खड़ा हुआ जहाँ होली के इस उन्मत्त दिन में दोनो लज्जास्पद खींचातानी में व्यस्त थे। मादकता की घोर मोहाच्छन्न अवस्था से जगकर सुशीला ने निस्सहाय आर्त बालक की ओर आंख फिरायी। उसकी नाक से रक्त की धारा बह रही थी और होली के सफेद कपड़े उस रक्त के गाढ़े रंग से रँग गये थे। कुछ सेकिण्डो तक सुशीला स्तम्भित, विमूढ और विभ्रान्त-सी होकर उसके विह्वल, कातर मुख की ओर आंखें फाड़-फाड़कर एकटक देखती रह गयी। पल में उसका सारा नशा हिरन हो गया। सिनेमा के निरन्तर परिवर्तित चित्रपट की तरह उसके मस्तिष्क में एक बार विद्युत् गति से मृत भैया, भाभी और अम्मां की मूर्तियां क्रमशः झलक कर तिरोहित हो गयीं। उसे याद आया कि पिता-माता के स्नेह से वञ्चित यह प्यारा अनाथ बालक, जो उसके प्रतिपल का साथी था और पूर्णतः उसी पर आश्रय स्थापित करके निश्चिन्त था, इधर न मालूम कितने दिनो से उसके स्नेह से भी वञ्चित होकर इधर-उधर इस

स्नेहहीन, दयाहीन संसार के बच्चों के साथ न मालूम कहां-कहां भटक रहा था। इतने दिनों तक उसकी सुध भूलकर वह आज होली की पङ्किल उन्मत्तता में अपने को डुबाने में तत्पर थी! निदारुण ग्लानि और आत्मपरिताप से वह वित्रस्त से उठी। शम्भुप्रसाद को उसने ऐसे जोर का धक्का दिया कि वह गिरते-गिरते बच गया। प्यारेलाल के पास जाकर उसने व्याकुल वेग से उसे छाती से जकड़ लिया और अपनी साड़ी से उसका रक्त पोंछती हुई कातर कण्ठ से बोली—"किसने मार दिया, मेरे लल्ला!" वह प्रायः रोने लगी थी। प्यारेलाल सिसकियां भरता हुआ बोला—"बड़े भइया ने पिचकारी से मार डाला!" सुशीला ने मन में सोचा—"ऊपर मैं एक प्रकार की होली खेल रही थी और प्यारेलाल नीचे दूसरे प्रकार की होली खेलकर आया है। ठीक है! ठीक है! मैं घोर मोह में सो गयी थी तो भगवान् थोड़े ही सोये थे! वह तो प्रतिक्षण जाग्रत रहकर मेरी निपट नीचता का यथोचित दण्ड देने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे।"

कुछ देर तक वह उसे अपने गले से लिपटाये बैठी रही रही और बार-बार उसका रक्ताक्त मुंह और अश्रु-सिक्त आंखें चूमती रही और अञ्चल से अपनी गीली आँखें भी पोंछती रही। फिर उठकर उसे मुंह धोने के लिए बाहर ले गयी।

रात को सुशीला पर जीवन में प्रथम बार हिस्टीरिया के फिट का आक्रमण हुआ। वह बहुत देर तक छटपटाती रही।

स्त्रीमय

कुंवर साहब को मैंने पहले-पहल लखनऊ में देखा था। मेरे एक मित्र किसी एक रियासत की रानी साहबा के यहाँ प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उनकी कृपा से रानी साहबा के साथ मेरा भी परिचय हो गया था। इन्हीं रानी साहबा के यहाँ एक दिन कुंवर साहब आये हुए थे। रानी साहबा ने उनसे मेरा परिचय कराया। मैंने सोचा था कि कुंवर साहब पहले ही दृष्टिपात से मुझ-जैसे नगण्य व्यक्ति के प्रति एकदम अवज्ञा प्रकट करेंगे; पर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही जब प्रथम परिचय से ही वह मेरे प्रति अकारण आकर्षित होते जान पड़े।

कुंवर साहब का पूरा नाम था कुंवर वीरबहादुर सिंह। मुझे उनकी आयु २५ वर्ष से अधिक न जान पड़ी। शरीर उनका यथेष्ट गठीला और सजीला था। मुँह का रङ्ग गेहुआँ था और चेहरे की बनावट सुन्दर तथा आकर्षक थी। उनकी रसीली आँखों से कभी एक प्रकार की मीठी उदासी का भाव झलकता था, कभी एक तीव्र ज्योति विभासित होती हुई जान पड़ती थी। उनका आचरण अत्यन्त शिष्ट तथा मनोमोहक था। अधिकांश रियासती लोगों की तरह साफा, शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा न पहन कर वह कोट-पतलून डटाकर आये हुए थे।

प्रथम परिचय के कुछ ही मिनट बाद उन्होंने एक दर्शन-विषयक चर्चा छेड़ दी। उनका इरादा मुझसे वाद-विवाद करके कुछ देर तक गप्पाष्टक में समय व्यतीत करने का जान पड़ा। मै भी मीठी-मीठी मुसकान से यह जता कर कि उनके साथ बातें करने का सौभाग्य प्राप्त करके मैं अपने को कृतार्थ समझता हूँ; उनके प्रश्नों का उत्तर अपनी योग्यतानुसार देने लगा। कुंवर साहब की बातों से मुझे मालूम हुआ कि वह यथेष्ट पठित हैं और प्राचीन तथा आधुनिक दर्शन का अध्ययन उन्होंने भली भाँति किया है। विवाद

करते-करते यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि भर्तृहरि ने शृङ्गार-शतक लिखकर वैराग्य-शतक क्यों लिखा ? एक ही व्यक्ति की लेखनी से इस प्रकार के दो परस्पर-विरोधी भावों का लिखा जाना सम्भव हो सकता है या नहीं ? रानी साहबा ने कहा —"मेरी तो यह राय है कि शृङ्गार-शतक भर्तृहरि ने कदापि नहीं लिखा। यह बाद में कुछ दुष्ट कवियों ने स्वयं लिखकर उनके नाम से उसे प्रचारित कर दिया।" मैंने भी रानी साहबा के मत का समर्थन किया। और भी दो-एक सज्जनों ने यही राय दी। इस पर कुंवर साहब ने उपेक्षा की हँसी हँसकर शान्त भाव से कहा—"देखिये साहब, यह आप लोगों का बिलकुल गलत खयाल है। शृङ्गार-रस में बिना पूर्णतया डुबे हुए भर्तृहरि कभी इस प्रकार के उग्र वैराग्य का अनुभव न कर सकते। जिसने ऐश्वर्य-भोग ही न किया हो, वह वैराग्य के महत्त्व की बात क्या जाने! पूर्ण वैराग्य में प्रवेश करने के लिए पूर्ण भोग परमावश्यक है।" ऐसे आत्मविश्वास से उन्होंने यह बात कही थी कि किसी को इसका विरोध करने का साहस न हुआ। जब विदा होने का समय आया तो कुंवर साहब ने अपनी जेब से एक कार्ड निकाल कर मुझे दिया जिसमें उनका पता छपा हुआ था। बोले—"एक दिन अवश्य मेरे यहाँ पधारियेगा।"

मैं लखनऊ में बेकार पड़ा हुआ था। रजवाड़ों में जाकर हेलमेल बढ़ाने से कहीं कोई नौकरी मिल जाय, इस आशा से लोगों की खुशामद में लगा था। इसलिए कुंवर साहब ने जब मुझे अपना कार्ड देकर अपने यहाँ आने का आग्रह किया तो मैं मन-ही-मन फूला न समाया। अपने स्वार्थ के अतिरिक्त कुंवर साहब के भीतरी जीवन से परिचित होने की लालसा भी मेरे मन में वर्तमान थी। क्योंकि उनका चरित्र मुझे बड़ा रहस्यमय मालूम होता था। शीघ्र ही एक दिन उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। वह कैसर बाग में रहते थे। उनके रहन-सहन के ढंग में मैंने ऐसी तड़क-भड़क नहीं पायी, जैसी उन्हीं की स्थिति के दूसरे व्यक्तियों के यहाँ मैं प्रायः देखा करता था। पर प्रत्येक कमरे की सादी सजावट में एक ऐसा सुघड़पन दिखायी देता था, जिससे कला-सम्बन्धी सुरुचि का परिचय मिलता था। कुंवर साहब बड़े

प्रेम से मुस्कराकर बोले—"मैं तो सोचता था कि आप मुझे भूल गये होंगे !" कुछ देर तक हम दोनों में इधर उधर की बातें होती रहीं। इसके बाद कुंवर साहब ने किसी एक रानी साहबा का उल्लेख करके मुझसे पूछा कि उनके सम्बन्ध में मेरी क्या राय है। मैंने कहा—"मैं तो उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ।" कुंवर साहब अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—"आपकी रुचि मेरी रुचि से बहुत कुछ मिलती है। मैं भी उनके प्रशंसकों में से हूँ। पर वह सुन्दरी नहीं हैं, और मैं स्त्री-सौन्दर्य का उपासक हूँ, और जहाँ कहीं भी यह सौन्दर्य मुझे प्राप्त होता है, समस्त आत्मा से उसे ग्रहण करता हूँ। आप कहेंगे कि स्त्री का सौन्दर्य सभी पुरुषों को मुग्ध करता है, यह कोई नयी बात नहीं है। ठीक है। पर इस सम्बन्ध में मेरी प्रकृति में एक विशेषता है। सुन्दरी स्त्री को देखकर सांसारिक पुरुष अवश्य विचलित होते हैं, पर उनके लिए वह जीवन में एकमात्र सत्य नहीं है। अन्यान्य सांसारिक भावनाएँ उन्हें इस प्रकार जकड़े रहती हैं कि स्त्री-सौन्दर्य से उनका केवल क्षणिक विनोद होता है। पर मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय ही यही है। उठते-बैठते, सोते-जागते केवल एक ही भावना मेरी सम्पूर्ण आत्मा को प्रतिपल ग्रस्त किये रहती है। इस संसार को मैं स्त्रीमय देखता हूँ, सारी प्रकृति की रग-रग में मुझे स्त्री के सौन्दर्य का रस तरङ्गित होता हुआ जान पड़ता है। मेरे उद्दाम यौवन की यह उत्कट प्रवृत्ति—यह अतृप्त आकांक्षा—कभी शान्त हो सकेगी या नहीं, मुझे इस सम्बन्ध में सन्देह है।"

कुंवर साहब की सुन्दर आँखें किसी रहस्यमय दीप्ति से उद्भासित हो रही थीं। मैं स्तब्ध होकर उनकी बातें सुन रहा था। उत्तर में कुछ कहना ही चाहता था कि अकस्मात् बाँयी तरफ वाले किवाड़ का पर्दा हटा और दो अनुपम सुन्दरी अलबेलियों ने ड्राइंग रूम में प्रवेश किया। उन दोनों के रूप-यौवन का वर्णन करने में मैं अपने को पूर्णतया असमर्थ समझता हूँ। मुझे इस बात का गर्व है कि मैंने अपने जीवन में नाना प्रदेशों, नाना जातियों की अनेक सुन्दरी रमणियों को देखा है। पर उन दो ललनाओं का सा मर्मघाती सौन्दर्य न पहले कभी देखा था, न बाद को कहीं देखा है।

मैं मूढ़वत् उनकी ओर देखता रह गया। उन्हें देखकर मेरा हृदय अकारण धड़कने लगा और पाँव इस प्रकार काँपने लगे, मानो वे मेरे अपने पाँव न हों। कुंवर साहब की सौन्दर्योपासना को मूर्तिमान अवस्था में देखकर मैं मन-ही-मन उनके विश्वास की वास्तविकता की सराहना किये बिना न रह सका। दोनों की ही आयु प्रायः समान मालूम होती थी। उनमें से एक सुनहरे बेल-बूटों वाली आसमानी रङ्ग की रेशमी साड़ी पहने थी, और दूसरी हलके गुलाबी रङ्ग की। एक ने एक तरफ़ से आकर कुंवर साहब की कुर्सी का सहारा पकड़ लिया और दूसरी दाहिनी ओर आकर खड़ी हो गयी। पर कुंवर साहब उनके प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव दिखाकर मुझसे कहने लगे—"मुझे तो साहब, सारा संसार रङ्गीन मालूम होता है। सारी प्रकृति रङ्गीन है, जीवन रङ्गमय है और मृत्यु भी, बहुत सम्भव है, रङ्गीन होगी। पर अभी तो मुझे जीवन के अनेक रहस्यों को पार करना है। जीवन के अनन्त पट को मैं अपने आगे विस्तीर्ण हुआ देखता हूँ, और सारे पट पर स्त्री की आत्मा का अमर सौन्दर्य अङ्कित हुआ पाता हूँ। इसी एक भाव के पीछे मैं पागल हूँ।"

मैं एक बुद्धू की तरह दांत दिखाकर केवल मुस्करा दिया। कुछ उत्तर देते नहीं बनता था। कारण यह था कि कुंवर साहव की रहस्य-भरी बातें मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती थीं, और उनकी भावुक, अन्य-मनस्क, जटिल प्रकृति के मर्म में अपनी दृष्टि प्रेरित करने में मैं असमर्थ था। मुझे आश्चर्य होता था कि कुंवर साहब क्यों अपनी अन्तःप्रकृतिका पर्दा मेरे आगे खोलते जाते थे। मुझमें क्या विशेषता उन्होंने पायी थी? शायद इसका कारण यह हो कि मेरी तरह एकान्त मन से अत्यन्त धीरतापूर्वक उनके हृदय की बातें सुनने वाला कोई दूसरा श्रोता उन्हें आज तक नहीं मिला था।

पर अब उनकी बातों से मेरा ध्यान हटने लगा था। मैं तो उनकी दो आश्चर्यमयी नवेली सहचरियों का निस्सङ्कोच, सहज, शान्त भाव देखकर हैरान था। इसके अतिरिक्त यह बात भी मुझे कम आश्चर्य में नहीं डाल

रही थी कि कुंवर साहब स्त्री-सौन्दर्य के सम्बन्ध में इस प्रकार बढ़-बढ़ कर बातें करने पर भी उक्त महिलाओं के प्रति उदासीनता का भाव प्रकट कर रहे थे। कुछ भी हो, मेरी कल्पना एक दूसरे ही लोक में विचरण कर रही रही थी। रूप और यौवन की जो बहार मेरी आँखों के आगे झलक रही थी, उसने मुझे मन्त्र-चकित कर रखा था।

नौकर ने आकर कहा—"चाय तैयार है, हुजूर!"

कुंवर साहब ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—"चलिये ठाकुर साहब, चाय भीतर ही पीयेंगे।"

कुंवर साहब के कमरे में एक और मनोमोहक आश्चर्य मानो मेरी प्रतीक्षा में था। एक मेज को घेर कर चार नवयौवना महिलाएँ कुंवर साहब के इन्तजार में स्थिर, शान्त बैठी थीं। मेज पर 'टी सेट' रखा था, कई प्रकार के केक भी थे। मैं भीत, कम्पित अवस्था में कुंवर साहब के पास एक कुर्सी पर चुपचाप बैठ गया। जो दो महिलाएँ ड्राइंग रूम में आयी थीं, वे भी आकर यथास्थान बैठ गयीं। इस आश्चर्यजनक मण्डली में इन लल-नाओं के साथ हम दो पुरुष थे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति वहाँ पर नहीं था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि ड्राइंग रूम में चाय का बन्दो-बस्त न होकर भीतर क्यों आवश्यक समझा गया। मैंने सोचा कि शायद कुंवर साहब अन्य किसी व्यक्ति की उपस्थिति से अपना विनोद नष्ट करना नहीं चाहते; पर मेरी उपस्थिति से वह स्पष्ट ही किसी विघ्न की आशङ्का करने के बदले विनोद की वृद्धि की आशा कर रहे थे। इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दूं या क्या करूं, कुछ समझ में नहीं आता था। इसके पहले मैं किसी महिला-समाज में न बैठा होऊँ, सो बात नहीं। पर आज जिस निराले और एकान्त वातावरण में इन अद्भुत रूप-सम्पन्ना रमणियों के साथ बैठने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ, उसका अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। एक नहीं, दो नहीं, छ सुन्दरियाँ एक साथ! हम दो पुरुषों के सिवा कोई तीसरा पुरुष साथ में नहीं; तिसपर वे सब हमारे अत्यन्त सन्निकट एक ही मेज के इर्द-गिर्द कुंवर साहब का जी बहलाने के लिए बैठी हुईं!

इस दृश्य की जरा कल्पना कीजिये ! कुंवर साहब की सखियाँ (बिना किसी से पूछे ही मैंने यह अनुमान लगा लिया था कि वे सबकी सब कुंवर साहब की सखियाँ हैं) मेरे मुख का त्रस्त भाव देख कर अच्छा विनोद अनुभव कर रही थीं । मैं वास्तव में बहुत घबराया हुआ था । कुंवर साहब ने मेरा परिचय कराना किसी कारण से आवश्यक नहीं समझा । इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि मेरा परिचय मेरे मुख के भाव से स्पष्ट झलक रहा होगा । वे मुझे देखते ही अवश्य समझ गयी होंगी कि मैं एक साधारण परोपजीवी व्यक्ति हूँ—ऐसे अनेक व्यक्ति राजकुमारों के पीछे लगे रहते हैं ।

एक अलबेली सब के प्यालों में चाय उँड़ेलने लगी । अन्यान्य ललनाएँ कुंवर साहब के साथ कलहास्य तथा लघुविनोदपूर्वक एक पुलकोत्पादक सङ्गीत की सृष्टि कर रही थीं । पर मैं वास्तव में पुलकित न होकर हौलदिल हो रहा था । मुझे डर था कि कहीं चाय का प्याला मेरे हाथ से गिर न पड़े । मैंने मन-ही-मन अपने को अपनी कमजोरी के लिए कोसा और 'आटो-सजेश्चन' की मनोवैज्ञानिक क्रिया द्वारा धीरे-धीरे अपने भीतर आत्म-विश्वास तथा स्थिरता लाने की चेष्टा करने लगा । जब वास्तव में कुछ स्थिर हो गया तो धीरे से कुंवर साहब के कान में बोला—"मुझे आपने अच्छा फँसाया ! मैं तो घबराहट से कांप रहा हूँ ।" कुंवर साहब 'हाः हाः' करके ऐसे जोर से ठहाका मारकार हँस पड़े कि मैं खिसिया गया । सब सुन्दरियाँ उनकी हँसी का कारण न समझने पर भी मन्द-मन्द मुस्कराने लगीं । कुंवर साहब बोले—"आप केवल छ स्त्रियों के बीच बैठने से ही घबरा गये ? हाः हाः हाः ! यह अच्छा विनोद है, हाः हाः हाः ! अपने जीवन में मुझे पहली मर्तबा आप ही एक ऐसे पुरुष मिले हैं जो सुन्दरी-समाज में आनन्द से तरङ्गित होने के बजाय भयभीत हो उठे ! हाः हाः हाः !"

जब चाय पी चुके तो कुंवर साहब ने सुन्दरियों से एक गाना सुनाने की फरमायश की । उनकी आज्ञा पाते ही तत्काल, बिना एक सेकेण्ड की देर के, छहों स्त्रियों ने मिल कर कोरस में एक ऐसा मीठा गीत गाना शुरू कर

दिया कि मेरी तो अक्ल ही चिराग हो गयी। स्विच दबाने से इलेक्ट्रिक बेल उतनी जल्दी नहीं बजती, सुई लगाने से ग्रामोफोन का रेकर्ड ऐसी शीघ्रता से नहीं बजता, जिस नियम से कुंवर साहब का आदेश पाते ही वे स्त्रियाँ उसी दम गाने लगी थीं। कुछ भी हो, यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उनका गाना बहुत मीठा था, जिसने मेरे हृदय में एक प्रकार की अवर्णनीय चञ्चलता तथा उत्सुक-भाव उत्पन्न कर दिया। कुंवर साहब को उनकी विलासिता के लिए धिक्कारना भूलकर मैं एक विचित्र भाव-लोक में विचरण करने लगा। ऐसा मालूम होता था कि मैं बीसवीं शताब्दी के लखनऊ शहर में नहीं, खलीफा हारूं-अल-रशीद के जमाने में बगदाद के किसी रङ्ग-भवन में बैठा हूँ। वास्तव में मेरे लिए वह एक नया अनुभव था।

कोरस समाप्त हो जाने पर कुंवर साहब ने हारमोनियम, वायलिन, तबला आदि वाद्य-यन्त्र मंगवाये। मेज हटा दिया गया और नीचे फर्श पर बिछी हुई कालीन के ऊपर एक बढ़िया मखमली कालीन बिछवा दी गयी और चारों तरफ से मसनद लग गये। सब सुन्दरियाँ गोलाकार में बैठ गयीं और बीच में बाजे रख दिये गये। मैं भी कुंवर साहब की बगल में नीचे बैठ गया। बाजों को देख और सुन्दरियों के सत्सङ्ग में बैठ कर मन में एक प्रकार की उमङ्ग-सी पैदा होने लगी थी। मुझे भी गीत-वाद्य से यथेष्ट प्रेम था और अनेक उस्तादों के सङ्ग में रह कर इस कला का अच्छा अभ्यास मैंने कर लिया था। इसलिए किसी भी 'गुणी'-समाज में इस विषय की चर्चा आत्म-विश्वास-पूर्वक कर सकता था। वाद्यों को देख कर मेरे हाथ खुजलाने लगे। पर मैंने अपने को सँभाला और तमाशा देखता रहा। कुंवर साहब ने वायलिन पकड़ लिया। एक महिला हारमोनियम लेकर बजाने लगी और एक तबला। जब स्वर ठीक मिला लिया गया तो जो युवती पीरोजी रङ्ग की साड़ी पहने थी, वह अनिर्वचनीय स्वर में एक अत्यन्त मनमोहन राग अलापने लगी। मेरा हृदय एक पुलक-व्याकुल वेदना से तरङ्गित होने लगा। उसकी स्वर-लहरी का कम्पन अपूर्व था। मैं सोच रहा था कि यदि यही मधुर राग ऐसे ही दिव्य वातावरण में अनन्तकाल तक

लहराता रहे तो मैं इसी तरह बैठ कर एकान्त मन से उसे सुनूँगा—उक-ताऊँगा नहीं।

स्तब्ध मण्डली को स्वप्न-विभोर करके जब वह गीत समाप्त हुआ तो इसके बाद एक दूसरी महिला के गाने की बारी आयी। इसी प्रकार बारी-बारी से प्रत्येक अलबेली ने मोहन-सङ्गीत सुनाया। इसके बाद कुंवर साहब की बारी आयी। वायलिन बजाने में मैं उनकी निपुणता का परिचय यथेष्ट पा जा चुका था, पर उनका गाना और भी अधिक हृदयहारी था। अन्त में मेरी बारी आयी। इस सङ्गीत-विशारद मण्डली में अपनी तान बघारने का साहस मुझे नहीं होता था। पर कुंवर साहब ने हठ किया। लाचार हो कर मैंने हारमोनियम लिया। अपनी आत्मा की समस्त शक्ति एकत्रित कर के एकान्त मन से एक राग बजाना शुरू कर दिया और कुछ देर बाद एक तान छेड़ दी। अपने अन्तःकरण से मैंने वह तान निकाली थी और इस बात का पूरा खयाल रखा था कि मेरे गीत में कलाबाजी की भी कोई त्रुटि न हो और मर्म की वेदना भी उसमें पूर्ण मात्रा में कम्पित हो उठे। गले से जो आवाज निकली, उससे मैं स्वयं समझ गया कि मैं सफलता के पथ पर हूँ। मेरा गाना यद्यपि उपस्थित ललनाओं की तरह मीठा नहीं था, और कुंवर साहब की तरह उसमें कलाबाजी भी नहीं थी, तथापि उसमें एक ऐसी तीखी वेदना थी जिसका प्रभाव उपस्थित मण्डली पर पड़े बिना न रहा। विशेष कर पीरोजी रेशम की साड़ी वाली युवती अत्यन्त मुग्ध-भाव से मेरा गाना सुन रही थी। जब गाना समाप्त हुआ तो कुंवर साहब ने मेरी पीठ ठोंकी और फिर एक बार गाने को कहा। मैंने कहा—"पहले आप लोग गावें, फिर मैं गाऊँगा।" पीरोजी रेशम की साड़ी वाली युवती को सम्बोधित करते हुए कुंवर साहब बोले—"चन्द्रा, अब फिर तुम्हारी बारी आ गयी।" चन्द्रा एक बार मधुर कटाक्ष से मेरी ओर घूर कर गाने लगी। मैं हारमोनियम बजाने लगा। वह गा चुकी तो कुंवर साहब ने फिर मुझसे गाने को कहा और उसके हाथ में हारमोनियम दिया। इस तरह बहुत देर तक केवल चन्द्रा और मैं बारी-बारी से गाते रहे। कुंवर साहब

को हम दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में बड़ा आनन्द प्राप्त हो रहा था। अनुभवी सज्जनों से यह बात छिपी न होगी कि दो स्त्री-पुरुषों की सङ्गीत प्रतियोगिता से मानसिक भावों का आदान-प्रदान जिस खूबी से होता है, वह अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। चन्द्रा जो गीत गाती, मैं उसी भाव से उसका उत्तर देता, और मैं जो गाना गाता, वह भी तदनुरूप उस भाव को पलटाने की चेष्टा करती।

अन्त को बड़ी देर के बाद गीत-वाद्य बन्द हुआ। कुंवर साहब के कमरे में बिजली के बड़े-बड़े झाड़ जल चुके थे और सारा कमरा प्रोज्वल प्रकाश से जगमगा रहा था। इस प्रकाश में नवेलियों का रूप-यौवन द्विगुण द्युति से चमकने लगा था। मैं मन-ही-मन अनुभव कर रहा था कि इन रूपसी ललनाओं के मुख की दीप्ति निश्चय ही मेरे मुख में भी प्रतिबिम्बित हो रही है।

थोड़ी देर बाद नौकरों ने जाकर मेज सजाया। आठ चमकदार थालों में खाना आया। नाना प्रकार के मांसों की सुगन्धि से सारा कमरा महकने लगा। सब लोग मेज की चारों ओर बैठ गये और गुञ्जित मधुरालाप तथा कलहास्य से सारा वायुमण्डल मुखरित हो उठा। एक बात पर मैंने विशेष रूप से गौर किया। वह यह कि आज के राग-रङ्ग तथा भोज में मदिरा का लेश भी मुझे कहीं न दिखायी दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि कुंवर साहब की प्रकृति का व्यक्ति बिना मदिरा के कैसे जीवित रह सकता है!

खा-पीकर गपशप के बाद रात को प्रायः ग्यारह बजे मैं डेरे को वापस चला गया।

रात को बहुत देर तक मुझे नींद न आयी। मैं यही सोचता रहा कि जो दृश्य मैंने कुंवर साहब के यहाँ देखा, वह स्वप्न था या सत्य? यदि सत्य था तो वह सम्भव कैसे हुआ? कुंवर साहब किस प्रकृति के जीव हैं? क्या वह वास्तव में बुद्धिमान हैं? भावुक हैं या एक साधारण कामुक? यदि कामुक हैं तो उनका कामाचार भी असाधारण तथा रहस्यमय है, सन्देह

नहीं। इसी प्रकार की कल्पनाओं के जटिल जाल में मैं बहुत देर तक जकड़ा रहा।

*　　*　　*　　*

उस दिन से कुंवर साहब के यहाँ मेरा आना-जाना बराबर जारी रहा। वर्षा समाप्त होते ही कुंवर साहब का विचार एक महीने के लिए पहाड़ जाने का हुआ। मुझे मालूम हुआ कि पहाड़ में शरत्काल का सौन्दर्य वह पहले एक बार देख चुके थे, इसलिए फिर एक बार उस आनन्द का उपभोग करना चाहते थे। उन्होंने मुझसे भी चलने का अनुरोध किया। मैं पहाड़ की सर्दी का खयाल करके घबरा रहा था। पर कुंवर साहब ने ऐसा हठ किया कि लाचार होकर मुझे राजी होना पड़ा।

पूरे लाव-लश्कर को साथ लेकर हम लोगों ने अल्मोड़े आकर डेरा जमाया। ब्राइटन कार्नर के पास पहाड़ी के ऊपर दो सुन्दर बंगले किराये पर लिये गये। दोनों बंगले एक-दूसरे के निकट थे। जिस पहाड़ी पर हम लोग रहते थे, वहाँ पर से उत्तर-पश्चिम की ओर हिमालय के शुभ्र शिखरों का दृश्य अत्यन्त सुन्दर तथा स्पष्ट दिखायी देता था। बंगले से कई सौ फिट नीचे पहाड़ की तलहटी पर कोसी नदी सर्पगति से बहती हुई दिखायी देती थी। हम लोग बहुत ऊँचे पर होने से नदी अत्यन्त क्षुद्राकृति मालूम होती थी। ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वी माता के वक्षस्थल पर मुक्ताहार पहनाया गया हो। नदी की दूसरी ओर एक बृहदाकार पहाड़ पर अवस्थित एक पहाड़ी गाँव की अस्पष्ट छाया-रेखा कुहरे की तरह दिखायी देती थी। कुंवर साहब अपने साथ एक दूरबीन लेते आये थे। उससे उक्त गाँव का दृश्य अत्यन्त सन्निकट जान पड़ता था और वहाँ के स्त्री-पुरुषों तथा पशुओं का चलना-फिरना स्पष्ट दिखायी देता था। ऐसा मालूम होता था मानो हम लोगों ने एक अज्ञात जीव-जगत् का आविष्कार कर लिया हो। हमारे साथ की सब महिलाएँ इन सब दृश्यों को देखकर अत्यन्त चकित जान पड़ती थीं। पर कुंवर साहब का उल्लास सब से अधिक था।

मौसम बड़ा सुहावना था। निर्मल शरत् की शान्तच्छटा सर्वत्र व्याप्त

थी। दोपहर के समय झिल्ली-झंकृत एकान्त शान्ति में जब हिमालय की हिम-माया उज्ज्वल सूर्य-प्रकाश में पारद-राशि की तरह चमकती हुई दिखाई देती थी तो समस्त आत्मा में एक निष्कलङ्क, निर्लिप्त भाव सञ्चरित होने लगता था। सन्ध्या को जब शीशे की तरह निर्मल नीलाकाश में स्निग्ध-च्छाया विभासित हो जाती थी और सूर्यास्तच्छटा की पीली और रक्तवर्ण महिमा हिमगिरि की तुषार-मण्डित शिलाओं पर अपना माया जाल फैलाती थी तो एक प्रकार की मीठी उदासी अङ्ग-अङ्ग में समा जाती थी। कुंवर साहब सन्ध्या के इस दृश्य को देख-देखकर नहीं अघाते थे। एक दिन इसी प्रकार सूर्यास्त के समय जब हिमालय का दृश्य यक्षलोक की याद दिलाने लगा तो कुंवर साहब ने मुझसे कहा—"देखिये ठाकुर साहब, हमारे ऋषि-मुनियों ने हिमालय की तुषार-शिलाओं को योग-साधन के उपयुक्त बताया है। पर मुझे यह स्वर्गीय दृश्य देखकर किस बात के लिए प्रेरणा मिलती है, आप बतला सकते हैं? सहस्र-रजनी-चरित की दुनिया मेरी आँखों के आगे भासमान होने लगती है। यह जो सोना, तांबा और चांदी के रङ्गवाले तुषार-पाषाण दिखायी देते हैं, उन्हें देखकर मेरे मन में यह अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है कि उनके किसी ऊँचे शिखर के ऊपर तीन महल बनवाऊँ। उनमें एक महल विशुद्ध सोने का हो, दूसरा खालिस तांबे का और तीसरा चांदी का। तीनों में भोग-विलास का पूरा सामान मौजूद हो, और सुन्दरी रमणियों के सिवा एक भी पुरुष-प्राणी वहाँ पर न हो। साल में चार-चार महीने प्रत्येक महल में रहा जाय। प्रत्येक महल में कम से कम पचास सुन्दरियाँ मेरी सेवा में नियुक्त हों। मैं एक-एक करके सब को प्यार करता जाऊँ और वे परस्पर ईर्ष्या-परायण न होकर बड़े प्रेम से मिल-जुल-कर रहें और जितना प्यार प्रत्येक के भाग में पड़े उसी से अपने को कृतार्थ समझें। उन सब का एक मात्र ध्येय केवल मेरी ही सेवा करने का हो। मेरे इस अद्भुत स्वप्न की बात सुनकर आपको आश्चर्य अवश्य होगा, पर मेरे लिए यह स्वप्न नहीं, एकमात्र सत्य है। इस जन्म में हो या अगले जन्म में, केवल इसी की सफलता की आशा पर मेरी आत्मा टकटकी लगाये बैठी है।"

उनकी सुन्दर, रसीली आँखें भावुकता के मद में विभोर थीं। इस अतृप्तकाम पुरुष की मनोवासना का उग्र रूप देखकर मैं वास्तव में आतंकित हो उठा।

कुछ देर तक चुप रहकर मैंने कहा—"मुझे सचमुच आश्चर्य होता है। इसके सिवा मुझे दुःख कुछ कम नहीं होता जब मैं देखता हूँ कि आपकी धारणा स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी विचित्र है। स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का खयाल रखना तो दूर रहा, आप उन्हें दासियों से भी गयी-गुजरी समझते हैं। यह सरासर अन्याय है!"

कुंवर साहब पहले तो मेरी बात सुनकर कुछ चकराये, फिर उपेक्षा की हँसी हँसकर बोले—"आप एकदम अरसिक मालूम होते हैं। आप मनुष्य के मनोभावों को नीति की कसौटी पर कसना चाहते हैं। पर आपको यह बात मालूम नहीं है कि अपनेपन की नीति ही सब नीतियों से श्रेष्ठ है। मैं हूँ, इसलिए यह सब दृश्य जगत् है, इसलिए सब सुन्दरी नारियाँ संसार में वर्तमान हैं। कृष्ण इस नीति को समझ गये थे, इसीलिए वह भगवान् हो गये; कोई दूसरा कारण उनके भगवान् होने का नहीं था। इसी लिए सोलह हजार गोपियाँ स्वेच्छा से उनकी उपपत्नियाँ बनकर अपने को कृतार्थ समझती थीं। मुझे इस बात पर पूरा विश्वास है कि मेरा अपनापन ही इस संसार में एक मात्र सत्य है, इसलिए मुझे सारे संसार की सुन्दरियों को अपने वश में रखने का पूरा अधिकार है। पर आप अनधिकारी हैं, इसलिए आपको अवश्य नीति के अनुसार चलना चाहिए।"

मैं मूढ़वत्, भयभीत तथा कम्पित होकर उनकी ओर ताकता रहा! सोचने लगा कि इस चरित्रहीन व्यक्ति के पतित विचारों का अन्त कभी सम्भव होगा या नहीं?

उस दिन रात को मैं खा-पीकर अपने बिस्तर पर गरम, मुलायम कम्बल के नीचे लेटा हुआ गैस की रोशनी में एक अंगरेजी अखबार पढ़ रहा था। अचानक भीतर की तरफ का किवाड़ खुला और चन्द्रा खुले हुए बालों को पीठ पीछे लहरा कर अपनी स्वाभाविक व्यङ्ग-भरी मुसकान से मुस्कराती

हुई मेरे पास आकर खड़ी हो गयी और बोली—"मुझे भी आज की खबरें सुनाइये।"

मैं घबराकर सारे शरीर में कम्बल अच्छी तरह लपेटकर उठ बैठा। मैंने पूछा—"इस असमय में आप किस काम से पधारी हैं?"

"यों ही। आपके पास कोई किताब मेरे पढ़ने लायक हो तो दीजिये। नींद नहीं आती।" यह कहकर वह पास वाले कौच पर बैठ गयी, फिर गाल पर हाथ रखकर मेरी ओर मुख करके बेतकल्लुफ लेट गयी। मैंने मन-ही-मन कहा कि किताब मांगने का यह अच्छा तरीका है! प्रकट में बोला—"मेरे पास तो आपके पढ़ने लायक कोई भी किताब नहीं है। आप इस समय मेरे कमरे में आकर मेरे ऊपर जुल्म कर रही हैं। कुंवर साहब देख लें तो क्या कहेंगे!" मेरी बात पर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी; बोली—"कुंवर साहब कुछ नहीं कहेंगे, घबराइये नहीं। वह किसी की स्वाधीनता पर दखल डालना पसन्द नहीं करते!" मुझे आश्चर्य हुआ। उसकी ढिठाई देखकर धीरे-धीरे मेरा साहस भी बढ़ने लगा। रात के समय एकान्त कमरे में एक पूर्णयौवना सुन्दरी निर्द्वन्द्वता से आपके पास आकर नाज से लेट जाय और आपको यह विश्वास हो जाय कि किसी की कुदृष्टि में पड़ने का कोई खतरा नहीं है तो आपका मनोभाव उस समय कैसा होगा, मैं कह नहीं सकता। पर मेरा मन कुछ विचलित-सा होने लगा और इच्छा हुई की चन्द्रा के एकदम निकट बैठकर रङ्ग-रस की दो-एक बातें करूँ। मैं कम्बल ओढ़े हुए अपने पलंग पर से उठकर कौच पर चन्द्रा के पैरों के पास बैठ गया। जब मैंने देखा कि वह किसी प्रकार का विरोध नहीं करती तो मेरा साहस बढ़ गया। मैं चञ्चलता के वश होकर उसके सिर के खुले बालों को सहलाना ही चाहता था कि वह अकस्मात् नागन की तरह फुफकारती हुई उठ बैठी। मैं तो भौंचक्का रह गया, और निदारुण लज्जा तथा भय से व्याकुल हो उठा। आँखों से चिनगारियाँ निकालती हुई वह बोली—"तब क्या आप सिर्फ कुंवर साहब के भय से अब तक शान्त थे? मेमने के वेष में भेड़िये की आत्मा आप अपने भीतर छिपाये बैठे हैं, इसकी मुझे मुतलक़

खबर नहीं थी ! मैं आपको संयमी समझती थी, और आप पर मेरी श्रद्धा थी; इसी लिए मुझे ऐसे समय आपके पास आने का साहस हुआ था। संयमी पुरुषों की वास्तविकता परखने के लिए मैं सदा उत्सुक रहती हूं। आज आपको भी परखने का कौतूहल मुझे हुआ था; इसलिए जब आप कौचपर बैठ गये तो मैं जान-बूझकर चुप थी। पर अब आपकी तह मैं पा चुकी हूँ !"

मुझे जैसे काठ मार गया हो। रगों में मानों खून बहना बन्द हो गया था और ठण्डा पसीना आने लगा था। अपने जीवन में प्रथम और अन्तिम बार मैं इस प्रकार विचलित हुआ था और ऐसा धोखा मुझे मिला था। मैं जानता हूँ कि पाठक मेरी इस कहानी पर विश्वास नहीं करेंगे। आज स्वयं मुझे भी इस पूर्व-स्मृति पर विश्वास नहीं होना चाहता। तथापि मैं सत्य घटना का वर्णन कर रहा हूँ। मैं सोचने लगा कि कुंवर साहब की मण्डली भी क्या उन्हीं की तरह रहस्यमय है ! चन्द्रा ने स्वयं मुझे अप्रत्याशित रूप से ललचाया और स्वयं इस प्रकार मुझे लज्जित किया ! इच्छा होती थी कि वहीं पर उसका गला दबोच डालूं। पर मैंने अपने को संभाला और केवल वाक्य-बाण द्वारा उसका मर्म विद्ध करना चाहा। पूछा—"तब क्या आप ब्रह्मचारिणी का जीवन बिता रही हैं ?" इस प्रश्न से उत्तेजित होकर चन्द्रा ने सगर्व प्रत्येक शब्दपर जोर देते हुए कहा—"जी हाँ, मैं ब्रह्मचारिणी का जीवन बिता रही हूँ !" मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। फिर भी मेरा सन्देह दूर न हुआ। बोला—"तब क्या कुंवर साहब से आपका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है ?" वह तमककर बोली—"खबरदार ! कुंवर साहब का नाम अपने कलङ्कित मुंह से न निकालिये ! आपके समान पतित पुरुष कुंवर साहब को कभी समझ नहीं सकते।" मेरे विस्मय का पारावार न था। कौच से नीचे उतर कर मैंने अपना सिर प्रायः चन्द्रा के पाँवों पर रख दिया और बोला—"मुझसे बड़ी भूल हुई, क्षमा कीजिये ! पर एक प्रार्थना मैं आपसे करता हूँ। कुंवर साहब के जीवन के सम्बन्ध में बहुत दिनों से मेरे मन में कौतूहल बना हुआ है। आपसे ही मुझे

असलियत मालूम हो सकती है। इतनी कृपा अवश्य कीजिये !"

बड़ी मुश्किल से आरजू-मिन्नत के बाद चन्द्रा शान्त हुई। उसने कुंवर साहब के जीवन का जो रहस्योद्घाटन किया वह मेरी कल्पना के अतीत था। उससे मुझे मालूम हुआ कि कुंवर साहब की स्वर्गीया पत्नी अद्भुत रूपवती तथा अत्यन्त गुणवती थीं। कुंवर साहब उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहते थे। कुछ वर्ष हुए, क्षय रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गयी थी। कुंवर साहब ने लाखों प्रयत्न किये, हवाबदली के लिये उन्हें पहाड़ लाये, बड़े-बड़े डाक्टरों का इलाज किया; पर सब निष्फल। उनकी मृत्यु से वह मर्माहत हो गये और कुछ दिनों तक प्रायः पागलों की-सी उनकी दशा रही। बाद में धीरे-धीरे उन्होंने अपने को संभाला और दर्शन तथा काव्य-शास्त्र के अध्ययन में लग गये। तभी से उन्हें स्त्री-सम्बन्धी अद्भुत स्वप्नों की आदत पड़ गयी। पर उनका चरित्र बराबर निष्कलङ्क रहा है। बीच में एक बार फिर उनका मस्तिष्क कुछ विचलित-सा हो उठा था, इसलिए उनके बड़े भाई, राजा—ने डाक्टरों की सलाह लेकर उनके चित्त-विनोदार्थ अपनी कुछ दासियाँ उनके पास भेज दी थीं। पर कभी किसी दासी के साथ उनका अनुचित सम्बन्ध नहीं रहा। सङ्गीत-वाद्य तथा हास्य-विनोद में ही उनके साथ कुंवर साहब का समय बीतता था। चन्द्रा ने कहा—"यह आश्चर्य की ही बात है, सन्देह नहीं; पर यह सच है। हम लोग भी कुंवर साहब के साथ इसी प्रकार का जीवन बिताने में प्रसन्न हैं। क्योंकि उनके समान सहृदय और आनन्दी जीव अभी तक हमें कोई नहीं मिला।"

मैंने कहा—"क्या वास्तव में आप सही बातें कह रही हैं ?"

वह अवज्ञा का भाव जताते हुए बोली—"विश्वास करना चाहें तो कीजिये, नही तो झूठ ही समझ लीजिये। आपने पूछा था, इसी लिए मैंने कहा।"

मैं गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"नहीं चन्द्रादेवी, नाराज न हूजिये ! आपने स्वयं कहा है कि यह बात आश्चर्यजनक है। मैं भी यही सोच रहा हूँ। आपही अपने मन में सोचिये, इतनी स्त्रियों के साथ कुंवर साहब अकेले

रहते हैं, हास्य-विनोद और गाने-बजाने से उन्हें कोई परहेज नहीं है। इतने पर भी कैसे समझ लिया जाय कि उनका चरित्र...वह मनुष्य-प्राणी हैं या मिट्टी के पुतले ? आप और आपकी सहेलियाँ सजीव जीव हैं या कठपुतलियाँ ?"

चन्द्रा ने इस बार अत्यन्त शान्त भाव से मेरी बात का उत्तर दिया। बोली—"देखिये ठाकुर साहब, मुझे तो सब से अधिक आश्चर्य और दुःख इस बात पर होता है कि आप अभी तक कुंवर साहब को समझ न पाये !" कहते-कहते उसकी आँखों में सरस विषाद का एक अत्यन्त करुण आभास झलक उठा। वेदना-व्यकुल स्वर में वह कहने लगी—"आप देखते नहीं कि कुंवर साहब प्रतिपल एक मर्मघाती मानसिक पीड़ा से व्यकुाल रहते हैं ? आप उन्हें हंसते, बोलते, गाते, विवाद करते देखते हैं ओर समझते हैं कि उनके होश-हवास ठिकाने पर हैं और वह भोग-विलास के रस में सराबोर हैं ! पर अगर आप थोड़ी भी समवेदना की दृष्टि से उनकी वास्तविक स्थिति जानने की चेष्टा करते तो आपको मालूम हो जाता कि वह कभी अपने आपे में नही रहते—उनका दिमाग ठिकाने नहीं है; वह जो कुछ बोलते हैं, जो कुछ करते हैं, सब बेहोशी की हालत में। उफ ! आप अभी तक नहीं समझे कि वह पागलपन की हालत में हैं !" अंतिम वाक्य चन्द्रा ने अत्यन्त व्यथित स्वर में कानाफूसी के बतौर कही थी; उसकी आंखें हार्दिक वेदना के कारण अत्यन्त कातर तथा आर्द्र हो आयी थीं।

मैंने भ्रान्त होकर पूछा—"पागलपन की हालत में हैं ? आप कहती क्या हैं ? मैं तो उनके समान स्वस्थ-चित्त किसी को देखता नहीं !"

"इसी लिए तो कहती हूँ कि आपकी आँखों में समवेदना नहीं है। उनकी ऐसी हालत में राग-रङ्ग का खयाल ही किसको आ सकता है ! उनकी सेवा करना ही हम अपना परम कर्तव्य समझती हैं। उन्हें हम हृदय से प्यार करती हैं, पर हमारा यह प्रेम बिलकुल पवित्र है और करुणा से भरा है। अपनी स्वर्गवासिनी स्त्री का शोक भूल कर वह किसी प्रकार फिर से स्वस्थ हो उठें, यही हमारी एकमात्र कामना है। इसमें शक नहीं कि उनका

पागलपन साधारण नहीं है, उसमें एक प्रकार का जादू भी है। पर फिर भी वह है तो पागलपन ही !"

*   *   *   *

उस रात मानव-जीवन के सम्बन्ध में मुझे जो विचित्र अनुभव हुआ, वह मेरे लिए बिलकुल नया था। मैंने सोचा कि अपनी स्त्री को इतना इतना अधिक प्यार करने के कारण ही कुंवर साहब सारे जगत् को स्त्रीमय देख रहे हैं।

दूसरे दिन जब कुंवर साहब से मेरी भेंट हुई तो मैंने कुछ दूसरी ही दृष्टि से उन्हें देखा।

क्रान्तिकारिणी महिला

उस वर्ष कांग्रेस का .अधिवेशन लाहौर में होने वाला था। मैं तीन-चार दिन पहले ही मेरठ से सपत्नीक आकर लाहौर पहुँच गया था और अपने एक मित्र के यहाँ रहने लगा था। पहले मेरा विचार कांग्रेस कैम्प में ही जाकर ठहरने का था, पर जब श्रीमतीजी ने हठ किया कि वह भी साथ चलेंगी तो मैंने अपना विचार बदल दिया। मेरे यह मित्र आर्यसमाजी थे। उनका जन्मस्थान दिल्ली था, पर कुछ वर्षों से वह लाहौर में आकर रहने लगे थे, और वहाँ किसी खास चीज का व्यापार करते थे।

शहर में काफी चहल-पहल मची हुई थी। खासकर कांग्रेस-नगर में बड़ी रौनक थी। नित्य सुबह-शाम हजारों की तायदाद में स्त्री-पुरुष बड़े उत्साह और उमङ्ग से वहाँ आकर एकत्रित होते। भिन्न-भिन्न पण्डालों में भिन्न-भिन्न संस्थाओं के वार्षिक अधिवेशन हो रहे थे। इगजीविशन में भी दर्शकों की खासी भीड़ लगी रहती थी। मेरा सम्बन्ध किसी विशेष राजनीतिक अथवा सामाजिक संस्था से नहीं था। मैं केवल कौतूहल के वश एक दर्शक के बतौर आया हुआ था, इसलिए प्रत्येक बात पर दिलचस्पी ले रहा था।

एक दिन मैं सुशीला (मेरी स्त्री) और अपने सात वर्ष के लड़के व्रजविलास के साथ इगजीविशन की सैर कर रहा था। चलते-चलते हम लोग एक ऐसे 'स्टाल' के पास पहुँचे जहाँ रेशमी वस्त्रों का प्रदर्शन हो रहा था। एक तख्त के ऊपर रेशम के कीड़े शहतूत की पत्तियाँ खा रहे थे, दूसरे तख्त में यह दिखलाया गया था कि कीड़े के कोष से रेशम कैसे बनता है। सुशीला बड़े अचरज से कीड़ों को देख रही थी और मुझसे उनके सम्बन्ध में नाना ऊटपटाँग प्रश्न करती थी। मैं यथाशक्ति उसके प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा कर रहा था। अचानक किसी ने पीछे से मेरी पीठ ठोंकी।

चौंककर मैंने देखा कि एक सुन्दर, स्वस्थ खद्दरधारी नवयुवक मुस्करा रहा है। उसका चेहरा मुझे पूर्व-परिचित-सा जान पड़ा; पर ठीक अन्दाज न लगा सका कि उसे मैंने पहले कब और कहाँ देखा है, केवल भ्रान्त अवस्था में एकटक उसकी ओर ताकता रह गया। उसने फिर एक बार मेरी पीठ ठोंक कर बच्चों की तरह खिलखिला कर कहा—"अभी तक नहीं पहचाना ?" उसके इस खिलखिलाने में एक ऐसी विशेषता थी जिसे देखकर मैं तत्काल उसे पहचान गया। उल्लास और आश्चर्य से बोला—"अरे मुकुन्दराम! तुम यहाँ ? आज-कल कहाँ हो ? क्या करते हो ?"

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तो मुकुन्दराम मेरा सहपाठी था। नवें-दर्जे तक हम दोनों का साथ रहा। इसके बाद वह दिल्ली चला गया था। तब से आज उससे भेंट हुई।

उसने कहा—"मैं कानपुर था। वहाँ के 'यूथ लीग' की तरफ से नौजवान-भारत-सभा के अधिवेशन में शरीक होने आया हूँ। कल मैंने सभा में व्याख्यान दिया था। पण्डाल में बड़ी भीड़ थी। सभी नव-युवकों में नौजवान-भारत-सभा के सम्बन्ध में बड़ा जोश फैला हुआ है।"

"क्या तुम कांग्रेस के डेलीगेट नहीं हो ?"

"हाँ, एक प्रकार से कांग्रेस का भी डेलीगेट हूँ। पर कांग्रेस से हम लोगों का विशेष सम्बन्ध नहीं है। असल बात यह है कि हम लोग कांग्रेस की नीति के बिलकुल विरोधी हैं। कांग्रेस के नेता सब 'कैपिटेलिस्ट' और 'बूर्जवा' हैं। मजूरों और किसानों की दुर्दशा की ओर इन लोगों का बिलकुल ध्यान नहीं है। इसके सिवा एक और बात है। वह यह कि वे लोग सब कायर हैं और सरकार का रुख देख कर अपनी नीति बदलते हैं। महात्मा गांधी के सिद्धान्तों के हम लोग बिलकुल विरोधी हैं।"

मैं उत्सुकता से उसकी बातें सुन रहा था। स्कूल में सब लड़के मुकुन्दराम को भोंदूराम कहा करते थे, और वास्तव में तब वह भोंदू था भी। पर अब! अब तो बात ही दूसरी थी। अब वह एक ऐसे नव-जागरित

दल का नेता था जो अपनी अग्रगामी नीति में कांग्रेस को भी धता बताने चला था !

मैंने कहा—"क्या तुम लोग अपने को कांग्रेस के नेताओं से भी बढ़ कर देशभक्त समझते हो ?"

"क्यों नहीं ? हम लोगों का उद्देश्य उनसे बहुत उदार और उन्नत है। अगर इस समय काँग्रेस के हाथ में देश के शासन की बागडोर आ जाय तो उसके एकतन्त्र शासन से केवल कुछ विशेष श्रेणी के लोगों को ही लाभ होगा। पर हम लोग चाहते हैं कि अत्याचार-पीड़ित साधारण श्रेणी की जनता ही मुख्य में स्वराज्य से लाभवान् हो। कुछ भी हो, यहाँ पर खड़े-खड़े तुम्हें सब बातें समझा नहीं सकूंगा। आज शाम को तुम मुझसे हमारे कैम्प में मिलना या नौजवान-भारत-सभा के पण्डाल में।" इसके बाद उसने मेरी स्त्री की ओर देखकर इशारे से यह पूछना चाहा कि वह कौन है। सुशीला ने लज्जा से मुँह फिरा लिया था। जब मुकुन्द को मालूम हुआ कि वह मेरी स्त्री है और वह बचा भी मेरा है, तो उसने स्नेहपूर्वक मुस्करा कर फिर एक बार मेरी पीठ ठोंकी। मैंने पूछा—"तुम्हारा विवाह हो चुका ?" वह मेरे इस साधारण प्रश्न से चौंक उठा। बोला—"मेरा विवाह ? नहीं ! हम लोग विवाह नहीं करते।" " 'हम लोग' कौन ? यूथ-लीग के मेम्बर ?" "नहीं, हम लोगों का एक विशेष दल है। पर इस समय तुमसे बातें नहीं कर सकता। कहाँ मिलोगे, बोलो ?"

मैंने कहा—"आज तो नहीं मिल सकता। कल बारह बजे पण्डाल में ही मिलूंगा।"

"अच्छी बात है, मैं मञ्च के पास खड़ा रहूँगा।" यह कहकर वह चला गया। उसके जाते ही मैंने देखा कि संन्यासी का वेष पहने हुए एक आदमी (जो बहुत देर से हमारे पास ही खड़ा था और स्टाल के वस्त्रों का निरीक्षण कर रहा था) धीरे-धीरे उसके पीछे हो लिया। मुकुन्दराम ने एक बार पीछे फिर कर उसकी ओर देखा, पर तत्काल उदासीनता का भाव जताकर वह शीघ्रता से आगे बढ़ गया।

मुकुन्दराम की बातों से मैं चकरा गया था। बहुत सोचने पर भी उसकी नीति और उसके सिद्धान्त मेरी समझ में न आये। वह तो अत्यन्त दृढ़ता तथा विश्वासपूर्वक स्पष्ट शब्दों में महात्मा गांधी का भी विरोध करने लगा था! और कांग्रेस की नीति को वह 'कैपिटेलिस्टिक' बतलाता था, और उसके हाथ में शासन की बागडोर चली जाय, यह भी वह नहीं चाहता था। मैंने सोचा—या तो वह देशद्रोही है, या······कुछ ठीक अन्दाज न लगा सका।

दूसरे दिन मैं निश्चित समय पर नौजवान-भारत-सभा के पण्डाल पर पहुँच गया। एक युवती मञ्च पर खड़ी बड़े जोरदार शब्दो में वक्तृता दे रही थी। उसकी दो-चार बातें सुनते ही मैं घबरा उठा। मुकुन्दराम से भी उसके विचार अधिक उग्र तथा सुस्पष्ट थे। वह एक सैनिक की तरह खड़ी थी और उसका प्रत्येक तीक्ष्ण शब्द दर्शकों पर तीर का-सा असर कर रहा था। गौर से देखने पर वह विशेष सुन्दरी नहीं मालूम होती थी, पर उसके जोश से भरे हुए चेहरे का गम्भीर भाव बड़ा आकर्षक था। पर फिर भी मेरा अन्तः-करण कहता था कि उसके इस भाव में कृत्रिमता है।

मञ्च के एक कोने से मुकुन्द ने मेरी ओर इशारा करके मुझे जताया कि उसने मुझे देख लिया है। थोड़ी देर में वह मेरे पास चला आया। मैंने कहा—"तुम्हारा व्याख्यान हो चुका?" "नहीं, मेरी बारी कल है।" "यह कौन महिला है?" "विजया। हमारे दल में इसका बड़ा प्रभुत्व है। देखते हो, कैसा तेज बोल रही है!"

वह गर्व से फूला नहीं समाता था। पर, न मालूम क्यों, मेरे मन में उसकी इस बात पर घृणा पैदा हो रही थी। मैंने कहा—"तुम लोगों को इस बात पर लज्जा नहीं मालूम होती कि एक महिला तुम्हें परिचालित कर रही है?"

"लज्जा? क्यों, इसमें लज्जा की क्या बात है? हम लोग योग्यता की दृष्टि से स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं देखते। इसके अलावा तुम इस महिला को नहीं जानते, श्यामसुन्दर! केवल इसका व्याख्यान सुनकर तुम

इसे पहचान नहीं सकते। मैं इतने दिन इसके साथ रहने पर भी इसे पहचान नहीं पाया।"

मेरी उत्सुकता बढ़ी। मुकुन्दराम की बातों में मुझे एक रहस्य छिपा हुआ मालूम हुआ। मैंने पूछा—"तुम क्या उसके साथ ही रहते हो? मेरा परिचय उससे करा सकते हो?"

"क्यों नहीं! बड़ी खुशी से! मैं आज ही शामको तुम्हें उससे मिला दूंगा।" वह इस सम्बन्ध में बड़ा उत्साहित जान पड़ा।

अचानक हमारे पीछे दो आदमियों के झगड़ने का शब्द सुनायी दिया। पीछे फिरकर क्या देखता हूँ कि कल जिस 'संन्यासी' को मुकुन्दराम के पीछे जाते देखा था, एक लट्ठधारी वालण्टियर के साथ उसका तनाजा हो रहा है। वालण्टियर कह रहा था—"निकलो बदमाश! तुम सी० आइ० डी० के आदमी हो!" पर वह इस बात पर अड़ा था कि वह वास्तव में संन्यासी है, सी० आइ० डी० का आदमी नहीं। बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ गयी कि हाथापाई की नौबत आ गयी। आखिर वालण्टिर ने लात और घूँसे मारकर उसे फाटक के बाहर कर दिया। सभा में हुल्लड़ मच गया। सब उठ खड़े हुए। इस गड़बड़ में मुकुन्दराम न जाने कहाँ गायब हो गया। मैं बहुत देर तक ढूंढ़ता रहा, पर कहीं कुछ पता न चला। अन्त को निराश होकर मैं लौट चला। दूसरे दिन से, न मालूम क्यों, मुझे फिर नौजवान-भारत-सभा में जाने की इच्छा न हुई; मुकुन्दराम के भी दर्शन नहीं हुए।

* * * *

इसके प्रायः चार महीने बाद एक दिन मैं मेरठ में एक पान की दूकान में पान ले रहा था। अकस्मात् मेरी दृष्टि एक सूट-बूटधारी व्यक्ति पर पड़ी। वह छड़ी घुमाता हुआ, अकड़ता हुआ शान से चला जा रहा था। मैं कुछ देर तक उसे देखता ही रह गया। उसके चेहरे में कोई खास बात हो, ऐसा नहीं। फिर भी उसके सम्बन्ध में कुछ कौतूहल-सा उत्पन्न हो रहा था। वह मेरे पास से होकर चला। कुछ देर के लिए मैं भी उसे भूल

गया। अचानक बिजली के प्रकाश की तरह मेरी स्मृति जाग पड़ी। जिस 'संन्यासी' को मैंने लाहौर में देखा था, इस सूट-बूट-धारी सज्जन की मुखाकृति का सादृश्य मुझे उससे मिलता-जुलता हुआ मालूम हुआ। तत्काल मुझे मुकुन्दराम का खयाल हो आया। क्या वह मेरठ तो नहीं आया हुआ है?

दूसरे दिन मैं टाउनहाल की तरफ जा रहा। रास्ते में थकान मालूम हुई। सामने एक छोटा-सा पार्क था। कुछ देर वहाँ बैठकर आराम करने का विचार किया। एक बेञ्च पर एक पुरुष के साथ नीले रङ्ग की साड़ी पहने हुए एक स्त्री बैठी थी। अंधेरा होने लगा था। मैं उन्हीं लोगों के पास एक दूसरे बेञ्च पर बैठ गया। अचानक उस महिला का साथी उठकर मेरे बेञ्च पर आकर बैठ गया और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोला—"श्यामसुन्दर!" मैं चौंका। मेरी दृष्टि क्षीण होने से उस प्रायान्धकार में मैं उसे पहचान न सका था। वह मुकुन्दराम था। मैंने कहा—"मुझे माफ करना, मेरी आँखें कमजोर होने से मैंने नहीं पहचाना था। कब आये हो?" "तीन दिन हुए।" "यह महिला कौन हैं?" "वही विजया। चलो, तुम्हें इन्ट्रोड्यूस करा दूं।" "मुझे! नहीं, नहीं! आज नहीं, किसी दूसरे दिन..." पर वह मेरा हाथ पकड़कर जबर्दस्ती उसके पास ले गया।

मेरे सङ्कोच पर विजया सस्नेह मुस्करा रही थी। मुकन्दराम ने मेरा परिचय कराया। उसने शान्त, स्निग्ध स्वर से पूछा—"आप यहाँ क्या करते हैं?" "वकालत करता हूँ।" मुकुन्दराम ने कहा—"श्यामसुन्दर पेट के लिए वकालत नहीं करता, बल्कि शौक के लिए उसने यह पेशा अख्तियार किया है। वह कैपिटेलिस्ट है, और साथ ही फिलासफर भी।"

"कैपिटेलिस्ट और फिलासफर?" विजया के इस प्रश्न में तीक्ष्ण व्यङ्ग का भाव भरा था। कुछ देर तक चुप रहकर वह फिर बोली—"आप क्या ईश्वर पर विश्वास करते हैं? अपने अन्तःकरण से उत्तर दीजिये!"

अचानक, बिना किसी भूमिका के इस प्रकार का अद्भुत प्रश्न सुनकर मैं घबरा उठा। "अपने अन्तःकरण से उत्तर दीजिये!" यदि न दूं! यह अच्छी जबर्दस्ती है!

मैंने कहा—"ईश्वर पर मेरा विश्वास तो अवश्य है, पर अन्तःकरण की बात मैंने कभी नहीं सोची !"

"हूँ !" उस अंधेरे में भी मैंने स्पष्ट देखा कि वह अनमनी-सी किसी अत्यन्त गम्भीर चिन्ता में मग्न हो गयी थी। उसकी मुसकान पल में न मालूम कहाँ तिरोहित हो गयी थी। उसका चेहरा देखकर मैं भयभीत हो उठा। उसने फिर प्रश्न किया—"अच्छा पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक पर भी आपका विश्वास है ?"

मैंने कहा—"पाप-पुण्य मैं अवश्य मानता हूँ। पर स्वर्ग-नरक के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता।"

"उदाहरण के लिए, आप एक कैपिटेलिस्ट हैं; यह निश्चय है कि प्रत्यक्ष में या परोक्ष में बहुत से गरीबों के रक्त-शोषण से आपके पास इतना धन जमा हो सका है। अगर कोई आदमी आपका सब धन लूटकर गरीबों में बांट दे तो उसके इस कर्म को आप पाप कहेंगे या पुण्य ?"

मैं तो भौंचक्का रह गया। उसकी बात में कहीं कोई द्विविधा, रञ्चमात्र सङ्कोच नहीं था। केवल दो मिनट के परिचय से मेरे मुँह पर ऐसा प्रश्न करने का साहस उसे कैसे हुआ ? मैं ऐसा मालूम करने लगा जैसे मैं किसी महिला से नहीं, बल्कि किसी यक्षिणी से बातें कर रहा होऊं। परिहास का लेश भी उसके मुख के भाव में या कथन में वर्तमान नहीं था। मैंने सुना था कि हमारे महिला-समाज में जब से क्रान्ति की लहर उठी है तब से कुछ स्त्रियां इस हद तक आगे बढ़ गयी हैं कि राजनीतिक डकैतियों में भी सम्मिलित होने लगी हैं। पर अकस्मात् मेरठ के एक पार्क में मुझे इस प्रकार की एक क्रान्तिकारिणी महिला के आमने-सामने बैठना पड़ेगा, इसकी कल्पना मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं की थी। कांपती हुई आवाज में मैंने कहा—"आ—प...आप क्या कहती हैं ! मैं कुछ समझा नहीं।"

"हाः हाः हाः" करके वह रहस्यमयी पुरुषों की तरह ठठाकर हंस पड़ी। मैं सोच रहा था कि किसी तरह यहाँ से अपनी जान बचाकर भाग चलूँ और पुलिस को खबर दूं। पर मुझे पूरा विश्वास था कि उन दोनों में से

एक के पास अवश्य ही पिस्तौल होगी, इसलिए भागने का भी साहस नहीं होता था। किन्तु मेरा भय तत्काल दूर हो गया। विजया ने बड़े स्नेह से मेरी पीठ पर थपकी देते हुए कहा—"आप बड़े सरल हृदय हैं। आप वास्तव में फिलासफर हैं! एक साधारण परिहास से आप घबरा गये!" मेरे सिर पर से मानों भूत उतर गया। बोला—"नहीं, मैं घबराया नहीं, पर हां, आपकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य अवश्य हुआ, और अभी तक है।" "आपके बालबच्चे यहीं हैं?" "जी हां।" "हमारे साथ चलियेगा? घर जाने की जल्दी तो नहीं है?" मैंने कहा—"जी नहीं, कोई जल्दी नहीं है; चलिये।"

हम तीनों उठ खड़े हुए। मुकुन्द कुछ सिटपिटा रहा था, जैसे मुझे किसी सन्देह की दृष्टि से देखता हो। मुझे ऐसा जान पड़ा कि जो बातें अभी हो चुकी हैं (भले ही वे परिहास में हुई हों) उनके बाद वह मुझे अपने डेरे पर ले जाने में झिझक मालूम कर रहा है। हो सकता है, यह केवल मेरा अनुमान हो। पर विजया रास्ते-भर बड़े उल्लास और उमङ्ग के साथ मेरे साथ बातें करती चली गयी। वह स्पष्ट ही मुझे बना रही थी।

तांगे से उतरकर हम लोग एक तंग, अन्धकार गली के भीतर घुसे, उसके बाद बांये को एक उससे भी तंग गली की ओर गये। वहाँ से एक दरवाजे के भीतर घुसे और ऊपर चढ़ गये। जिस कमरे में हम बैठे, वह छोटा था, पर साफ सुथरा। पहले से ही नौकर ने मेज पर टेबल-लैम्प जलाकर रख दिया था। विजया ने एक कुर्सी पर बैठकर मेज पर रखा हुआ एक छोटा-सा पङ्खा पकड़ लिया और अपने मुख पर हवा करने लगी। उसकी साड़ी सिर पर से खिसक गयी थी। मैं एकटक उसके मुख की ओर देखता रहा। पहले ही कह चुका हूँ कि देखने में वह सुन्दर नहीं थी, पर उसमें एक रहस्य-मय आकर्षण पाया जाता था। डेरे पर आते ही वह फिर अन्यमनस्क हो गयी थी। हम तीनों चुप थे। कभी उसके मुख पर एक सेकेण्ड के लिए सुस्पष्ट वेदना की एक गाढ़ छाया अङ्कित हो जाती, पर दूसरे ही क्षण यह भाव कठोर दृढ़ता में बदल जाता।

अचानक वह बोल उठी—"आप टकटकी बाँधे मेरी ओर क्यों देख रहे हैं ? आप क्या यह भी नहीं जानते कि किसी स्त्री को इस प्रकार घूरना शिष्टाचार के विरुद्ध है ?" उसके होठों पर व्यङ्ग की कुटिल हंसी झलक रही थी।

मैंने घबराकर कहा—"नहीं, नहीं, मेरा इरादा वैसा नहीं था......"

"कैसा नहीं था ? आप बड़े भोले हैं !" वह अधिक देर तक हँसी को दबा न सकने के कारण जोर से खिलखिला पड़ी। लज्जा से मेरा मुंह लाल हो आया। पर मैंने तत्काल अपने को संभालकर इस व्यङ्ग का बदला लेने के लिए कहा—"माफ कीजिये बहनजी, पर एक बात मैं आप से कहना चाहता हूँ। वह यह कि आप साधारण स्त्री नहीं है।"

"साधारण स्त्री नहीं हैं !"—इस बार उसने वास्तव में आश्चर्य का भाव प्रकट किया। मैं उठ खड़ा हुआ। बोला—"इस समय देर हो रही है। जाता हूँ। पर आज की रात मुझे सदा याद रहेगी, और आपको भी मैं कभी नहीं भूलूंगा।"

"बैठिये, बैठिये, अभी से जाते कहाँ हैं ?" यह कह कर वह मेरा हाथ पकड़ने लगी। उसकी आँखों में व होठों में अभी तक व्यङ्ग की मुसकान वर्तमान थी। मैंने कहा—"नहीं, अब आज्ञा दीजिये !" अचानक वह उठ खड़ी हुई और मेरे दोनों हाथ अपने हाथों से पकड़कर बोली—"आपने कहा था कि आपके बाल-बच्चे यहीं हैं ?" "जी हाँ।" "मुझे एक बार उन्हें देखने की बड़ी इच्छा है। एक दिन लाइयेगा ?" मैंने आश्चर्य से कहा—"बाल-बच्चों को ? यहाँ ?" "हाँ यहाँ ! आपको आश्चर्य क्यों होता है ? देखिये, मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, अवश्य लाइयेगा !" ऐसी सहृदयता और वेदना से उसने यह बात कही कि मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा। "अच्छा, देखूंगा," कहकर अपना पिण्ड छुड़ाकर मैं भागा।

जब घर को लौटा तो रास्ते में मैंने निश्चय कर लिया कि अब कभी उसके पास नहीं जाऊँगा। पर दूसरे दिन सन्ध्या होते ही मेरा हृदय किसी अज्ञात-आकर्षण से उसके पास जाने के लिए छटपटाने लगा। मैं फिर

उसी अन्धकार गलीवाले मकान में उससे मिला। तब से प्रायः नित्य उसके यहाँ मेरा आना-जाना जारी रहा। उसके बहुत हठ करने पर एक दिन मैं सुशीला को उसके पास ले गया। मेरा सात वर्ष का लड़का व्रजविलास भी हमारे साथ था। मेरी स्त्री को देखते ही विजया उसके गले से लिपट गयी। बहुत देर तक उसने उसे छोड़ा नहीं। उसके बाद व्रजविलास को पकड़कर उसने उसे गोद में बिठा लिया। बहुत देर तक उसके मुख की ओर टकटकी बांधे रही, जैसे इसके पहले कभी उसने कोई बच्चा देखा ही न हो। फिर अकस्मात् बड़े आवेग से उसे छाती से लगाकर उसने उसका मुख चूमना शुरू कर दिया। बार-बार चूमती थी और किसी तरह छोड़ती न थी, मानो उसके सिर पर भूत सवार हो गया हो। उसकी आखें स्नेह के आँसुओं से भीग गयी थीं। सुशीला उसकी वह हालत देखकर घबरा उठी। अन्त को जब विजया कुछ संभली तो उसने सुशीला की ओर देख-कर कहा—"बहन, आप समझती होगी कि किस पागल स्त्री से पाला पड़ा है! पर सच कहती हूँ, ऐसा सुन्दर बच्चा मैंने पहले कभी देखा नही।" यह कह कर फिर उसने एक बार उसका मुह चूमा। व्रजविलास भय से प्रायः रोने लगा था।

उस दिन उसने मेरी स्त्री के साथ बड़े प्रेम से बहुत देर तक बातें कीं। मैं मुकुन्द के साथ दूसरे कमरे में चला गया था। रात को सुशीला ने मुझसे इस बातपर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया कि विजया का अभी तक विवाह नही हुआ है, और दूसरे पुरुष के साथ वह निर्भय, अकेली रहती है। पर कुछ भी हो, यह निश्चय था कि एक ही दिन की मुलाकात से विजया ने उसपर जादू फूक दिया था। तब से वह अक्सर उसके यहाँ ले जाने के लिए जिद करने लगी।

एक दिन सन्ध्या के समय विजया अकेली बैठी थी। मुकुन्द कहीं काम से गया हुआ था। वह बहुत उदास और खिन्न बैठी थी। मैने कहा—"आज आप बहुत चिन्तित जान पड़ती हैं।" मेरी बात का उत्तर न देकर उसने एकाएक प्रश्न किया—"मेरे सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है?"

मैंने कहा—"मैं आपको एक भावुक और उन्नत-चरित्र महिला समझता हूँ।" उसने मेरे अत्यन्त निकट आकर दबी हुई जबान से, किन्तु आवेग-पूर्वक कहा—"पर आप मुझे अभी नहीं समझ पाये! नहीं, आप मुझे नहीं जानते! मैं घोर पापिनी, हत्याकारिणी स्त्री हूँ!" "हत्याकारिणी! यह आप क्या कहती हैं! नहीं, मुझे इस बात पर यकीन नहीं हो सकता। यदि मैं अपनी आँख से भी आपको किसी की हत्या करते देखूं तो भी मुझे कदापि विश्वास नहीं होगा।" उसने उदासीनता की रूखी हँसी हंसकर कहा—"हूँ! आपको विश्वास नहीं होता! अच्छा ही है। पर मैं आपसे पूछती हूँ, क्या आप पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं?"

मैंने कहा—"अवश्य। मनुष्य की जो अतृप्त आकांक्षाएँ इस जन्म में पूरी नहीं होने पातीं, उनका पूर्ण विनाश हो जायगा, यह मैं नहीं मानता। जो मरेगा वह अवश्य ही फिर जन्म लेगा, ऐसी मेरी धारणा है।"

वह अत्यन्त उत्सुक, व्याकुल दृष्टि से मेरी ओर देख रही थी। बोली—"देखिये, मैं नास्तिक हूँ। हमारे दलका कोई भी व्यक्ति भगवान् पर विश्वास नहीं करता। पर इधर कुछ दिनों से, न मालूम क्यों, मैं रह-रह कर भगवान् पर विश्वास करने की इच्छा से व्याकुल हो उठती हूँ। पर बहुत चेष्टा करने पर भी सफल नहीं होती, केवल कभी-कभी मिनट-भर के लिए सारी आत्मा एक अज्ञात रहस्यमय भावनासे गद्‌गद हो उठती है। पर यह विश्वास अपने-आप मेरे मनमें दृढ़ होता चला जाता है कि मैं मरने के बाद फिर जन्म लूंगी, और इस जन्म में जो भयङ्कर भूलें की हैं उन्हें सुधारकर नया जीवन बिताऊँगी। आपकी श्रीमतीजी का जीवन धन्य है!" उसका आवेग ऐसा प्रबल था कि देखकर में स्तम्भित रह गया। कुछ समझा नहीं कि वह क्या सोचकर ऐसा कह रही है। वह कहती चली गयी—"भूल, भूल! मेरा सारा यौवन, सारा जीवन भूल में बीत गया। आपको खबर है, सी० आई० डी० वाले रात-दिन मेरे पीछे लगे हैं, और बहुत शीघ्र मैं गिरफ्तार कर ली जाऊँगी? किस अपराध में? हत्या के! एक वृद्ध महाजन के घर डाका डालकर हम लोगों ने उसे भी मार डाला,

आज पाँच महीने बीत चुके। पर इससे मुझे लाभ क्या हुआ ! अपने स्त्री-हृदय का सारा रस सुखाकर अन्त को अब अपने होश में आयी हूँ। पर अब क्या हो सकता है ! वास्तविक जीवन के आनन्द से अब परिचित हुई हूँ। जब से आपको, आपकी स्त्री को, आपके लड़के को मैंने देखा है, मेरे जीवन की धारा ही बदल गयी है। पर अब क्या उपाय है ! आपका लड़का व्रजविलास कैसा प्यारा है ! एक बार और लाइयेगा ? पर नहीं—अब कभी न लाना ! अब इस मकान में आपका आना ठीक नहीं है। बड़ा खतरा है। जिस जासूस का मुझे डर था, वह मेरठ में भी आ पहुँचा है। पर असल में अब मुझे किसी का डर नहीं है। लेकिन आप...आ-पसे अब कैसे मिलूँगी ! आपकी प्यारी स्त्री, और दुलारा लड़का ! उन्हें कैसे देखूँगी ! उफ !" यह कहकर वह अचानक मेरे पैरों पर लोट पड़ी और दोनों हाथों से उसने जोर से मेरे पाँव जकड़ लिये। मैंने घबराकर कहा—"यह क्या करती हो, विजया ! उठो ! उठो !" वह सिसकियाँ भर रही थी। पर शायद मेरे मुंह से अपना नाम सुनकर उठ गयी। एकदम उसकी अश्रु-सिक्त आँखों की मार्मिक दृष्टि में हँसी झलक उठी। बोली—"आप समझते होंगे कि मैं गिरफ्तारी के भय से रो रही हूँ। भूलकर भी ऐसा न समझें। उस बुड्ढे मक्खीचूस महाजन......कुछ भी हो, यह जन्म मेरा केवल भ्रम और संशय में बीता है। इस जीवन में मैं मानवी नहीं राक्षसी सिद्ध होकर रह गयी ! पर...बस, अब मैं प्रसन्न हूँ। केवल एक बार अपना हाथ मेरे सिर पर रख कर आशीर्वाद दीजिये कि अगले जन्म में मेरा नारी-जीवन सार्थक हो।" मैंने अत्यन्त व्यथित हृदय से उसके सिर पर हाथ रखा। इसके बाद वह फिर अचानक चौंक उठी। मुझे दरवाजे की ओर ढकेलते हुए बोली—"जाइये ! जाइये ! जल्दी ! इस मकान में अब एक मिनट आपका रहना ठीक नहीं है। बड़ा खतरा है। जाइये जल्दी !" मैं घबराता हुआ बाहर चला आया।

उस दिन से मैं उसके पास नहीं गया—कह नहीं सकता कि भय से,

अथवा दुःख से। कुछ भी हो, प्रायः एक हफ्ते बाद एक दिन समाचार-पत्र में बड़े-बड़े अक्षरों में यह खबर छपी हुई पढ़ी कि विजया को और उसके दल के दो और व्यक्तियों को पुलिस ने दिल्ली में डकैती तथा हत्या के अपराध में गिरफ्तार किया था, पर विजया ने तत्काल अपने पास से विष निकालकर खा लिया, और घण्टे भर बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

अनाश्रित

जब द्वारका बाबू दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद शाम को दफ्तर से मकान पर पहुँचे तब उनका लड़का दीनदयाल अपनी छोटी बहन दामिनी के बालों की लट पकड़ कर उसे घूँसों से मार रहा था। असहाय लड़की रो रही थी। उसका आर्त्त स्वैर बड़ी तीव्रता के साथ उनके कानों में गूँजने लगता। थके-माँदे घर आये हुए थे। अपने उद्धत, अशिक्षित लड़के का ऐसा नीच व्यवहार उनसे सहा नहीं गया। उन्होंने उसे पकड़ कर इस कदर पीटना आरम्भ किया कि दामिनी भी अपना रोना भूल कर विह्वल, व्याकुल, होकर ताकती रह गयी। "सूवर, हरामजादा, पाजी छोकरा, परले सिरे का गँवार," इत्यादि विभूषणों से भूषित करके अन्त को फिर उसके मुँह पर और दो तमाचे जड़के द्वारिका बाबू शान्त हुए। दीनदयाल रोता, चिल्लाता हुआ, "खूब मजे से मारूँगा, मुझे किसी का डर नहीं है," कहता हुआ तेजी से बाहर को भाग निकला। द्वारिका बाबू दुस्सह व्यथा से व्यथित होकर बिस्तर पर जाकर लेट गये। अपरिसीम वेदना की गाढ़-अङ्कित रेखा उनके चेहरे में साफ झलक रही थी। दामिनी उनके मुँह की ओर नहीं ताक सकी। भीतर उसकी बड़ी जीजी मङ्गला चाय बना रही थी, उसी के पास जाकर बैठ गई।

द्वारिका बाबू बिस्तर पर लेटकर नाना प्रकार की चिन्ताएँ करने लगे। यदि उनकी स्त्री आज जीवित होती तो गृहस्थ के अनेक झंझटों से वह बचे रहते। इटावे के एक सरकारी दफ़र में वह काम करते थे। मासिक पचास रुपये पर किसी तरह गुजारा कर रहे थे। उनके एक लड़का और पाँच लड़कियाँ थीं। बड़ी लड़की मङ्गला बीस वर्ष की उम्र में विधवा होकर चार साल से उन्हीं के पास रहती थी। कान्ति मङ्गला से दो साल छोटी थी। उसके पति कानपुर से किसी मिल में नौकर थे और सत्तर रुपये के करीब तनखाह पाते.

थे। दीनदयाल की उम्र सोलह-सत्रह साल की हो हो चुकी थी, पर वह अभी तक अच्छी तरह से नागरी के अक्षर भी नहीं पढ़ सकता था। बिलकुल उच्छृङ्खल हो गया था। द्वारिका बाबू के कुछ भी कहने पर उन्हें भी उलटी-सीधी पचास बातें सुना देता था। अड़ोस-पड़ोस के सभी भले आदमी उससे डरते थे। एक साल पहले जब उसकी मा न्यूमोनिया से मरी थी तब वह बहुत रोया था और कुछ दिन तक बहुत शान्त-शिष्ट होकर रहा था। पर फिर वही पुरानी उग्र मूर्त्ति लेकर धूर्त्तता में जुट गया। दामिनी आठ साल की हो गयी थी। वह बड़ी चतुर थी और देखने में भी बड़ी सुन्दर थी। दामिनी से छोटी वृन्दा और राधा नाम की दो और लड़कियाँ थीं। एक की उम्र छः साल की और दूसरी की चार साल की थी। दोनों इस वक्त बाहर सड़क पर खेल रही थीं। थोड़ी देर के बाद वे दोनों भीतर पहुँचीं और द्वारिका बाबू के गले से चिमटकर बड़े आह्लाद से उछल-कूद मचाने लगीं। बड़ी लड़की वृन्दा ने पूछा—"बाबूजी, आज हमारे लिए बाजार से खाने को कुछ नही लाये ?" द्वारिका बाबू कभी मूँगफली, कभी कुछ मिठाई ले आते थे और लड़कियों को अपने हाथ से खिलाते थे। आज कुछ नहीं लाये थे। उन्होंने कहा, "आज रात को जब घूमकर लौटेंगे तब ले आवेंगे।" वृन्दा रोने की आवाज बनाकर कहने लगी—"रात को क्या करूँगी, इस वक्त भूख से मरी जाती हूँ। दिन भर कुछ नहीं खाया है। जीजी दिन को हमारे लिए रोटी भी नहीं बना देती।" इतनी सी लड़की की सयानी बातें सुनकर और उसके दुःख की वास्तविकता का अनुभव करके द्वारिका बाबू के मन में अपनी जटिल स्थिति की यथार्थता विकट रूप धारण करने लगी। एक लम्बी साँस लेकर वह चुप हो रहे।

दो लड़कियों के विवाह में उनकी पैतृक सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी थी। स्त्री की बीमारी का कर्ज अभी ताजा पड़ा हुआ था। डाक्टर तथा हकीमों के इलाज के सम्बन्ध में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। पर "यमराजसहोदरों" से कोई सहायता नहीं मिली। तीन लड़कियाँ अभी द्वारिका बाबू के कथनानुसार उनसे अपने पूर्वजन्म का ऋण वसूल करने

के लिए उनकी वज्र की छाती पर हत्या देकर बैठी थी। लड़का यदि शिष्ट-शान्त और शिक्षित होता तो उसके बल पर कमर बाँध कर वह किसी न किसी तरह दिन गुजारते। पर वह ऐसा नालायक निकला कि उसकी वजह से बाहर लोगों को मुँह दिखाने में लज्जा मालूम होती थी। आज किसी की गिरह काट लाया तो कल किसी का कैशबक्स तोड़ लाया। कब "कृष्ण-भवन" की यात्रा को चल पड़े इसी दहशत से उनका दिन भर काम में मन नहीं लगता था और रात को नींद हराम हो गयी थी। द्वारिका बाबू इन्हीं बातों की चिन्ता में मग्न थे कि मङ्गला चाय ले आयी। चाय में दूध और चीनी की काफी किफायत थी और उसके साथ खाने को कुछ नहीं था। पर इसी फीके गरम पानी से उन्हें बड़ा आराम मिला। मङ्गला वृन्दा और राधा को भीतर चाय पिलाने के लिए ले गयी।

द्वारिका बाबू की स्त्री की मृत्यु के बाद उनके घर का सब काम मङ्गला ही करती थी। पर वह बहुत भोली थी, सांसारिक व्यवहार में निपुण न थी। इस कारण उनकी वर्तमान स्थिति में उससे कुछ भी सान्त्वना उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती थी। बल्कि उसे देखकर उनकी चिन्ता अधिक बढ़ती थी, यद्यपि उसके बिना वह भोजन भी नहीं पा सकते थे।

चाय पीकर द्वारिका बाबू बाहर हवाखोरी के लिए निकल पड़े। पर चित्त में बड़ी बेचैनी थी। सबसे बड़ा काँटा उनके हृदय में लड़के की नादानी के कारण चुभा हुआ था। उन्हें फिर फिर उसी का खयाल हो आता था। वह सोच रहे थे कि इतनी उम्र उसकी हो चुकी है, पर अभी तक वैसा ही हाल है। पढ़ना-लिखना जाय चूल्हे में, अगर शान्त होकर घर पर बैठा रहता तो भी उसके लिए आध सेर अन्न का बरबाद होना उन्हें न अखरता। पर उसका रंग ढंग ही दूसरा था। सोचते सोचते उत्कट प्रति-हिंसा के भाव से उनका खून खौलने लगा। लड़के ने उन्हें इतना तबाह कर दिया था कि वह आन्तरिक मन से उसकी मृत्यु की आकांक्षा करने लगे। चटपट किसी सख्त बीमारी से लड़के के प्राणपखेरू उड़ जाते तो वह देवता का परम आशीर्वाद समझते। लेकिन ऐसा वज्रप्राण लेकर यह धूर्त्त

लड़का उत्पन्न हुआ था कि मरने का नहीं। वह मन मे उसकी मृत्यु का दृश्य अङ्कित करने लगे। वह खाट पर पड़ा पड़ा कराह रहा है। अपने आपे मे नही है। डाक्टर अन्तिम मत देकर बिदा हो गया है। कानपुर से कान्ति आयी हुई है और अपने स्नेह-सुकोमल मातृ-हृदय मे दुस्सह व्यथा की वेदना अनुभव करके अपनी छाती को चीर कर फाड़ देना चाह रही है। मङ्गला भी अपना अनुत्तेजित पर स्नेहमण्डित स्वभाव लेकर बिलख बिलख कर रो रही है। उनकी छोटी लड़कियाँ किसी अपरिचित आशङ्का से चकित होकर यह सब दृश्य देख रही हैं। ऐसी स्थिति मे उनके अपने हृदय का भाव कैसा रहेगा? वह क्या तब प्रसन्न मन से इस मुमूर्षु लड़के की मृत्यु की बाट जोहेगे? इस अनाथ, मातृहीन लड़के की अन्तिम गति के चित्र की इस प्रकार कल्पना करते करते आरम्भ से ही उनकी आँखे उनके अनजान मे सजल हो आयी थी। इस बात का खयाल उन्हे तब हुआ जब पूरा दृश्य भली भाँति अपनी विभीषिका लेकर उनकी आँखों के सामने झलकने पर उनके आँसू प्रबल वेग से उमड़ चले और उनके झुर्रियाँ पड़े हुए गालों को भिगो कर शीतल करने लगे।

अत्यन्त व्याकुल होकर अन्यमनस्क भाव से टहलते-टहलते वह शहर से बाहर एक जङ्गल मे जा खड़े हुए। एक पेड़ के नीचे बैठकर अपने को निपट असहाय तथा निरुपाय समझकर हृदय की समस्त भक्ति तथा श्रद्धा एकत्र करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे। अपनी इस अनन्यगति मे वह अपनी शीघ्र मृत्यु के अतिरिक्त अन्य किसी भी श्रेष्ठ वरदान की आकाङ्क्षा नही कर सकते थे। पर असहाय बाल-बच्चो के दारुण विलाप से मृत्युशय्या पर भी मोह का भाव जागरित होने के कारण मरने के बाद भी उन्हे सद्-गति मिलनी कठिन होगी! सोचते सोचते द्वारिका बाबू अत्यन्त अवसन्न तथा क्लान्त होकर निरुपायावस्था में पेड़ के तले पाँव पसार कर लेट गये। अपने जीने-मरने के सम्बन्ध मे कुछ भी विवेचना न कर सकने के कारण, इस विपुल विश्व में अपनी गतिहीनता का विचार करके, चरम भ्रान्ति से विमूढ होकर उस स्तब्ध जङ्गल की अपरिसीम नीरवता में अपने दुर्दमनीय मन

की गति को एकाकार करने की चेष्टा करने लगे। बहुत देर तक विचार-शून्य होकर जड़भाव से वहीं पर लेटे रहे। अँधेरा होने लग गया था। पर पाँव किसी तरह ऊपर को उठना नहीं चाहते थे। अनन्त काल तक यदि उसी तरह से जड़ तथा विभ्रान्त होकर 'लेटे रहने का उपाय होता तो द्वारिका बाबू लेटे ही रहते। पर यह वायुतुल्य बन्धनहीन मन ऐसा निर्लज्ज है कि किसी भी स्थिति और काल का विचार नहीं करता। अन्त को उन्हें उठना ही पड़ा। घर की तरफ पैर पड़ते ही फिर दीनदयाल की प्रचण्ड मूर्त्ति आँखो के सामने आकर नाचने लगी। उसका उद्धत तथा मुँहफट स्वभाव, शराबी की तरह चढ़ी हुई लाल-लाल आँखें, प्रेत का-सा लम्बा और दुबला-पतला शरीर, चमगादड़ के से तीखे और आदमी के चमड़े से चिमट जाने वाले पञ्जे, इत्यादि सभी विशेषताएँ उनके मन में दर्पण की तरह स्पष्ट प्रतिभात हो रही थीं। वह व्याकुल भाव से मन-ही-मन भगवान् को पुकार कर कहने लगे—"जिस उत्कट पाप के दण्ड-स्वरूप इस लड़के को तुमने मेरे पास भेजा है उसका प्रायश्चित क्या अभी पूरा नहीं हुआ है? मैं आन्तरिक मन से उसके लिए अब क्षमा चाहता हूँ, देवता! अब यह विकट ज्वाला किसी तरह नहीं सही जाती। तुम्हारा रुद्र रूप ही मेरी नजर में आ रहा है। करुणा का एक छींटा डालने की कृपा तो करो!"

जब वह मकान पर पहुँचे तब वृन्दा और राधा सो गयी थीं। मङ्गला रोटी बना रही थी और दामिनी बैठी रोटी खा रही थी। दीनदयाल अभी नहीं आया था। वह ग्यारह बारह बजे से पहले किसी भी रात को नहीं आता था। उसके आने तक मङ्गला को नित्य बैठे रहना पड़ता था। सन्ध्या-पूजा से निबट कर, द्वारिका बाबू खाना खाने बैठे। दो एक फुलके खाकर हाथ मुँह धोया और बिस्तरे पर जाकर लेट गये। वृन्दा और राधा भी उन्हीं के साथ सोया करती थीं। वे पहले से ही उनकी चारपाई पर जा कर सोयी हुई थीं। कहीं उनकी नींद न टूट पड़े, इस खयाल से द्वारिका बाबू चुपके से दुबककर एक ओर लेटकर नाना दुश्चिन्ताओं में निमग्न हो रहे। वह सोचने लगे कि इस वक्त तो रहने के लिए मुट्ठी भर अन्न भी प्राप्त

है, पर बापदादों का बनाया हुआ यह मकान बन्धक में पड़ा है। अगर साहूकार लोग कल ही बिगड़ खड़े हुए और सारा मकान कुर्क हो गया तो कहीं पाँव रखने को तिल भर ठौर भी नहीं मिलेगा। अपना ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो दया करके बाल-बच्चों को अपने पास रख ले। बल्कि सभी बन्धु-बान्धव उत्सुक होकर इसी बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब इस मकान से वे लोग निकाले जायँ और कब तमाशा देखने में आवे। ऐसी स्थिति में निस्सहाय पुत्र-कन्या को लेकर वह किस जङ्गल में जायँगे? किराये पर यदि कोई दूसरा मकान लिया जाय तो वे लोग खावेंगे क्या? पचास रुपये पर कैसे इतने जनों के पेट का गुजारा होगा, कैसे रहने का! इस विपुल विश्व में तिनके के बराबर भूमि भी उनकी अपनी कहने को नहीं रहेगी। करुणा तथा क्षमा की मूर्त्ति माता वसुमती इतने पापियों को अपने क्रोड़ में धारण किये हुए हैं, इतने निष्ठुर पिशाचों के जूतों की ठोकरों से उनका वक्षःस्थल क्षत-विक्षत होता जाता है, पर उनका और उनके बाल-बच्चों का लघुभार वे किसी तरह भी नहीं सहना चाहतीं। एक अनन्त-व्यापी अभिमान के भाव से उनका हृदय भर आया और आँसू उमड़ने को ही थे कि उन्होंने अपने को रोका। वह सोचने लगे कि यह अभिमान किसके प्रति है? जो देवता लाखों गृहहीन, अन्न-हीन अनाथों की प्रतिदिन की आह से नहीं पिघलता, जिसको अकपट मन से स्मरण करते करते लाखों आदमी प्रतिदिन हाय अन्न! हाय अन्न! कहकर तड़पते हुए प्राण त्याग रहे हैं, उस निखिल-संहारक रुद्र के प्रति अभिमान प्रकट करने से क्या लाभ?

कुछ देर तक स्तब्ध रहकर उन्होंने करवट बदली और एक लम्बी साँस लेकर, निरुद्विग्न तथा निश्चिन्त होकर वह सोयी हुई मातृहीन लड़कियों के ऊपर धीरे से हाथ फेरने लगे। एक लड़की के विवाह से उनकी हालत इस कदर गिर गयी थी, अभी तीन लड़कियाँ और पड़ी हुई थीं। उनका सिर झनझनाने लगा और मस्तिष्क की एक खास नस बड़ी तीव्रता से दुखने लगी। उन्होंने समझ लिया कि इन कड़वी बातों में अधिक मग्न रहने से मस्तिष्क की कोई शिरा छिन्न भी हो सकती है और उनके पागल होने में

भी सन्देह नहीं है। उन्हें याद आया कि उन्हीं के दफ्तर का एक बाबू कुछ दिनों से पागल होकर सारे शहर में ऊधम मचा रहा है। वह जहाँ जाता है वहाँ सड़क से ईंट-पत्थर, कूड़ा-करकट उठाकर दूर फेंकता जाता है और भङ्गियों की तरह झाड़ू देने में उसे मजा आता है। वह जबान से ऐसी ऐसी गन्दी बातें निकालता है कि भले आदमियो को कान में उँगली देनी पड़ती है। अगर, ईश्वर न करे, उनका भी यही हाल हो गया, और ऐसा होना असम्भव नहीं हैं, तो क्या होगा? इस बात की कल्पनामात्र से उनके सारे शरीर में रोमाञ्च हो आया और हृदय बेतरह धड़कने लगा। फिर दीर्घश्वास लेकर उन्होंने करवट बदली और प्रबल वेग से सब चिन्ताओं को हटाकर सोने की चेष्टा करने लगे। उनकी आँखें झपने लगीं। कुछ देर तक शायद उन्हें नींद भी आयी होगी। अचानक एक आवाज से वह जाग पड़े। मालूम हुआ कि दीनदयाल आ गया है और किसी बात के लिए मङ्गला से झगड़ रहा है। घर के सब लोग उसके इस स्वभाव से अभ्यस्त हो गये थे, इसलिए मङ्गला नित्य उसकी झिड़कियाँ सुनने के लिए पहले से तैयार रहती थी।

द्वारिका बाबू सोचने लगे कि दैव-विडम्बना से उन्होंने अत्यंत हर्ष से पुलकित होकर, अनेक आशाएँ करके, इस निष्ठुर पिशाच लड़के का नाम दीनदयाल रखा था। तब वह क्या जानते थे कि उसका यह हाल होगा। दीनदयाल और मङ्गला के सो जाने के बाद भी बहुत देर तक उन्हें नींद नहीं आयी। अन्त में जब आँख लगी तब नाना प्रकार के अस्पष्ट तथा भयावह स्वप्न उनके विकारग्रस्त मस्तिष्क में धूपछाँह का खेल खेलने लगे। धीरे धीरे एक स्पष्ट पर विभीषिका-पूर्ण दृश्य उनकी सुप्त आंखों के सामने उग्र रूप लेकर नाचने लगा। वह देखने लगे कि दीनदयाल लात और घूँसों से मङ्गला को मारता जाता है और मङ्गला जमीन में अध-मरी होकर कराह रही है। वह ज्योंही लड़के का हाथ पकड़ने जाते हैं त्योंही वह उन पर भी लातों की बौछार करने लगता है। उसके पाँव की कठिन ठोकरों को सहन करने की शक्ति उनमें न होने के कारण वह तीव्र आर्त्तनाद

करने लगते हैं। स्वप्नावस्था में भी वह इतने जोर से कराहने लगे कि जाग्रत जगत् के लोगों के कानों में भी उनकी आवाज पहुँची। मङ्गला अपने सोने के कमरे से उठकर दौड़ी आयी और "बाबूजी" कहकर पुकारने लगी। चार पाँच बार पुकारने पर द्वारिका बाबू सचेत हुए। मंगला ने त्रस्त होकर पूछा, "बाबूजी, क्या हुआ?" अत्यन्त लज्जित होकर उन्होंने कहा—"कुछ नहीं, एक सपना देखा था।" पर स्वप्न की भयङ्करता से अब तक उनका दिल दहल रहा था। मंगला अत्यन्त चिन्तित तथा भीत होकर वापस चली गयी।

* * * *

दूसरे दिन बुखार की हरारत लेकर द्वारिका बाबू दफ़्तर गये। दफ्तर में पिछले दिनों का भी बहुत काम पड़ा था। आज भी फाइल पर फाइल आने लगी। ऊपर से रोज रोज तकाजे आते थे कि फाइलों का काम खतम करके जल्दी वापस करो। ऐसी हालत में कैसे काम हो सकेगा, यह बात उनकी समझ में नहीं आयी। काम की भीड़ देखकर घबराहट के कारण उन्हें कलम हाथ में थामने की हिम्मत नहीं हुई। स्तब्ध-भाव से वह जड़ होकर निश्चल बैठे रहे। कई क्लार्क उनसे कई बातें पूछने के लिए आते थे, वह अन्यमनस्क होकर सिर्फ हाँ या नहीं कह कर उनके प्रश्नों का उत्तर दे देते थे। तमाम दिन बीत गया पर उन्होंने कलम हाथ में नहीं ली। नाना दुश्चिन्ताओं के कारण बुखार भी बढ़ता जाता था। जब सब लोगों के चलने का वक्त हुआ तब वह भी उठकर चल दिये! घर पहुँचते ही चुप-चाप अपनी चारपाई पर जाकर पाँव पसार कर लेट गये। छोटी लड़कियाँ उनके पास प्रतिदिन की तरह आयीं, पर उनके मौन-भाव तथा वेदनाक्लिष्ट मुख की जड़ता देखकर बाहर खेल-कूद के लिए चली गयीं। मङ्गला ने एक गिलास में चाय लाकर दिया। वह उसे लेटे लेटे पी गये।

रात को उन्होंने कुछ नहीं खाया। बुखार ने उग्ररूप धारण कर लिया था। रात भर वेदना से छटपटाते रहे। दूसरे दिन भी बुखार नहीं उतरा और तीसरे दिन भी यही हाल रहा। इसी तरह हफ्ता गुजर गया। हालत

दिन दिन खराब होती जाती थी। मंगला बहुत घबरायी। घर में सभी चीजें समाप्त हो चुकी थीं। उसके पास पैसे भी नहीं थे और बाजार से खरीद लानेवाला कोई आदमी भी नहीं था। चौका-बर्तन वह खुद अपने हाथ से करती थी। एक नौकर के पीछे दस बारह रुपये लग जाते हैं, इस खयाल से द्वारिका बाबू ने कोई नौकर नहीं रखा था। एक महरी दो रुपये मासिक पर नियुक्त थी, पर इधर कुछ समय से मंगला ने उसे आने से मना कर दिया था। उसे चिन्ता हुई कि बाल-बच्चों को क्या खिलाया जाय। बाबूजी के बुखार के सम्बन्ध में उसे चिन्ता नहीं थी, जितनी छोटी छोटी, ज्ञानहीन लड़कियों के भूखे रहने की। मंगला हद से ज्यादा भोली थी। उसे इस बात का तनिक भी सोच नहीं हुआ कि यदि बाबूजी की ही जान बचनी मुश्किल हो गयी तो फिर कैसे दिन बीतेंगे। अचानक उसे कान्ति की याद आयी। उसने सोचा कि अगर वह किसी तरह यहाँ आ सके तो बाबूजी की भी टहल कर सकेगी और अबोध बालिकाओं के खाने-पीने का भी कुछ उपाय कर लेगी। उसके पास एक पोस्टकार्ड पहले से पड़ा हुआ था। उसमें उसने टूटे फूटे अक्षरों में द्वारिका बाबू की तबीअत का हाल लिखकर और अपनी स्थिति भी यथाशक्ति समझाकर उसे कुछ दिनों के लिये इटावा चले आने के लिये लिखा।

कान्ति परम बुद्धिमती, भावुक तथा अतिशय चिन्ताशीला थी। मैके से कब क्या कुसमाचार आ पड़े, इस बात की चिन्ता से वह प्रतिपल पीड़ित रहती थी। वर्त्तमान तथा वास्तविक दुःख को वह किसी न किसी तरह सह लेती थी, पर अज्ञात आशङ्का उसके कोमल, स्नेहपूर्ण हृदय को प्रतिक्षण शोषित करने में लगी रहती थी। इस कारण जब द्वारिका बाबू की तबीअत की खबर उसके पास पहुँची तब उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे इस समाचार के लिए वह पहले से ही तैयार थी। पर पहले से तैयार होने पर भी यह समाचार इतना भयावह था कि पत्र पढ़ते पढ़ते उसके हाथ-पैर काँपने लगे। वह बैठी न रह सकी और बेबस होकर लेट गयी। स्थिति इतनी जटिल थी कि उसकी वास्तविकता की कल्पना भी वह भय के कारण नहीं

कर सकती थी। उसके पति दफ़्तर से अभी नहीं आये थे। उनका जैसा स्वभाव था उससे कान्ति को यह आशा नहीं थी कि वह स्थिति को समझकर जल्दी उसके जाने का बन्दोबस्त कर देंगे। अगर उन्होंने जाने भी दिया तो वह वहाँ पहुँच कर कैसे भाई-बहनों को दिलासा देगी, कैसे बाबूजी की टहल करेगी, जब कि वह स्वयं इतनी घबराई हुई है! और, ईश्वर न करे, जब बाबूजी को सचमुच कुछ हो गया? तब वह भयानक दृश्य कैसे इन आँखों से देख सकेगी? कान्ति अधिक सोच न सकी। अपनी स्वर्गीया स्नेहशीला माता को स्मरण करके सिसक सिसक कर रोने लगी। इतने में उसका चार साल का लड़का बेनी बाहर के कमरे में खेल करके वहाँ आ पहुँचा और उसकी छाती से लिपट गया। अम्मीं के अचानक रोने का कारण वह कुछ भी अनुमान न कर सका। एक दिन किसी कारण से उसके बाबूजी ने अम्मीं को खूब मारा था और अम्मीं खूब रोयी थी। यह घटना उसे अभी तक याद थी। पर आज बाबूजी भी घर नहीं थे। उसने डाकवाले को भीतर आते देखा था। हो न हो, वह लाल पगड़ीवाला ही अम्मीं के रोने का कारण है, यह सोच कर वह मन ही मन उसे कोसने लगा। कुछ देर तक वह चुप रहा, फिर उसने पूछा—"अम्मीं, रोती क्यों हो?" कान्ति आँसू पोंछ रही थी। वह कहने लगा—"बतलाओ न, किसने मारा है?" कान्ति चुप हो रही, पर वह हाथ से धक्के देकर वही प्रश्न करता जाता था। कान्ति ने भी उसे एक हलका धक्का देकर झिड़क कर कहा—"चुप रह पाजी, मुझे इस वक्त दिक मत कर।" वह चिल्ला चिल्ला कर रोने लगा। कान्ति सोचने लगी कि इस हठी और झगड़ालू लड़के को लेकर वहाँ जाने से इसी के मारे नाकोंदम रहेगा। वृन्दा और राधा के साथ वह झगड़ता रहेगा और इन्ही लोगों के झगड़े से छुटकारा मिलना मुश्किल होगा। इन लोगों की बला से, कोई मरे चाहे कोई जीए।

* * * *

कान्ति के पति श्यामशङ्कर बाबू के मामा का लड़का भैरवनाथ उन्ही के साथ रह कर स्कूल में पढ़ता था। उसके पिता गाँव से उसके खाने-पीने,

कपड़े-लत्ते, फीस-किताब का सब खर्च माहवार श्यामशङ्कर बाबू के पास भेज दिया करते थे। लड़का बड़ा होशियार तथा फुर्तीला था। श्यामशङ्कर बाबू को किसी तरह से राजी करके कान्ति भैरवनाथ को साथ लेकर दूसरे ही दिन चल पड़ी। बेनी भी उसके साथ था। इटावा स्टेशन पर उतर कर, इक्के के धक्के खाकर जब वह गन्तव्य स्थान पर पहुँची तब वृन्दा और राधा ने "छोटी जीजी आ गयी है, छोटी जीजी आ गयी है" कहके उत्फुल्ल होकर ताली पीटकर उसका स्वागत किया। इन अबोध बालिकाओं की अज्ञानता देखकर उससे नहीं रहा गया। उसकी आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। भीतर जाकर वह मङ्गला से मिली। दोनो बहनें मिल कर खूब रोयीं। वहाँ से उठकर वह बाबूजी के पास आयी। द्वारिका बाबू अर्द्धचैतन्यवस्था में पीड़ा से छटपटा कर कराह रहे थे। कान्ति ने विकल होकर पुकारा—"बाबूजी!" पर द्वारिका बाबू ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने फिर पुकारा—"बाबूजी!" उसका गला रुँध जाता था। मङ्गला ने भी कहा—"बाबूजी, कान्ति आयी है।" कान्ति का नाम सुन कर द्वारिका बाबू के कान खुले। उन्होने दोनो की ओर ताक कर क्षीणस्वर में कहा—"कान्ति, कुशल तो है बेटी?" कान्ति क्या जवाब देती, विह्वल होकर ताकती रही। बाबूजी की हालत इतनी गिर गयी है, यह बात न तो भोली मङ्गला के पत्र से और न उसकी बातों से ही उसे मालूम हुई थी। अभी तक कोई डाक्टर भी नहीं आया था। और आता भी कैसे। न तो कोई आदमी ही घर पर ऐसा था जो बुला लाता और न उसकी फीस के लिए किसी के पास पैसे ही थे। कान्ति स्थिति को समझ कर अपने निज के सञ्चित किये हुए रुपयों में से बहुत कुछ अपने साथ लेती आयी थी। उसने उसी दम भैरवनाथ को डाक्टर बुलाने के लिए भेजा। द्वारिका बाबू का चेहरा बुखार से तमतमाया हुआ था और आँखें चढ़ी हुई थीं। कान्ति ने उनका हाथ ज्योहीं अपने हाथ से पकड़ा तो उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे वह जल रहा है।

थोड़ी देर के बाद भैरवनाथ अकेला वापस आया। उसने कहा कि डाक्टर साहब शाम को छः बजे से पहले नहीं आ सकते। बड़े इन्तजार के बाद

डाक्टर साहब ने दर्शन दिये। नब्ज देखकर, रबर की नली से छाती टेस्ट करके, सब हाल पूछने के बाद डाक्टर साहब ने कहा कि हालत बड़ी खराब है, पर अभी निराश होने का कारण नहीं है। एक नुसखा लिखकर फीस जेब में डाल कर डाक्टर साहब यह कहकर बिदा हुए कि इस दवा से फायदा न हो तो फिर बुलाना। भैरवनाथ फार्मेसी से दवा खरीद लाया। बड़ी मुश्किल से राजी करके द्वारिका बाबू को दवा पिलायी गयी।

रात को कान्ति द्वारिका बाबू के कमरे के बगलवाले कमरे में लेटी रही, पर बिलकुल आँख नहीं लगी! बरसात के दिन थे। बाहर अविराम गति से झमाझम पानी बरस रहा था। भीतर द्वारिका बाबू बीच बीच में विकार-ग्रस्त होकर नाना प्रकार के प्रलाप-वचन बकते जाते थे। हौलदिली के कारण कान्ति की छाती जोरों से धड़क रही थी। रात भर के जागरण के बाद सुबह को उठ कर जब वह द्वारिका बाबू के कमरे में गयी तब उन्हें नींद आ रही थी। कान्ति ने एक लम्बी साँस ली और किसी अज्ञात देवता के प्रति मन-ही-मन हाथ जोड़कर बाहर चली आयी। वृष्टि उसी अखण्ड गति से अब तक अपना क्रम बनाये हुए थी।

दिन भर कान्ति बाबूजी के पास बैठी रही। आज उनकी तबीअत उसे कुछ अंश में अच्छी मालूम हुई, यद्यपि कोई निश्चित प्रमाण उसे नहीं मिला था। सन्ध्या को वह खिड़की से बाहर को झाँककर वर्षा की अन्ध-लीला देखने लगी। वह सोच रही थी कि संसार में प्रतिपल सुख और दुःख के चक्र के नीचे असहाय मनुष्य पिसता जाता है, पर अविरल धारापात से झमाझम बरसनेवाली यह अन्ध वर्षा इस बात को अत्यन्त उदासीन भाव से ग्रहण करके नाचती चली जाती है। उसके जीवन की सभी स्मृतियाँ उसके हृदय में एक एक करके घनीभूत होने लगीं। वह कितने ही दिन वर्षाकाल के ऐसे ही दुर्दिन की कालिमा से लिप्त सन्ध्या के अन्धकार में अपने अन्तस्तल के भीतर अपने भावी जीवन के किसी अज्ञात शरत्काल के उज्ज्वल प्रभात की आशा के लिए उन्मुख रहती थी। कितने ही दिन किसी-एक सेठ साहब के बाग में जाकर बेला और चमेली के गीले फूलों को चुन

चुन कर किसी अपरिचित देवता के लिए माला गूँथने में प्रवृत्त रहती थी। उन दिनों उसके हृदय में कैसी कैसी आशाएँ, कैसे कैसे स्वप्न अपना रङ्ग जमाते थे! अन्त को उसका विवाह हुआ एक रूखे, झक्की, क्रोधी तथा अधेड़ पति के साथ। उसे नवल वय के सभी स्वप्नों तथा उमङ्गों को तिलाञ्जलि देकर गम्भीर भाव से गृहस्थी का कारबार निभाना पड़ा। पति-देव की उसने भरसक सेवा की, पर उन्हें कभी सन्तुष्ट न कर सकी। अपने दुःखों को किसी तरह सहन करके दिन बिता रही थी कि मा चल बसी। भाई का हाल अजीब था। बाबूजी अन्य दुःखों के फन्दे में थे ही, तिस पर ऋणजाल में भी दृढ़बद्ध हो गये थे। एक बहन विधवा थी और तीन बहनें अनब्याही पड़ी थीं। इन सब दुःखों को अपर्याप्त समझकर विधाता ने अब यह चूड़ान्त दुःख देकर दिल दहलाने की ठानी है। इन्हीं बातों की चिन्ता में वह मग्न थी कि बेनी रोता-चिल्लाता हुआ उसके पास आया और कहने लगा—"वृन्दा ने मुझे मारा है।" बड़ी मुश्किल से उसे शान्त करके वह द्वारिका बाबू के कमरे में चली गयी।

* * * *

रात में द्वारिका बाबू फिर विकारग्रस्त होकर अण्ड-बण्ड बकने लगे। रात भर यही हाल रहा। कान्ति बीच बीच में उनके पास जाती थी, फिर भीत होकर चली आती थी। बाबूजी का प्रलाप सुनकर प्रबल आशङ्का के कारण उसकी जबान भी जड़ हो रही थी। सुबह के वक्त द्वारका बाबू शान्त मालूम दिये। भीतर जाकर कान्ति ने देखा तो उनका सारा शरीर बरफ बना हुआ था। वह चीख मार कर बाहर गयी और भैरवनाथ को जगाकर डाक्टर बुलाने के लिए भेजा। थोड़ी देर में डाक्टर को लेकर भैरवनाथ वापस आया। कान्ति कलेजा थामे बैठी थी। डाक्टर ने आकर कई इंजेक्शन दिये और गरम पानी के बोतलों से उनका शरीर सेका। बहुत देर के बाद धीरे धीरे बदन में गरमी फिरती हुई मालूम देने लगी। जब गरमी पूरी तरह से बदन में आ गयी तो द्वारिका बाबू फिर बेहोशी से छुटपाने

लगे और काठ की तरह शुष्क कंठ से न मालूम क्या बकने लगे। डाक्टर के चले जाने के दो घंटे बाद तक यही हाल रहा। अचानक फिर सारा शरीर अत्यन्त शीघ्रता के साथ ठण्डा होता चला गया। इस बार जब भैरवनाथ डाक्टर को बुला लाया तब उनका तुषारशीतल शरीर जड़ बना हुआ था। सिर्फ छाती में धुकधुकी वर्तमान थी। डाक्टर साहब के इंजेक्शनों से रही-सही कसर भी पूरी हो गयी। मङ्गला जोर से रोने-चिल्लाने लगी। उसे देखकर दामिनी भी रोने लगी। कान्ति भय-चकित होकर, "बाबूजी! बाबूजी!" पुकार कर विमूढ़-भाव मे उनकी ओर ताकती रह गयी। उसकी विह्वल आँखों से आँसू निकलते निकलते रुक गये। अन्त तक उसके अन्तस्तल में आशा की एक क्षीण रेखा वर्तमान थी कि बाबूजी अच्छे हो ही जायँगे। अन्त तक उनकी मृत्यु की भयावह कल्पना को वह मन से हटाकर दूर करती जाती थी। स्तम्भित होकर वह नीचे फर्श पर बैठ गयी और उसने घुटनों के नीचे अपना मुँह छिपा लिया। उसे किसी प्रकार भी रुलाई नहीं आ रही थी। वह सोचने लगी कि इन अनाथ अनाश्रित बाल-बच्चों की क्या गति होगी! घर में मुट्ठी भर अन्न भी शेष नहीं था जिससे उन लोगों का घड़ी भर का भी गुजारा होता। अपने निष्ठुर तथा अर्थ-लोलुप पति के स्वभाव से वह भली भाँति परिचित थी। वह जानती थी कि इस निरुपायावस्था में भी वह इन लोगों को घड़ी भर के लिए भी अपने पास रखना पसन्द नहीं करेंगे। इस विकट समस्या का क्या समाधान हो सकता है, इस बात पर वह जितना ही विचार करती थी उतना ही उसका चित्त उद्भ्रान्त होता जाता था। कल से दीनदयाल भी लापता था। कहीं कोतवाली में न रखा गया हो, यह आशङ्का उसके कलेजे में अपना काम अलग कर रही थी। सोचते सोचते जब वह क्लान्त हो गयी तब उसने सोचना भी छोड़ दिया। कुछ काल के लिए उसका चित्त ऐसा जड़, निरुद्वेग तथा निर्विकार हो गया कि उसके पास ही बैठी हुई मङ्गला तथा दामिनी के रोने की आवाज भी उसके कानों में नहीं गयी। वज्राहत सी होकर पाषाणमूर्ति की तरह वह स्तब्ध बैठी रही।

बाहर वर्षा तीन दिन के निरन्तर प्रवाह से भी न उकता कर अविरल गति से धरातल को अपने खरतर बाणों से विद्ध कर रही थी।

वृन्दा ने आकर मूर्छितप्राय कान्ति को हाथ से ढकेल कर उससे यह शिकायत की कि बेनी ने उसका खिलौना तोड़ डाला है।

मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ

पहला परिच्छेद

शैशवावस्था से ही मैं माता और पिता के स्नेह से वंचित था। अपने पिता का तो मुझे बिलकुल ही खयाल नहीं, पर माता के संबंध में इतना ही याद आता है कि मेरे तीसरे या चौथे साल किसी स्त्री से मेरा बहुत अधिक हेल-मेल था, और उसी के साथ मैं अधिकतर रहता था। संभवतः वही मेरी माता थीं। इस अवस्था के बाद मैंने कभी उस स्त्री को देखा या नहीं, इसका मुझे खयाल नहीं। मेरे चाचा रानीखेत में वकील थे; उन्हीं के साथ मैं रहता था। मेरे लिये दयालु चाचा ने कितने धन और कितनी शक्ति का अपव्यय किया था, यह बात बतलाकर मैं पाठकों का चित्त दुःखित नहीं करना चाहता। पर इतनी बात अवश्य बतला देना चाहता हूँ कि मुझे देखकर चाचा कभी प्रसन्न नहीं हुए, और नित्य मुझे कोसते और पीटा करते थे। वह कहते थे—"अगर मेरे लड़के ऐसे होते, तो मारे जूतियों के उनकी खोपड़ी दुरुस्त कर घर से निकाल बाहर कर देता। पर गोपाल एक तो पराया लड़का है, और उस पर इसके मा-बाप नहीं हैं, इसलिये मैं चुप रहता हूँ।" मैं मन ही-मन उनकी इस असीम कृपा के लिये उनको कितना धन्यवाद देता होऊँगा, इस संबंध में विद्वज्जनों से कुछ कहना ही व्यर्थ है।

जब मैं अज्ञान-वश कभी चाची से किसी बात के लिये जिद कर बैठता था, तब वह कहती थीं—"जिस छोकरे के मा-बाप नहीं हैं वह इतनी जिद किसलिये करता है? जो कुछ उसे दिया जाता है, उसे रजामंदी के साथ क्यों नहीं खा लेता?" पर मैं समझता था कि जब चाचा-चाची मौजूद हैं, तब मा-बाप का होना या न होना बराबर है। चाचा के दो लड़के थे। वे मुझ से बहुत बड़े थे। मुझे देखकर वे भी इतनी घृणा प्रकाशित करते थे कि मैं सहम जाता था।

इस प्रकार चाचा के कुटुंब के कठोर शासन में किसी तरह मैंने आठवें

दर्जे तक पढ़ाई खतम की। रानीखेत के स्कूल में तब इस दर्जे से आगे पढ़ने का प्रबंध नहीं था। इसलिये लाचार होकर, लोक-लज्जा या वास्तविक दया के कारण अनेक कष्ट सहकर, चाचा ने मुझे अल्मोड़े भेज दिया। अल्मोड़े आने पर एक लड़के के साथ मेरी घनिष्ठता हो गयी। इसी संबंध में आज आप लोगों से कुछ कहूँगा।

लड़के का नाम बलवंतसिंह था। वह मुझसे एक या डेढ़ साल बड़ा था। मैंने जब पहलेपहल उसे देखा, तो उसका गोरा, उजला तथा प्रसन्नता-पूर्ण मुख, धनुष के समान तनी हुई काली-काली भौंहें, बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें तथा बलिष्ठ और दृढ़ गठन देखकर मैं उसकी ओर ताकता रह गया। मुझे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वह इस युग के योग्य नहीं। कुरुक्षेत्र के विकराल युद्ध में सप्त महारथियों द्वारा सुरक्षित चक्रव्यूह के भीतर घुसकर अत्यंत धीरता तथा साहस से लड़नेवाले, तरुण तथा सुकुमार अवस्थावाले अभिमन्यु के पौरुष तथा कोमलता-मिश्रित अनिर्वचनीय भाव की छाया मैंने उसके चेहरे में पायी। अल्मोड़े आकर नवीं कक्षा में मैं भर्ती हुआ। बलवंत तब इंट्रेंस में पढ़ता था। एक साल तक उसके साथ मेरा बोलना नहीं हो सका। उस साल वह फेल हो गया, और मैं पास होकर उसी के दर्जे में आया। उसकी बगल में मैंने 'सीट' पकड़ ली। धीरे-धीरे दोनों में खूब घनिष्ठता हो गयी।

बलवंतसिंह बोर्डिंग-हाउस में रहता था। उस दिन हम लोगों का 'गेम डे' था। एक बजे के करीब हम लोगों को क्रिकेट-खेलने के लिये छुट्टी मिल गयी। क्रिकेट का 'फील्ड' बोर्डिंग-हाउस के पास ही, उसके नीचे, था। मैं क्रिकेट बहुत कम खेलता था, और 'गेम' के दिन सीधा घर को वापस चला आता था। पर उस दिन बलवंत मुझे जबर्दस्ती पकड़ ले गया। बोर्डिंग में पहुँचने पर और लड़के खेल की तैयारी करने लगे। बलवंत मुझे अपने कमरे में ले गया। कमरा बहुत साफ-सुथरा और बहुत अच्छी तरह से सजाया गया था। उसने 'स्टोव' जलाया और चाय की केतली चढ़ा दी। मैंने कहा—"इस वक्त चाय की क्या जरूरत है? मैं कभी चाय नहीं पीता।

शाम को तुम अपने लिये बना लेना।" उसने अत्यंत मधुरता से मुस्करा कर कहा—"अरे भाई, रहने भी दो! आज कैसे नहीं पियोगे, देख लूंगा।" उसके कंठ की दृढ़ता देखकर मैं घबरा गया। मैं चाय को जहर समझा करता था। पर आज इस भयंकर व्यक्ति के पाले पड़कर जहर पीना ही होगा, यह समझकर मैं आतंक से काँप उठा। उसके हठ का प्रतिरोध करना निष्फल है, यह मैं अच्छी तरह जानता था।

जब पानी खौल चुका, तो उसने केतली उतारकर नीचे रख दी और चाय बनाने लगा। मैं सन्न होकर बैठा था। शरत् का मध्याह्न अपनी निस्तब्धता से हृदय में एक अपूर्व करुणा का संचार कर रहा था। मैं सोचने लगा कि इस शौकीन लड़के में कौन-सा ऐसा गुण है, जो मुझे अपनी ओर बेबस खींचे लिए जाता है? इसमें संदेह नहीं कि मैं निर्धन हूँ, और वह धनी का लड़का है। पर उसके धन की चाह तो मैंने कभी नहीं की!

एक टीन के डिब्बे से हंटली और पामर्स के बिस्कुट निकालकर वह मुझे देने लगा। अबकी मैं कुरसी से उछलकर उठ खड़ा हुआ। बड़े गुस्से में आकर मैंने कहा—"तुम्हारी यह जबर्दस्ती ठीक नहीं। तुम तो भ्रष्ट हो ही गये हो; पर दूसरे आदमी का धर्म बिगाड़ने का तुम्हें क्या अधिकार है? विलायती बिस्कुट मैं कभी नहीं खा सकता। तुम ठाकुर हो, तुम्हारी बात निभ सकती है; पर मैं तो ब्राह्मण का लड़का हूँ!" वह जोर से खिलखिला कर हँस पड़ा। मैं भौंचक्का-सा खड़ा रहा। इतनी गंभीर बात को भी वह मजाक में उड़ाना चाहता था!

उसने कहा—"यह सब ढोंग रहने भी दोगे या नहीं। जैसे तुम्हीं को शेषनाग की तरह पृथ्वी का भार उठाना है! बोर्डिंग के सभी लड़के मेरे बिस्कुटों को उड़ाकर चट कर जाते हैं, सुपरिंटेंडेंट साहब की घुड़कियाँ भी नहीं सुनते। वे भी तो ब्राह्मणों के ही लड़के हैं। एक तुम्हीं अनोखे ब्राह्मण कहाँ से आये!"

असहाय होकर उस दिन मुझे चाय भी पीनी पड़ी और बिस्कुट भी

खाने पड़े। चार बजे तक क्रिकेट खेलकर दोनों जने घूमने निकल पड़े। पहाड़ की शरत्कालीन संध्या मधुर हास से पृथ्वी को चूम रही थी। चलते-चलते उसने मुझसे कहा—"भाई गोपाल, आज बहुत दिनों से अम्मा की चिट्ठी नहीं आयी है, मैं बड़ी चिंता में हूँ।" मैंने आश्चर्य से पूछा—"क्यों, तुम्हारे बाबूजी चिट्ठी क्यों नहीं भेजते? अम्मा की चिट्ठी का इन्तजार क्यों कर रहे हो?" मालूम हुआ, उसके पिताजी की मृत्यु बहुत पहले हो चुकी है—जमींदारी का सारा इंतजाम उसकी मा ही करती हैं। उसकी बातों से यह भी मालूम हुआ कि उसकी मा इस काम में बड़ी दक्ष हैं। मा का जिक्र छिड़ने पर वह अत्यंत श्रद्धा तथा स्नेह के साथ उनके गुणों का बखान करने लगा। अपनी अम्मा की बातों में वह इतना मग्न हो गया कि थोड़ी देर तक अपनी सुधबुध सब भूल गया।

चलते-चलते हम दोनों बहुत दूर निकल गये। रास्ते भर बलवंत अपने घर की ही बातें करता गया। पास ही एक टीला था। वहाँ पर हम दोनों जाकर बैठ गये। मैं थक गया था। बलवंत ने फिर वही बातें छेड़ दी। मुझे उसकी बातों में बड़ा रस मिल रहा था। उसकी बातों से मालूम हुआ कि जिस गाँव में वह रहता था, वह पहाड़ पर बसा हुआ है। गाँव के किनारे रोड़ों के ऊपर से बहनेवाली एक प्रसन्न-सलिला नदी बहती है। नदी के किनारे के सुंदर खेतों का वह अद्‌भुत् वर्णन करने लगा। उसने कहा—"आजकल धान के खेत हरे-भरे लहलहा रहे होंगे। कुछ ही दिनों में धान पक जायँगे और सोना बिखर जायगा। गाँव के लोग नदी के निखरे हुए पानी में मछलियाँ मार रहे होंगे। केले पक गये होंगे। ईख के खेतों में बड़े-बड़े पौंडे लगे होंगे। मेरी छोटी बहन कौशल्या गन्ने बहुत पसंद करती है। नींबू भी अब तैयार हो जायँगे।" थोड़ी देर तक ठहरकर वह कहने लगा—"गोपाल, तुम नहीं समझ सकते, आजकल गाँव में शाम के वक्त सुनहरी, पीली धूप में नदी के किनारे टहलने में कितना मजा आता है।" घर की सुख-स्मृति के कारण एक अनिर्वचनीय आनंद से उसका चेहरा तमतमा आया और आँखें चमकने लगीं।

मैं आज तक उसे अपने सहपाठी के बतौर ही देखता आया था। आज मुझे अनुभव हुआ कि वह केवल एक छात्र ही नहीं, किसी मा का लाल भी है, किसी बहन का भाई भी है। स्कूल की नीरस पढ़ाई का बन्धन उसके लिए कितना कठोर था, इस बात का खयाल मुझे आज हुआ। स्कूल से बिलकुल ही संबंध न रखनेवाली अकलुष आनंद की कोई दुनिया भी है, यह बात मुझे आज मालूम हुई। बहुत देर तक हम लोग वहाँ बैठे रहे। अँधेरा होने पर मैं उसे बोर्डिंग तक पहुँचाकर बिदा हुआ।

दूसरा परिच्छेद

दीवाली निकट थी। एक दिन शाम को बलवंत से मिलने के लिए बोर्डिंग में गया, तो वह कुछ लड़कों के साथ जुआ खेलने में व्यस्त था। कौड़ियाँ चल रही थीं। मुझे देखकर वह कहने लगा—"आओ गोपाल, बैठो, तुम भी दावँ लगाओगे?" मुझे उस पर ऐसा गुस्सा आया कि जी चाहता था, उठाकर कौड़ियाँ बाहर फेंक दूँ। स्कूल में क्या वह लड़कों को ऐसी ही बुरी लतों में फँसाने के लिए आया है? मैंने सुना था कि उसके आने के पहले कभी बोर्डिंगवाले जुआ नहीं खेलते थे। मैं गुस्से में भरा हुआ चुपचाप एक कोने में बैठ गया। वह ताड़ गया। मीठी-मीठी बातों से मुझे इस तरह से मनाने की चेष्टा करने लगा, जैसे मैं एक साल का बच्चा होऊँ। उसके फुसलाने का ढंग ऐसा अद्भुत था कि कैसा ही उदास आदमी क्यों न हो, वह भी बिना मुस्कराए नहीं रह सकता था। पर मैंने आज बलपूर्वक अपने को रोका, और उसकी ओर ताका तक नहीं। यदि सच पूछा जाय, तो मुझे आज उसका फुसलाना तथा औरतों की तरह पुचकारना भी बहुत बुरा मालूम दे रहा था। मैं सोचने लगा कि वह मुझे इतना अयाना समझता है और खुद इतना सयाना होने का ढोंग रचता है! जैसे मैं नादान बच्चा होने के कारण जुए का 'मर्म' नहीं समझ पाया हूँ! वह जो कुछ भी बुराई करे, उसे क्यों इतना महत्त्व देता है! संसार के लिए

जुआ खराब है; पर वह कहा करता था कि उसमें जो मजा है, उसमें जो गंभीर रस है, उसे 'पेटी मॉरेलिस्ट' क्या समझ पावेंगे !

खेलते-खेलते वह वह मेरे सामने ही साठ-सत्तर रुपये जीत गया। मुझसे हँसकर कहने लगा—"लो यार, जीत के रुपये हैं, किसी के घर के तो हैं नहीं, तुम भी इनसे खेल लो।" धीरे-धीरे वह मुझे ऐसे फंदे में लाया कि मेरा जी भी तलमलाने लगा। मैं नहीं रह सका, और खेलने बैठ गया। चालीस रुपये हारने तक मुझे चैन नहीं मिला। जब अंतिम दाँव भी मैं हार गया, तो वह ठट्ठा मारकर हँसा और मेरी पीठ ठोंककर कहने लगा—"क्यों, कैसा मजा आया ?"

मुझे बहुत दुःख हो रहा था और ग्लानि के कारण मैं गड़ा जाता जाता था। कहाँ तो मैं जुए के प्रति असह्य घृणा प्रकट कर रहा था और कहाँ चालीस रुपये हार गया ! इस असंयम के कारण बलवंत मन में मुझे कितना ढोंगी समझेगा, यह सोचकर मैं मार्मिक वेदना का अनुभव कर रहा था। स्वयं अपने ऊपर मुझे घृणा हो गयी थी। मैं उठकर वहाँ से चल दिया। रात हो चली थी। कृष्णपक्ष की रात थी। सड़क की अगल-बगल में देवदारु तथा चीड़ के, भूतों के समान भयंकर, लबे-लंबे वृक्षों से होकर हवा बीच-बीच में सनसना उठती थी, इससे अंधकार की विभीषिका और भी भयानक हो उठती थी। भय, शोक तथा ग्लानि से पीड़ित होकर, नाना अस्पष्ट भावनाओं में निमग्न रहकर, मैं मकान पहुँचा। अस्पताल की बगल में ही एक किराये के मकान में मैं रहता था। एक विधवा स्त्री भी अकेली उस मकान में रहती थी। उसकी उम्र तीस साल के लगभग होगी। 'विधवा' शब्द की भनक कानों मे पड़ते ही किस हिन्दू का हृदय न पिघलेगा ! मेरे हृदय में भी इस स्त्री के प्रति आरंभ से ही समवेदना का भाव उमड़ पड़ा था। पर मैंने कभी उससे यह पूछना आवश्यक नहीं समझा कि उसके कोई बंधु-बांधव वर्तमान हैं या नहीं, वह किस जाति की है, कहाँ उसका मैका है और कहाँ सुसराल। वह एक हिंदू-विधवा है, यह जानना ही मेरे लिये पर्याप्त था। वह भी मुझे माता-पिता से हीन तथा उनके स्नेह

से वंचित जानकर मेरे प्रति यथेष्ट सहृदयता का भाव प्रदर्शित करती थी। शुरू में मैंने दो-चार दिन रोटियाँ अपने हाथ से बनायी थीं, पर मेरे कष्ट के निवारणार्थ उसने यह भार अपने ऊपर ले लिया। तब से वह रोज सुबह-शाम मेरे लिये खाना बना देती थी। मैं उसे 'जीजी' कहकर पुकारता था।

आज मेरे आने में देर हो गयी थी। वह रोटियाँ पकाकर शायद बहुत देर से मेरी राह देख रही थी। मैं जब कमान पर पहुँचा, तो वह चारपाई पर लेटी हुई थी। मुझे देखकर उठ बैठी और पूछने लगी—"आज इतनी देर कैसी?" मैंने कहा—"जीजी, योंही जरा लड़कों के साथ गपशप में लग गया था। तुम्हें बहुत कष्ट हुआ, माफ करना।" मिट्टी के एक दीये में सरसों के तेल से जलाई गयी एक बत्ती कमरे में टिमटिमा रही थी। उस मद प्रकाश में उस विधवा स्त्री ने इस तरह मेरे मुँह की ओर ताका, जैसे वह मेरे मन के भीतर से कोई अत्यन्त गुप्त बात निकाल कर मालूम करना चाहती हो। उसने कुछ मुस्कराकर कहा—"सच कहो, कहाँ से आये हो?" मेरा कलेजा धड़कने लगा। इस भय से नहीं कि वह मेरी असली बात ताड़ गयी है; क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि मेरे जुआ खेलने के संबंध में उसे कभी संदेह नहीं हो सकता। पर उसके पूछने के ढंग से कुछ ऐसा आभास मिला कि उसे मेरे संबंध में किसी घोरतर आचरण का संदह है। इस अव्यक्त कल्पना से मेरा सर्वांग काँप उठा, और मेरे हृदय में आतंक छा गया। पर मैंने अपने को यथासाध्य स्थिर करके कहा—"सच ही तो कहता हूँ जीजी, बोर्डिंग-हाउस से आया हूँ।" पर वह पहले की तरह सांकेतिक रूप से मुस्कराकर कहने लगी—"अच्छा, खैर। कपड़े उतारो और खाने को चलो। पर खबरदार, सँभल जाओ, अभी वक्त है। पीछे पछताओगे।"

इस अस्पष्ट उक्ति से मेरा सारा शरीर जल उठा। मैंने भुँझलाकर कहा—'अच्छा', 'खैर' क्या? तुम्हारा क्या मतलब है, साफ-साफ क्यों नहीं कहतीं? इस तरह की टेढ़ी बातों से मुझे नफरत है।" वह एक-दम सकपका गयी। उसके चेहरे पर आश्चर्य तथा वेदना की छाया देख

कर मैं भी कुछ ठंडा पड़ गया। मैंने शांत होकर कहा—"जीजी, ये बातें तुम्हारी ठीक नहीं। साफ-साफ क्यों नहीं कहतीं? किस बात के लिए पछताने की बात तुम कहती हो?" उसने कहा—"कुछ नहीं, ऐसे ही। मुझसे गलती हो गयी, माफ करो भाई!" अत्यंत वेदना के साथ उसने ये बातें कहीं। मैं अपने क्रोध के लिए पछताने लगा। इस असहाय नारी को अन्तर्वेदना पहुँचाने के कारण मेरी विस्मृत ग्लानि फिर जग उठी। न-मालूम किसका मुँह देखकर आज सुबह उठा था! मेरी जीजी रसोई में गयी और आग सुलगाकर एक एक करके तवे पर रोटियाँ सेंककर मुझे देने लगी। नाना दुर्भावनाओं से पीड़ित होने के कारण बहुत भूख लगी थी। विशेष रूप से भोजन करके चुपचाप पलँग पर लेट गया।

पर नींद नहीं आयी। सैकड़ों दुश्चिंताओं से दिमाग गरम हो उठा। स्कूल में फीस के लिए तकाजा हो रहा था। बहुत दिनों से चाचा ने खर्च नहीं भेजा था। तीन-चार दिन से अपनी 'जीजी' का ही आटा खा रहा था। आटे-दाल के लिए भी मेरे पास पैसे नहीं थे। 'जीजी' आज अवश्य नाराज हैं, इसलिए कल से यदि अपना आटा खर्च करके रोटी पकाने में आनाकानी करे, तो इसमें आश्चर्य ही किस बात का! मैं दो-तीन चिट्ठियाँ चाचा के पास भेज चुका था; पर उन्होने कोई उत्तर देना उचित नहीं समझा, और आज चालीस रुपये बलवंत के हार गया हूँ! इतने रुपयों से मेरा ढाई महीने का खर्चा चल सकता था। बलवंत को मैं हर बात में इतनी अकड़ दिखाता हूँ कि उससे रुपये कर्ज भी नहीं माँगे जा सकते। यद्यपि मुझे पूरा विश्वास था कि मेरे कहते ही वह रुपये दे देगा।

अकस्मात् मुझे बलवंत के भाग्य पर ईर्ष्या होने लगी। हर महीने डेढ़ सौ दो सौ रुपये वह उड़ा देता था। और, वह उड़ाना भी ऐसा कि जो उसके घर में किसी को नहीं अखरता था। मैंने उसकी मा की जो चिट्ठियाँ देखी थीं, उनसे यह पता चलता था कि वह जी-जान से यह चाहती हैं कि वह खूब रुपया खर्च करे, तकलीफ किस तरह की न भुगते। और, मेरी हालत ऐसी है कि चाचा के प्राण सुखा रहा हूँ। बहुत लाचार किए जाने

पर उनसे कुछ ऐंठा जा सकता था, नहीं तो भूखों मरना होता था। पहले यह बात न होती थी। पर मेरे अल्मोड़े आने पर शायद उन्हें यह खयाल तंग कर रहा था कि मैं जीवन-भर उनका पिंड छोड़ने वाला नहीं हूँ।

पर मैं लाचार था। करता क्या ? बेशर्म बनकर भी उन्हीं को पत्र लिखने के लिए बाध्य था। अपनी वर्तमान स्थिति के संबंध में मुझे उतनी चिंता नहीं थी, जितनी अपने भविष्य के संबंध में। चाचा ने जिस प्रकार रुख बदल लिया था, उस हालत में उनसे कब तक पटेगी, यह सोचकर मैं हैरान था। अब मैं नादान बच्चा नहीं रह गया था। मेरा सोलहवाँ वर्ष पूरा होने को था। सरकारी नौकरी का जो हाल था, वह मैं अपनी आँखों से देख रहा था। दूसरी गति मैं कोई नहीं देख पाता था। मैं यह सब बातें सोच ही रहा था कि अचानक बाहर से तेज हवा सनसनाने लगी, और मुझे कुछ जाड़ा मालूम होने लगा। बाहर घोर अन्धकार छाया हुआ था। अपनी स्थिति की गति-हीनता पर विचार करने के कारण एक तो मैं वैसे ही भयभीत हो चला था, दूसरे इस हवा और कृष्णपक्ष के अन्धकार ने मुझे और भी कंपित कर दिया। अचानक मुझे खयाल हो आया कि जिस मकान में मैं रहता हूँ, उसकी बगल में अस्पताल है। उस अस्पताल में निवास करने वाले अनेकों प्रेतात्माओं की अद्भुत कहानियाँ मैंने सुन रखी थीं। उन सब की स्मृति अब एक-एक करके जाग्रत हो उठी। कंबल अच्छी तरह से ओढ़कर, बिस्तर पर सिकुड़कर लेट रहा। थोड़ी देर बाद आँखें झपने लगीं।

तीसरा परिच्छेद

उस दिन छुट्टी थी। दिन-भर मैं बलवंत के पास बैठकर गप्पें मारता रहा। जब तीन बज चुके, तो उसने कहा—"चलो, आज तुम्हें एक जगह ले चलें, किसी से मिलना है। बहुत दिनों से उसके पास नहीं गया हूँ।" मैंने कहा—'चलो।" चलते-चलते हम लोग बाजार पहुँचे। बाजार पहुँचकर एक गली पार करके वह मुझे पिछवाड़े के रास्ते ले गया। यह रास्ता यद्यपि मैंने पहले देख रखा था, तथापि कभी वहाँ से होकर जाने

का मौका नहीं मिला था। थोड़ी दूर चलकर वह एक मकान के पास ठहर गया। मकान के नीचे से होकर एक नाली में गंदा पानी बह रहा था। उससे ऐसी बदबू आ रही थी कि मुझे नाक बंद करनी पड़ी। वह सीढ़ियों से होकर ऊपर चढ़ने लगा, और मुझसे कहने लगा—"चले आओ।" मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर जो हाल मैंने देखा, उसे देखकर मैं दंग रह गया। बाहर जितनी गंदगी थी, भीतर उतनी ही सफाई। एक प्रायः चौदह साल की किशोरी सुंदरी ने उसका स्वागत किया। उस अंधकारप्राय कमरे में उस नवोढ़ा का रूप बिजली की तरह कौंध रहा था। अपने जीवन में इसके पहले वैसा रूप मैंने कहीं नहीं देखा था, और न उसके बाद ही कहीं देखा। पर बलवंत मुझे कहाँ लाया है, यहाँ उसे किससे मिलना है, यह सब कुछ भी न समझ सकने के कारण मैं भौंचक्का-सा खड़ा रहा। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मैंने देखा कि उस कमरे में ही एक पलँग पर वह बैठ गया। वह किशोरी सुंदरी वहीं पर खड़ी थी। मैं भी अज्ञात संकोच के कारण किंकर्तव्य-विमूढ़-भाव से खड़ा ही रहा, बैठा नहीं। अकस्मात् वीणा के मधुर निनाद की तरह सुंदरी के मुँह से आवाज निकली। उसने मुझे संबोधित करके कहा—"बैठते क्यो नहीं, कब तक खड़े रहोगे?" मैं अधिक संकुचित हो गया, और उत्तर देने की लाख चेष्टा करने लगा, पर ऐसा मालूम होने लगा, जैसे किसी ने मेरे मुँह पर ताला लगा दिया है, उस पर मेरा अधिकार नहीं है। बलवंत को मन-ही-मन कोसने लगा। और, यदि संभव होता, तो ऋषि लोगों की तरह शाप से उसे वहीं भस्म कर देता। पर वह मेरी हालत देखकर मजे से मुस्करा रहा था। मैंने समस्त शक्ति एकत्रित करके कहा—"तुम किसी से मिलने के लिये कहते थे; जल्दी मिल लो, फिर मुझे जाना है।"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा, और कहने लगा—"जिससे मिलना था, वह तो तुम्हारे सामने खड़ी है।" इसका मैं क्या जवाब देता! चुप रहा। मुझे चुप रहते देखकर बलवंत ने उस सुंदरी से कहा—"हीरा, इसके लिये

एक कुर्सी तो लाओ, वह पलँग पर नहीं बैठेगा।" हीरा ने कहा—"यहाँ अँधेरा है। बाहर बैठक के कमरे में चलो, वहीं बैठेंगे।" हम लोग पिछ-वाड़े से आये थे, इसलिए पहले बैठक का कमरा देखने का सौभाग्य नहीं हुआ था। वे दोनों आगे बढ़े, पर मैं पीछे खड़ा रहा। मैंने कहा—"बल-वंत, मैं जाता हूँ। तुम्हें बैठना है, तो बैठे रहो।" यह कहकर मैं लौटने लगा। बलवंत ने कहा—"ठहरो, मैं भी आता हूँ।" ऐसा कहकर एक बार किशोरी की ओर ताककर वह मेरे पीछे हो लिया। किशोरी ने एक करुणा-मिश्रित उदास दृष्टि से हमारी ओर ताका।

बलवंत ने मेरे पीछे आकर मेरे कंधे पर अपना हाथ रख लिया। बाहर आकर कहने लगा—"तुम बड़े अजीब आदमी हो, यार!" मैंने कहा—"मुझे धोखा देने से तुम्हें क्या फायदा था? मुझसे पहले ही सच बात कह दी होती, मैं नहीं आता।" उसने कहा—"मुझे मालूम नहीं था कि तुम इस बात पर इतना बिगड़ोगे।"

मैंने कुछ शांत होकर कहा—"देखो बलवंत, बिगड़ने की बात नहीं। पर तुम जानते ही हो, इन सब बातों में मुझे बड़ा संकोच होता है।"

इसके बाद बोर्डिंग-हाउस पहुँचने तक हम दोनों चुप रहे। वहाँ पहुँचने पर वह 'स्टोव' जलाकर चाय की तैयारी करने लगा। मेरे मन में बड़ा कौतूहल हो रहा था। मैं रह न सका। मैंने पूछा—"अच्छा, बतलाओ भाई, आखिर वह थी कौन?" बलवंत मेरे आज के असभ्य व्यवहार से बड़ा नाराज मालूम हो रहा था। पर उसने शांत होकर गंभीरता के साथ कहा—"हमारे ही गाँव की लड़की है। इसके बाबूजी पटवारी हैं। लड़की विधवा हो गयी है। आजकल कुछ दिनों के लिये अपने बाबूजी के साथ यहाँ आयी है। इनके यहाँ मेरे लिये कोई परदा नहीं रहता। ये लोग भी ठाकुर हैं।"

पटवारी की लड़की है! भगवान्, माफ करो! मैं नीच उसे क्या समझा था! उसे घृणित जाति की पतिता लड़की समझकर सामाजिक संस्कार के वश होकर उसके प्रति उक्त घृणा का भाव पोषित किए था। पर जो कुछ भी हो, इस दुखिनी बाल-विधवा के पास बलवंत जाता है क्या समझ-

कर ! क्यों इन लोगो से वह इतना हेल-मेल बढ़ा रहा है ? यह क्या उचित है ? वह अपने काम पर व्यस्त था। मै गौर से उसकी ओर देखने लगा। वह देव-दुर्लभ कमनीय काति, वह पौरुष तथा बलिष्ठ गठन देखकर आज मेरा जी मचलाने लगा, उसके सुंदर मुख-मंडल में मुझे आज बीभत्सता की छाया दिखायी देने लगी। उसकी प्रकृति के भीतर छिपा हुआ पशुत्व जैसे मेरी आँखो के सामने स्पष्ट प्रतिभात हो रहा है, ऐसा मालूम देने लगा। पर इसी कारण से उसके प्रति मेरे मन में करुणा तथा स्नेह का भाव अधिक उमड़ आया।

चाय बन चुकी थी। हम दोनों पीने लगे। पीते-पीते मैंने पूछा—"तुम कहते हो, वह लड़की विधवा है। यह जानकर भी तुम उसके यहाँ जाकर उसके साथ एकांत में बातें करना क्यो पसंद करते हो ?"

यह प्रश्न करके मैं अत्यंत कौतूहल से उसके मुँह की ओर दृष्टिपात करने लगा, और देखने लगा कि उसका चेहरा क्या-क्या रंग बदलता है। आज वह हँसा नहीं। मेरी अन्य बातों की तरह इस बात को वह आज किसी तरह भी दिल्लगी में नहीं उड़ा सका। बड़े गंभीर भाव से उसने उत्तर दिया—"एकात में बात करने में क्या कोई हर्ज है ? उन लोगो से हमारे कुटुम्ब का बहुत पुराना संबंध है; किसी बात की कोई रोक-टोक हम लोगों के बीच में नहीं चलती। हीरा चाहे एकांत में मिले चाहे सबके सामने, इससे मुझे क्या ? मैं उन लोगो से मिलने जाता हूँ; जो मिलेगा, उससे बातें करनी पड़ेगी।"

मैंने कहा—"तुम्हारी बात ठीक है; पर तुम मुझे क्यों ले गये ? मै तो गैर था ?"

उसने कहा—"नहीं, तुम गैर नहीं हो; क्योंकि मेरे साथी हो।"

मैं चुप रहा। पर उसकी इन बातों से मुझे किसी प्रकार भी संतोष नही होता था। रह-रहकर एक अभावनीय संदेह मेरे हृदय को बिद्ध किए देता था। मेरा अंतःकरण मुझसे कह रहा था—"देखो गोपाल, अपने जिस

साथी के स्नेह-बंधन में तुम फँसे हो, वह बड़ा खतरनाक आदमी है। जिस तरह से भी हो, उससे अपना पिंड छुड़ाओ।"

चाय पीकर मैं बिदा हुआ।

चौथा परिच्छेद

उस अज्ञात सुंदरी का अपूर्व रूप मेरे हृदय में अभी तक झलक रहा था। बलवंत के बिदा होने पर उसने जिस करुण तथा व्याकुल दृष्टि से हम दोनों की ओर ताका था, वह मेरे कलेजे में अभी तक काँटे चुभा रही थी। अन्यमनस्क होकर मैं रास्ते में चल रहा था। डूबते हुए सूरज की सुनहरी आभा से आस-पास के पहाड़ों पर अत्यंत सुकुमार तथा करुण कांति व्याप्त थी। मैं अकेला चल रहा था, और ऐसा अनुभव हो रहा था कि अनंत काल तक अकेले ही चलना होगा। मैंने माता-पिता के स्नेह से रहित होकर, भाई-बहन के प्रेम में वंचित होकर इतने वर्ष बिताये हैं; अभी सारा जीवन इसी प्रकार बिताना होगा। कब तक? इस तरह से कब तक मैं धैर्य धारण करूँगा! बार-बार मुझे उसी करुणा-विह्वल मूर्ति का खयाल हो आता था। न जाने किस माता-पिता की वह लाड़ली लड़की है, किस भाई की प्यारी बहन है! मुझे यदि भगवान् ने कोई बहन नहीं दी, तो क्या मुझे किसी को बहन के बतौर प्यार करने का अधिकार नहीं है? बलवंत अपनी एक छोटी बहन की बातें मुझसे अक्सर किया करता था। उसकी उस स्नेह-प्रेम से पूर्ण दुनिया का आनंद-भोग करने के लिये प्रतिक्षण मेरा जी तड़-फड़ाया करता था। मुझे भी क्या कभी किसी बहन का प्यार मिलेगा, इस प्रकार की कल्पना में मैं सदा विभोर रहता था। अपने समवयस्क किसी लड़के या लड़की के साथ हिल-मिलकर रहने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला था। अल्मोड़े में आकर बलवंत से मेरी घनिष्ठता हुई। वह पहला व्यक्ति था, जिसको मैंने अपने जीवन में प्यार किया था। पर आज मेरी आँखों के सामने अग्नि के समान दीप्त,

किन्तु कुसुम के समान स्निग्ध यह कौन अभावनीय मूर्ति नाच रही है ! यह किस अज्ञात लोक में विचरण करने वाला जीव है, जिसके प्रति मेरे मन में आंतरिक घृणा उमड़ी थी, पर जिसके प्रति स्नेह बरसाने के लिये रह-रह कर मेरा हृदय रो रहा है !

नहीं समझेगा, संसार मुझे नहीं समझेगा ! सोलह वर्ष तक स्नेह-प्रेम से हीन एकदम शुष्क तथा नीरस जीवन बिताने पर मेरे सामने अचानक जब अप्रत्याशित रूप से रस की अजस्र धारा प्रवाहित होती हुई निकली, तो उसमें कितनी 'गदगी' वर्तमान थी ! रस के लिये मैं तड़प रहा था, पर उसे मैं स्पर्श भी कैसे कर सकता हूँ ! स्नेह पाने तथा स्नेह देने के लिये मैं पागल हो रहा हूँ, पर घृणा, कलंक तथा पाप का भाव क्यो मेरी छाती को दबा रहा है ?

सूरज डूब चुका था। अंधकार धीरे-धीरे अपना अधिकार जमाने लगा था। संध्या-तारा टिमटिमा रहा था। पर्वत-भूमि स्तब्ध तथा शांत थी। अकस्मात् संध्या के इस अंधकार में मुझे समस्त प्रकृति के अंतस्तल से पवित्रता की एक अपूर्व झलक आँखों के सामने झिलमिलाती हुई मालूम देने लगी। आज जिस कलुष भावना की अनुभूति से मेरी आत्मा सिकुड़ी जाती थी, वह एकदम तिरोहित हो गई। मेरे हृदय में भासित होने लगा कि समस्त सृष्टि में पवित्रता का भाव वर्तमान है, पाप कहीं नाम को नहीं है; इस स्वच्छ, शीतल संध्या में पवन के मंद-मंद झकोरों में पवित्रता मेरे शरीर को स्पर्श कर रही है। मैं फिर उसी अज्ञात सुंदरी को मन-ही-मन संबोधन करके कहने लगा—"देवि ! मुझे क्षमा करो, मैं अंतर से क्षमा चाहता हूँ। तुम पवित्र हो। तुम्हारी आत्मा पवित्र है ! तुम मेरे लिये इस निष्कलुष, निर्विकार संध्या की तरह शीतल तथा पवित्र हो, तुम मेरे लिये ऊषा के स्निग्ध करुण राग की तरह निर्मल तथा पुनीत हो। मै अधम तुम्हारी दुर्बलता पर, तुम्हारे पतन पर, विचार करने के योग्य नहीं हूँ। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि तुम मुझे अपने स्निग्ध स्नेह की करुणा धारा से अभिषिक्त करो।" बलवंत के लिये भी मेरा हृदय पिघल गया। उसे अकारण

रूखे वाक्य-बाणों से बिद्ध करके मेरा हृदय चैन नहीं पा रहा था। उसके प्रति भी मेरा स्नेह उमड़ पड़ा। मैं मन में कहने लगा—"भाई, तुम भाग्य-वान् हो, मैं चिरदुःखी हूँ। मेरी बातों का खयाल कभी न करना। आशी-र्वाद दो कि मैं सदा तुम्हें इसी तरह प्यार करता रहूँ, और तुम्हारे दोषों की तरफ आँख उठाकर भी न देखूं।"

जब मैं मकान पहुँचा, तब मेरी वही जीजी तरकारी पकाकर आँटा गूँध रही थी। उसने कहा—"क्यों गोपाल, आज तो तू बहुत जल्दी आ गया!" मैंने कहा—"हाँ जीजी, आज लड़कों के फंदे में नहीं पड़ा।" शायद उस दिन की बात याद करके जीजी मुस्कराने लगी। लेकिन उसकी मुस्कान में एक ऐसी छाया मैंने देखी, जिसके कारण मेरा जी मचलाने लगा। मैंने बलपूर्वक इस भावना को मन से हटाया। आज पहली बार मुझे इस बात का खयाल आया कि यह भद्र महिला अपना गुजारा कैसे करती है! यह अपने को अनाथ बतलाती है, फिर सुबह-शाम खाने के लिये इसके पास पैसे कहाँ से आते हैं? यह कौन है? मैं आज तक किसके हाथ का खाना खाता आया हूँ! यह जाति की ब्राह्मण है या क्या है? अपनी इस घोर मूर्खता पर मुझे आश्चर्य हुआ कि आज तक इस संबंध में कोई प्रश्न मेरे मन में नहीं उठा। पाप तथा संदेह की जिस भावना को मैं दूर फेककर शांति-पूर्वक घर लौटा था, वही भावना फिर से मेरे ऊपर सवार हो गयी। उस रात को उस रमणी के हाथ की रोटियाँ मैंने अत्यंत अरुचि के साथ खायीं। नारी-जाति के प्रति उत्कट घृणा, पर साथ ही उद्दाम स्नेह का भाव लेकर मैं सोया।

पाँचवाँ परिच्छेद

जाड़े की छुट्टियों में बलवंत मुझे अपने साथ घर ले जाने के लिये जिद करने लगा। मेरी भी अनिच्छा नहीं थी। फलतः राजी हो गया। अल्मोड़े से बीस मील की दूरी पर उसका गाँव था। शाम के वक्त हम लोग वहाँ पहुँचे। एक बहुत सुंदर बाग के भीतर उन लोगों का मकान था। मकान

काफी बड़ा था। मैंने भीतर पहुँचकर देखा, प्रायः सभी कमरे साफ और सजे हुए थे। नौकर-चाकरों की संख्या काफी थी। संबंधी जन भी यथेष्ट संख्या में कुटुम्ब में सम्मिलित थे, ऐसा मालूम दिया। हमें आते देखकर कोई कौतूहल से, कोई व्यस्त भाव से, हमारे सामने आ खड़ा हुआ। बलवंत ने अपनी अम्मा को प्रणाम किया। मैं भी उनके पैर छूने लगा। मुझे ब्राह्मण जानकर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया, और मधुर मुस्कान के साथ कहा—"ऐसा अंधेर क्यों करते हो, लल्ला?" मैंने कहा—"आप बलवंत की तरह मेरी भी तो अम्मा हैं।" अत्यंत मधुर स्नेह की दृष्टि से उन्होंने मेरी ओर ताका। कैसी स्निग्ध वह दृष्टि थी! उनके मातृ-हृदय के अंतरतम प्रदेश से फूट कर वह प्रकट हुई थी! उनकी अवस्था पैंतीस-छत्तीस साल से अधिक नहीं जान पड़ी। अभी तक अनुपम रूप-लावण्य और यौवन ज्यों-का-त्यों वर्तमान था। उन्हें देखकर मुझे ज्ञात हुआ कि बलवंत ने अपना देव-दुर्लभ रूप कहाँ से पाया है। उनकी लड़की कौशल्या ने उनके अंचल का एक सिरा पकड़ रखा था, और उनके छोटे लड़के प्रद्युम्नसिंह ने दूसरा। कौशल्या की अवस्था तेरह साल से कम नहीं होगी। बलवंत से मुझे मालूम था कि उसका विवाह नहीं हुआ है; पर वह काफी बड़ी दिखाई देती थी। प्रद्युम्न उससे दो-तीन साल छोटा होगा। दोनों बड़े कौतूहल से मेरी ओर ताक रहे थे। प्रद्युम्न ने धीमी आवाज में, कुछ लजा कर, अपनी अम्मा से पूछा—"अम्मा, यह कौन हैं?" अम्मा ने कहा—"यह भी तेरे भैया हैं, बबुआ!" उन्होंने मुझे उसका भैया बताकर मेरी अम्मा होने का नाता स्वीकार कर लिया है, यह जानकर मैं आनंद से फूला नहीं समाया।

थोड़ी देर के बाद वह हमें एक दूसरे कमरे में ले गयीं। उस कमरे में जाजिम के ऊपर कई सुंदर कालीन बिछे हुए थे। जगह-जगह दीवारों से लगे कई मसनद रक्खे थे। हम सब वहीं बैठ गए। अम्मा मुझसे पूछने लगी कि मैं किस दर्जे में पढ़ता हूँ, मेरे माता-पिता का क्या हाल है, हम कितने भाई हैं, इत्यादि। यह जानकर कि मैं शैशवावस्था से ही माता-पिता के

स्नेह से वंचित हूँ, उनके चेहरे में करुणा छलक उठी, और उनकी आँखें वस्तव में आर्द्र हो आयीं। अंचल से आँखें पोछकर उन्होंने मेरी पीठ पर मेरे सिर पर, गालो पर, अपना स्नेह-सुकोमल हाथ फेरा और कुछ देर तक चुप रहीं। शायद उन्हें यह खयाल भी हो रहा था कि उनका बलवंत भी पितृ-स्नेह से वंचित है और वह विधवा हैं।

हम सब सन्न होकर बैठे थे। इतने में कौशल्या भीतर से दो रकाबियो में जल-पान की चीजें ले आयी। एक नौकर चाय लेकर पहुँचा। सूरज छिप चुका था। मैंने कहा—"अम्मा, मैं इस वक्त कुछ नहीं खा सकता, संध्या करके ही खाऊँगा। सिर्फ चाय पी लेता हूँ।" बलवंत उसी दम बोल उठा—"खाता है, अम्मा, यह दिन छिपने पर भी खाता है। इस वक्त बड़ा भगत बन रहा है। विलायती बिस्कुट भी यह खाने लग गया है।" कहकर वह जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ा। मैंने भंडा-फोड़ होते देखकर क्रोध की दृष्टि से उसकी ओर ताका। अम्मा मुस्कराने लगीं। उन्होंने कहा—"बिस्कुट खाता है, तो क्या अंधेर हुआ? आजकल तो सब लड़के अंडे भी खाने लग गये हैं।" मैंने सोचा, इतनी उदार माता के सामने भगत बनने का ढोंग रचना महापाप है। बिना किसी दूसरी आपत्ति के हलवा और पूरी का भोग लगाने लगा। जब हम लोग भर-पेट खा चुके और चाय पी चुके, तो अम्मा ने कहा—"दोनों थके हुए आये हो, यह सोचकर मैंने इस वक्त चाय का बंदोबस्त कर दिया था। बिना किसी चीज के खाए चाय पीनी नहीं चाहिए, इसलिये कुछ खाने का भी इंतजाम किया। अब रात को भर-पेट खाना खाओगे।"

मैंने मन में कहा—"अच्छे फँसे। बलवंत तो तगड़ा आदमी है, वह और भी खा सकता है। पर मुझे उसका साथ जबरदस्ती देना पड़ेगा।"

बड़ा जाड़ा हो रहा था। हाथ-पाँव ठिठुरे जाते थे। एक अँगीठी में आग जली हुई थी। हम लोग तापने लगे। बहुत देर तक बातें करते रहे। अम्मा ने बलवंत के संबंध में मुझसे कई बातें पूछीं। वह क्या करता है, कितना पढ़ता है, इस साल भी पास होगा या नहीं, उसके खाने-पीने का

इंतजाम तो ठीक है, इत्यादि। फिर मेरे संबंध में पूछने लगीं. मेरा क्या इरादा है, इस साल पास होकर आगे पढ़ूँगा या कहीं नौकरी की खोज करूँगा। मैने कहा—"अम्मा, चचा को अब ज्यादा तकलीफ देना क्या ठीक होगा? मुझे इट्रेंस तक पढ़ाकर उन्होंने इतनी तकलीफ उठायी है, मेरे लिये यही क्या कम है। अगर कहीं नौकरी मिल जाय, तो पेट का गुजारा हो। पर नौकरी का आजकल जैसा हाल है, उसे देखकर उम्मीद नहीं कि कही ठिकाना लगेगा।" यद्यपि मैं यह बात कहते हुए उपेक्षा का भाव दिखाने की चेष्टा करने लगा, तथापि अंत को मेरा गला भर आया, और मेरे कठस्वर में अत्यंत दीनता तथा विषाद का भाव फूट पड़ा।

अम्मा ने दिलासा देते हुए कहा—"नहीं लल्ला, इतनी फिक्र की कोई बात नहीं। कही अच्छी नौकरी मिल गयी, तो अच्छा ही है, नहीं तो भगवान् का भरोसा करना चाहिए। इतने जीवो को जो हर रोज भर पेट खाने को दे रहा है, वह तुम्हे क्यो भूखो मारेगा! जैसे मेरा बलवंत है, वैसे ही तुम भी हो। तुमने यह नाता मान भी लिया है। बलवंत भूखा रहेगा, तो तुम भी भूखे रहोगे।"

असीम कृतज्ञता के भाव से मेरा हृदय छलक उठा। मैं चुप हो रहा। दो घंटे तक हम लोग वही आग तापते रहे। इसके बाद अम्मा ने कौशल्या से कहा—"जा बेटी, ऊपर जाकर देख तो आ, खाना तैयार हो चुका है या नहीं।" कौशल्या जाकर थोड़ी देर में लौट आयी, और कहने लगी—"अम्मा, सब तैयार है।" अम्मा ने हमसे कहा—"चलो, अब देर न करो।"

हम लोग ऊपर चले। पराँठे, पूरियाँ, खस्ता कचौड़ियां, सभी पकवान तैयार थे। तरकारियाँ भी नाना प्रकार की थीं और बहुत स्वादिष्ट बनी थीं। रसोइया महाराज इस संबंध में बड़े अनुभव-प्राप्त जान पड़े। कौशल्या भंडार से अचार और मुरब्बे ला-लाकर हमें देती जाती थी। अम्मा ने संभवतः भाडार का सब अधिकार उसी को दे रक्खा था। अम्मा

रसोई के कमरे में बैठकर हम लोगों का खाना देखने लगीं, और "यह दो, वह दो" कहकर महाराज को सुझाने लगीं।

खा-पीकर फिर हम लोग आग तापने बैठे। गपशप में दो-एक घंटे काटकर मैं सोने की तैयारी करने लगा। अपने कमरे में जाकर पलँग पर लेटकर सोने ही को था कि कौशल्या आकर एक बड़े गिलास में आध सेर गरम-गरम दूध पीने को दे गयी। दूध पीकर मैं सो रहा।

छठा परिच्छेद

दूसरे दिन सुबह को उठने पर मुझे नहाने धोने के लिए गरम पानी मिल गया। नहा-धोकर फिर आग की शरण लेनी पड़ी। जाड़ा सारा बदन काट खा रहा था। कौशल्या जल-पान के लिये कुछ ले आयी, पर जल के स्थान में दुग्ध-पान ही करना पड़ा। आग में बदन सेंकने और गरम दूध पीने पर कुछ गरमी और फुर्ती आयी। बलवंत बाहर घूमने का प्रस्ताव प्रस्ताव करने लगा। अम्मा ने धमकाकर कहा—"इतने जाड़े में सुबह के वक्त घूमने के लिये तेरे सिवा किसे पड़ी है, जो राजी होगा!"

उस वक्त तो मैं वास्तव में राजी न हो सका। पर खाना खाकर हम दोनों बाहर निकल पड़े। बलवंत ने एक काँटेदार लंबी 'बंसी' लेकर नदी में मछलियाँ मारने का इरादा किया। नदी के किनारे जाकर, एक जगह एक पत्थर के ऊपर बैठकर, 'बंशी' के काँटे में कुछ आटा लगाकर बलवंत ने उसे पानी में डाल दिया। मैं भी तमाशा देखने के लिये उसी पत्थर के ऊपर बैठ गया। धूप बहुत प्यारी और मीठी मालूम हो रही थी। नदी का कलकल-शब्द मध्याह्न की निस्तब्धता को अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिभासित कर रहा था। मेरे मन में रहकर यही भावना आनंद की पुलक से उछल उछल उठती थी कि मैंने आज अम्मा, भाई और बहन का स्नेह पा लिया है—मैं अब इस विपुल संसार में अनाथ, निराश्रित, एकाकी तथा स्नेह-हीन नहीं हूँ।

बैठे-बैठे एक घंटा बीत चुका होगा। बलवंत दो-तीन छोटी-छोटी

मछलियाँ पकड़कर चौथी की घात में बैठा था। मैं अपने स्वप्नों में ही विभोर था। अचानक अत्यंत आश्चर्यान्वित होकर मैंने देखा कि दूर कुछ गाय और भैंसों के साथ एक ग्वाले के पीछे पीछे वनदेवी की तरह अपनी अनुपम रूप-छटा बिखेरती हुई, मेरी वही पूर्वपरिचित देवप्रतिमा जिसके पास मुझे बलवंत एक दिन अल्मोड़े में ले गया था, धीरे धीरे अत्यंत संकोच तथा दीनता के साथ हमारी तरफ को आ रही है। वह अपने मधुर वीणाविनिंदित कंठ-स्वर से कभी गायों को पुचकारती थी, और कभी दुतकारती थी। स्पष्ट ही वह भ्रमण के उद्देश्य से बाहर निकली थी। मैंने बलवंत को इशारे से जतलाया। उसे देखते ही उसका चेहरा तमतमा आया, और आनंद के उच्छ्वास से वह अस्फुट शब्द में बोल उठा—"हीरा!" मैंने कहा—"हाँ, वही मालूम देती है। वह यहाँ कैसे आ गयी?" बलवंत ने कहा—"उसका घर ही यहाँ है, जायगी कहाँ?" मुझे याद आया कि बलवंत ने पहले भी कभी एक दिन कहा था कि हीरा उनके गाँव में ही रहती है।

हीरा भी हमारी ओर ताक रही थी, और बीच-बीच में सकुचाकर आँखें नीची कर लेती थी। जब वह हमारे सन्निकट आयी, तो ऐसा मालूम देने लगा जैसे संकोच तथा लज्जा के कारण वह गड़ी जाती है। शायद उसे मेरा उस दिन का असभ्य व्यवहार स्मरण हो आया था। बलवंत ने उसे पुकारा—"हीरा!" अधिकतर लज्जित होने के कारण उस देवी का मुँह लाल हो आया। उसने संकुचित होकर धीमे स्वर में कहा—"क्या है?" उसके पाँव खड़े खड़े काँप रहे थे। वह एक बार मेरी ओर ताक रही थी, और एकबार बलवंत की ओर। शायद वह मेरा रुख पहचानने की कोशिश में थी। बलवंत का भी यही हाल था। वह भी आज मेरे सामने उससे बातें करने में बड़ी झिझक मालूम कर रहा था। वह देवी किसी बहाने से वहाँ खड़ी न रह सकी, और सीधे आगे को बढ़ गयी। कुछ दूर आगे बढ़कर वह फिर-फिर पीछे को मुँह करके बलवंत को ताकती थी। कितनी करुणा, कितनी दीनता उस सुंदर, उज्ज्वल तथा भोली आँखों में वर्तमान

थी! धीरे-धीरे वह हमारी आँखों से ओझल हो गयी। ग्लानि तथा अपने पूर्व-कृत व्यवहार के पश्चात्ताप से मेरी छाती फटी जाती थी। मैं स्पष्ट देख रहा था कि एक-दूसरे के साथ बातें करने की कितनी तीव्र लालसा दोनों के मन में वर्तमान थी, पर मेरे कारण वे बोल न सके। आज ही, भाई और बहन के उन्मुक्त तथा उदार स्नेहधारा की मेरे ऊपर वर्षा हुई थी। इस कारण मैं सोचने लगा कि यदि मैं दूसरों के पारस्परिक स्नेह में विघ्न डालने के लिये सयानापन दिखलाऊँ, तो मुझे स्वयं इतने अयाचित स्नेह का क्या अधिकार है!

पर फिर-फिर यह भावना मेरा गला घोंट रही थी कि वह विधवा है! विधवा के प्रति यदि बलवंत के मन में किसी प्रकार के स्नेह का भाव उत्पन्न हो गया है, तो उसे उसको जबर्दस्ती दबाना चाहिए। किन्तु जब उसकी करुणा-विह्वल दृष्टि का खयाल हो आता था, तब मेरा सब ज्ञान न-मालूम कहाँ तिरोहित हो जाता था। मैं तब सोचता था कि गाय और भैंसों के साथ भ्रमण करने वाली यह चौदह वर्ष की किशोरी, सधवा या विधवा कुछ भी नहीं है। वह मुक्त है, वह शक्ति है! वह पाप-पुण्य से अतीत है!

बलवंत के संबंध में तो मैं सोच रहा था कि उसे हीरा के प्रति मन में प्रेम का भाव पोषित करने का अधिकार नहीं है; पर आज स्वयं मेरा अपना हाल क्या था! हाय रे अबोध मनुष्य! अपनी दुर्बलता पर वह विचार नहीं करता; पर पर दूसरे का सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र अन्वेषण करके उस पर वह अत्यंत कठोरता के साथ विचार करता है।

पाँच मछलियाँ पकड़कर और इधर-उधर घूमकर हम लोग मकान को लौट चले। अम्मा और कौशल्या खिड़की के बाहर झाँककर हम लोगों की बाट जोह रही थीं। हमें देखकर कौशल्या मुस्कराई। मैंने कहा—

"क्यों हँसती है कौशल्या?" कौशल्या ने उसी तरह स्निग्ध भाव से मुस्कराकर उत्तर दिया—"यों ही। ये मछलियाँ तुमने पकड़ी हैं, गोपाल भैया?" मैंने कहा—"नहीं बहन, मैं इतना हत्यारा नहीं हूँ।

तुम्हारे खूँख्वार भैया ने इन्हें मारा है।" कौशल्या खिलखिलाकर हँस पड़ी। मैं सोचने लगा, यह कितनी शांत, शिष्ट और हँसमुख लड़की है! और साथ ही गिरस्ती के काम में कितनी दक्ष है! मा ने सब काम उसे ही सौंपा है। एक यह भी है जो अभी विवाह का कर्म ही ठीक तरह से नहीं जानती, और एक वह भी है जो इसकी अवस्था से भी पहले विधवा हो चुकी है! एक का सारा जीवन ही समाज ने, बिना उसके अपराध के, भयंकर पाषाण के बोझ से दबाकर नष्ट कर डाला है। वह अब किसी प्रकार भी अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकती, और न अपने को हिला-डुला ही सकती है, यद्यपि इसमें उसका कुछ दोष नहीं है। दूसरी नदी के मुक्त प्रवाह की तरह द्विधा-हीन भाव से बही चली जाती है। भगवान् दोनो को सुखी रखें!

सातवाँ परिच्छेद

जल--पान करके हम लोग फिर एक बार भ्रमण के लिये निकल पड़े। गेहूँ के खेतो से होकर एक जंगल के भीतर घुसे पड़े। जंगल से होकर एक पहाड़ी पर चढ़ बैठे। हेमंत की हेम-कांति से विभासित श्रांत क्लांत संध्या मन में न-मालूम कितने युगों के करुण भावों की अस्पष्ट स्मृति जागरित कर रही थी! हम दोनो आज कल्पना द्वारा उत्कट विषादमय, पर साथ ही उद्दाम आनंदमय, स्वप्नों के लोक में विचर रहे थे, जहाँ धूप-छाँह का अपूर्व रहस्य देखने में आता है। एक दूसरे के मन की बात न ताड़ बैठे, इस भय से बीच-बीच में हम दोनों में से एक आदमी कभी जरा सी देर के लिये कोई बात छेड़ बैठता था; पर फिर हम दोनों कल्पनाओं में निमज्जित हो जाते थे।

बलवंत क्या सोच रहा था, यह मैं नहीं कह सकता। शायद उसे मेरे सुझाने पर यह बात पहले-पहल मालूम हुई थी कि हीरा से बेझिझक बातें करना पाप तथा अन्याय है। इसके पहले उसके निष्पाप किशोर हृदय में पाप की भावना छू तक नहीं गयी थी! मैं इतने दिनों तक उसका

सहवास करके यह बात अच्छी तरह से जान गया था कि बलवंत और कुछ भी हो, चरित्रहीन नहीं है, बाहर से भले ही वह चरित्र-हीनता का ढोंग रचे। इसी कारण उसके स्वभाव पर मैं इतना मोहित था। पर जिस दिन वह अप्रिय घटना मेरे दुर्व्यवहार के कारण घट गयी थी, उस दिन से इस संबंध में वह बहुत गंभीरता के साथ बातें करने तथा सोचने लगा था। जिस बात को वह ऊषा के हास की तरह आनंदप्रद, सहज तथा स्वाभाविक समझे था, उसे जब उसने समाज की दृष्टि से इतना जटिल पाया, तो उसके इस संबंध में इतना गंभीर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। शायद वह इस समय भी इसी जटिल भावना में निमग्न था।

पर मैं क्या सोच रहा था? मैं कुछ भी नहीं सोच रहा था; पर साथ ही सब कुछ सोच रहा था। किशोरावस्था की प्रथम उमंग के उच्छ्वास से जो पाठक वंचित हो गये हैं, वे मेरी उस अवस्था को कभी नहीं समझ सकते। रूप तथा लावण्य जिसके अंग-अंग में लहरें मार रहे हों, ऐसी किशोरी बालिका यदि अत्यंत दीनता के साथ अपनी विषादपूर्ण, संकुचित, सकरुण दृष्टि से नदी के किनारे हेमंत के एक कर्म-हीन मध्याह्न में किसी नवीन वयसवाले—किशोर तथा युवावस्था की मध्यगत अवस्थावाले—व्यक्ति की ओर निहारे, तो उसके मन की क्या गति होगी, इस बात की कल्पना यदि कोई कर सकता है, तो वह मालूम कर सकता है कि मैं क्या सोच रहा था। मेरा हृदय बिलख-बिलख कर, समस्त सामाजिक बंधनों से क्षण-काल के लिये मुक्त होकर, उस सुंदरी के चरण-युगल में श्रद्धा तथा भक्ति की पुष्पांजलि अर्पित करने के लिये व्याकुल-भाव से बिललाता था। मैं जानता हूँ कि इस आवेग को संयत न करके उसे आज स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के कारण मैं विद्वज्जन-समाज के निकट हीनता का दोषी बनूंगा। पर हाय! साथ ही मैं यह दुराशा भी कर रहा हूँ कि किसी तरह यदि उस देवी के सरस तथा सकरुण प्रेम से पूर्ण हृदय की महत्ता लोगों के सामने व्यक्त करके, समस्त पापियों को भी पुण्य स्रोत में बहा सकता! उस देवी के करुण हृदय का एक छींटा भी पाप की विभीषिका को निष्कलुष आनंद

में परिणत कर सकता है, पापी की जलन को अपनी शीतलता से शांत कर सकता है, यह बात मैं लोगों को कैसे समझाऊँ! पर कुछ भी हो, जब इतनी शक्ति मुझ में नहीं है, तो हीनता का कलंक मैं अपने सिर माथे चढ़ा लेता हूँ, किंतु फिर भी अपना हृदयावेग व्यक्त करने से बाज नहीं आ सकता। आज केवल एक दिन के लिये नीतिज्ञ पंडितों से इसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। मैं कलंकी हूँ, मुझे लोग कोसें। पर उस देवी पर आँच न आने पावे, यह मैं चाहता हूँ।

अँधेरा होने पर हम लोग लौट चले। अम्मा, कौशल्या और प्रद्युम्न के साथ, अँगीठी के पास बैठकर आग ताप रही थीं। प्रद्युम्न एक किताब हाथ में लेकर, उसमें से एक कहानी पढ़कर अम्मा और कौशल्या को सुना रहा था। कितना मधुर दृश्य था! जीवन की समस्त उत्तेजना, समस्त व्यर्थ भावनाओं से मुक्त होकर, शांत भाव से हेमंत की संध्या में माता का पुत्र-कन्या के साथ अँगीठी के पास बैठक, एक चित्त-ग्राहिणी कथा का सुनना! ऐसा मालूम होने लगा जैसे संसार में कहीं उद्वेग नहीं है, कहीं चञ्चलता नहीं है। केवल है निर्विकार आनंद, स्निग्ध स्नेह तथा स्तब्ध-शांति। अम्मा की अनिर्वचनीय मातृ-मूर्ति की जो छवि मैंने उस दिन देखी, वह अनन्य थी।

हमारे आने पर सब का ध्यान उचट गया। प्रद्युम्न बड़े उत्साह से कहानी पढ़ रहा था; उसका उत्साह भंग हो गया। उसका निराश मुख देखकर मैंने कहा—"प्रद्युम्न, कहानी पढ़ो भैया, हम भी सुनेंगे।" पर वह झेंपने लगा। मैंने शांत तथा गंभीर होकर ऐसा भाव दिखलाया, जैसे मैं वास्तव में कहानी सुनने के लिये उत्कंठित हूँ। बड़ी मुश्किल से उसे कहानी पढ़ने के लिये राजी किया।

रात को एक अस्पष्ट वेदना लेकर सोया। बहुत देर तक सोने के बाद प्रायः तीसरे पहर के समय एक ऐसा स्वप्न देखा, जिसकी अस्पष्ट छाया अभी तक मेरे हृदय में वर्तमान है। मैंने देखा कि हीरा और मैं निर्विकार

तथा निरुद्वेग भाव से, जड़ता, संकोच तथा चंचलता से रहित होकर, देश-काल, पाप-पुण्य के बंधन से मुक्त होकर, निर्द्वंद्व भाव से एक अपूर्व, संयत तथा शांत आनंद के लोक में विचर रहे हैं; कहीं किसी प्रकार की बाधा, विघ्न तथा रुकावट नहीं है; पर बलवंत मुझ से विच्छिन्न हो गया है; मैं अब उसके प्रेम का अधिकारी नहीं हूँ। स्वप्न टूटने पर ऐसा मालूम करने लगा, जैसे मैं सर्वस्व खो चुका हुँ, जैसे मैंने विश्वासघात करके अपने प्रियतम साथी को मरवा डाला है। मेरा सारा हृदय व्याकुल होकर कराहने लगा। अनुताप की वेदना मेरा मर्म विद्ध हुआ जाता था। पौ फटने पर मैं नहीं रह सका। उठकर बलवंत के कमरे में गया। वह अभी सो रहा था। मैंने उसे जगाया। उसने हड़बड़ाते हुए आँखें खोलीं और पूछा—"क्यों गोपाल, क्या है?" मैंने कहा—"दिन निकल आया है, अब कब तक सोवे रहोगे?" वह आँखें मलता हुआ उठ बैठा। बर्फ से भी ठंडी हवा के झोंके सारा शरीर कँपा रहे थे। मैं केवल एक कंबल ओढ़कर उसके पास आया था; पर उससे जाड़ा नहीं जाता था। मैं उसके साथ ही उसके लिहाफ के भीतर जाकर बैठ गया। उसके मजबूत और गठीले बदन की गरमी मेरे सारे शरीर में व्याप्त हो गयी। मैं उसके अत्यंत निटक बैठकर ऐसा मालूम करने लगा जैसे खोया हुआ अमूल्य धन मिल गया हो। वह फिर खो न जाय, यह अशंका मेरे हृदय में बनी थी, पर प्रेम की विह्लता के कारण मेरे मुँह से कुछ शब्द नहीं निकलता था।

बलवंत ने मुस्करा कर पूछा—"क्यों, आज तुम्हें इतने सबेरे उठकर यहाँ आने की क्या सूझी?" मैंने कहा—"पलँग पर लेटे-लेटे क्या करता? नींद उचट गयी थी। सोचा, तुम्हारे पास आकर गप्पें क्यों न लड़ाऊँ!" वह बेचारा क्या जानता था कि मेरे मन में क्या हो रहा था! एक घंटे तक हम लोग उसी तरह बातें करते-करते बैठ रहे। मैं मन में कह रहा था—"नहीं, बलवंत कभी मुझसे विच्छिन्न नहीं हो सकता। वह मेरे जीवन का साथी है, और चिरकाल तक रहेगा।"

आठवाँ परिच्छेद

उस दिन निश्चिंत होकर स्नान-ध्यान से निपटकर मैंने खाना खाया। इसके बाद कुछ देर आराम करके हम दोनों बंसी लेकर फिर उसी जगह पर जा बैठे, जहाँ कल मछली मारने बैठे थे। पर आज मछली मारने की बात बिलकुल झूठ थी।

ठीक नियत समय पर वही पूर्व-परिचित मूर्ति उसी रूप में आ उपस्थित हुई। आज भी वह गायों और भैंसों के साथ ग्वाले के पीछे-पीछे आयी थी। मुख-मंडल में वही पूर्व-परिचित मधुरिमा, वही स्निग्ध, सलज्ज भाव था। जब हम लोगो की ओर ताकती हुई, पशुओं को मीठे स्वर में पुचकारती और दुतकारती हुई हमारे पास से होकर जाने लगी, तो समस्त वायु मंडल में लज्जा का भाव व्याप्त हो गया। जब वह बहुत दूर निकल गयी, तो उसने सिर्फ एक बार फिरकर देखा। हम दोनों स्तब्ध भाव से बैठे रहे।

उसके चले जाने के बाद मैंने बलवंत से पूछा—"हीरा का मकान यहाँ से कितनी दूर है?" उसने कहा—"पास ही है।" मैं पूछा—"आज शाम को उसके यहाँ चलोगे?" उसने अत्यंत आश्चर्य का भाव प्रकट किया और कहा—"तुम मखौल करते हो!"

मैंने गंभीरता के साथ कहा—"नहीं, मैं सच कहता हूँ।"

वह बोला—"तो शाम को क्या करोगे, अभी क्यों न चलो?"

"वह क्या घर को वापस जा रही है?"

"हाँ।"

लगभग आध घंटे तक हम उसी जगह पर और टिके रहे। इसके बाद हीरा के घर की तरफ चले। एक दिन मैंने ही उसके यहाँ जाने से बलवंत को मना किया था! मकान के पास पहुँचकर देखा कि वह एक छोटा-सा दुध-मुँहा बच्चा हाथ में लिये खड़ी है, और उसे थपकियाँ दे देकर, लोरियाँ गा-गाकर, पुचकारती हुई सुलाने की चेष्टा कर रही है। एक अधेड़ स्त्री भी आँगन में बैठी अपने गीले बाल सुखा रही थी। पीछे मालूम हुआ कि वह हीरा की अम्मा थीं। हमें देखकर हीरा के आश्चर्य की सीमा नह

रही। वह भौंचक्की-सी ताकती रह गई। बलवंत ने उसकी अम्मा को प्रणाम किया। पर मैं अलग खड़ा रहा। मुझे बहुत संकोच हो रहा था।

हीरा की अम्मा ने बलवंत से पूछा—"तुम्हारे साथ कौन है?" बलवंत ने कहा—"वह मेरा साथी गोपालप्रसाद है।" उन्होंने मेरी ओर देख कर कहा—"आओ लल्ला, आओ।—हीरा, भीतर से कुछ बिछाने को तो ले आ।" हीरा दो कंबल ले आयी। हम लोग बैठ गये। उन्होंने बलवंत से कुशल-समाचार पूछा। मुझसे भी पूछा कि मैं कहाँ रहता हूँ, क्या करता हूँ, मेरे कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति कैसी है, इत्यादि। निर्विकार तथा उदासीन भाव से मैंने उनके सब प्रचलित नियमों के अनुसार किये गये प्रश्नों के उत्तर दिये। फिर वह कहने लगीं—"छुट्टियों में यहाँ सैर के लिए आये हो, ठीक ही किया है। यह जगह तुम्हारे पसंद आयी या नहीं?" मैंने उत्तर दिया—"बहुत अच्छी जगह है, इसमें शक नहीं।" कुछ देर तक चुप रह कर उन्होंने कहा—"हमारा बलवंत बड़ा स्नेही है, अपनी ताई को कभी नहीं भूलता। मैं सोच रही थी कि बलवंत इस बार मुलाकात करने के लिये भी नहीं आया, बात क्या है? आज तुम्हें लेकर आ ही गया। अब बतलाओ, तुम लोगों की क्या खातिर करूँ?"

मैंने मुस्कराकर कहा—"खातिर की ऐसी खास जरूरत ही क्या है, ताई? आपके दर्शन हो गये, यही हम लोगों का सौभाग्य है।" मुझे भी 'ताई' कहते सुनकर वह अपनी प्रसन्नता छिपा न सकीं और मधुर भाव से हँसने लगीं। बलवंत की अम्मा जितनी शांत तथा संयत थीं, 'ताई' को मैंने उतना ही प्रसन्न, बातूनी तथा आमोद-प्रिय पाया। पर उनका स्वभाव भी निष्कपट मालूम देता था।

आँगन के पास ही बड़े-बड़े पहाड़ी केलों के पेड़ लगे थे। बलवंत केले बहुत पसंद करता था। उसने कहा—"ताई, केले के पूए बनाकर खिलाओ तो खायँ।" वह स्निग्ध भाव से खिलखिलाकर हँस पड़ीं। हमारे दीन-हीन देश की दुःखिनी, अस्वस्था तथा पददलिता स्त्रियों में मैंने बहुत कम ऐसी देखी हैं जो आमोद की बातों में उनकी तरह दिल खोलकर सम्मिलित हो

सकती हों। उनका प्रसन्न स्वभाव देखकर मेरा सङ्कोच बिलकुल दूर हो गया। उन्होंने कहा—"जब देखो, बलवत केले की ही बात करता है। रात को भी सपने में शायद यह यही देखता है। इसकी कौन-सी बात है, मैं अभी तैयार कराये देती हूँ।"

हीरा थोड़ी देर तक खड़ी रह कर फिर भीतर चली गयी थी। इस बात का खयाल मैंने पहले नहीं किया था। उसकी अम्मा ने भीतर को आवाज लगाई—"हीरा, जरा केले तोड़कर भीतर ले जा, और उनके पूए बनाकर अपने भाइयों को खिला।"

हीरा बाहर आकर केले तोड़ने लगी। मै अब तक नहीं समझ पाया था कि केले के पूओं से इन लोगों का क्या मतलब है। पर इस संबंध में अपनी अज्ञानता प्रकाशित करने की हिम्मत भी नहीं होती थी। फिर भी मै अपना कौतूहल दमन न कर सका, और ताई से पूछा—"केले के पूओ से आपका क्या मतलब है, ताई?" फिर वही खिलखिलाता हुआ स्निग्ध मधुर हास्य! बलवत भी ठट्ठा मारकर हँसा। मैंने हीरा की ओर देखा। वह भी मुंह फेर कर मेरी ओर ताककर मद-मंद मुस्करा रही थी। मैंने सोचा, यहाँ अच्छे बेवकूफ बने! थोडी देर बाद ताई ने समझाया। गॅडेरी की तरह केले के छोटे-छोटे टुकड़े करके उनमे मसाले लगाकर वे घी में तले जाते हैं। वे टुकड़े ही केले के पूए कहलाते हैं।

हीरा केले लेकर भीतर गयी। करीब आधे घटे के बाद लौटकर दो रकाबियों में पूए लेकर आयी। रकाबियों को हमारे सामने रखकर वह अलग जाकर खड़ी हो गयी। उसकी अम्मा ने कहा—"लजाती काहे को है? दोनो घर के आदमी हैं, कोई बिराने थोड़े ही हैं। यहाँ आकर बैठ जा।" वह अपनी अम्मा के पास आकर बैठ गयी। हम पूए खाने लगे। गरम-गरम थे। मैंने एक उठाकर मुँह में डाला, और ज्योंही उसे दाँतों से दबाया, त्योंही मेरी जीभ जल गयी। असह्य यातना से मैं चिल्लाता हुआ कराह उठा! मैं न तो उसे निगल सका, न थूक सका। वह मुँह में बुरी तरह से

चिपक गया था। अंत को थूकना ही बेहतर समझा। सबको फिर एक बार हँसी का मौका देने के कारण लज्जा से गड़ा जाता था।

पूए बहुत अच्छे बने थे। मुझे हीरा की तारीफ करनी ही पड़ी। ताई ने कहा—"क्या करूँ, लड़की फूटे करम की पैदा हुई है। ब्याह होकर छः महीने भी न बीतने पाये कि दामाद जाता रहा।" वह अंचल के एक सिरे से आँख पोंछने लगीं। हम दोनों चुप हो रहे। कहते भी क्या?

हाथ-मुँह धोकर हम दोनों फिर ताई के पास जाकर बैठ गये। ताई ने कहा—"रोज आया करो लल्ला, अपना ही घर समझो।" इस पर हीरा ने कहा—"नहीं अम्मा, उनसे ऐसा न कहो। उस दिन अल्मोड़े में बलवंत भैया मुझसे मिलने आये, यह भी साथ थे। मैंने इन्हें बैठने को कहा; पर यह एकदम बिगड़ कर वहाँ से चल दिये।" मैंने उसकी बात काटकर कहा—"नहीं ताई, मैं बिगड़ कर नहीं गया; कहीं काम से जल्दी जाना था, इसलिये चला गया था। यकीन न हो, तो बलवंत से पूछ लो!"

ताई ने कहा—"नहीं लल्ला, मुझे तुम्हारी बात का पूरा यकीन है!"

मैं एक बात पर गौर कर रहा था। हीरा हम लोगों के साथ बातें तो कर रही थी; पर लौट-फिर कर उसकी दृष्टि बलवंत की तरफ ही झुकती थी। किन्तु बलवंत से वह आज कुछ भी न बोली। जब हम लौट चलने को उठ खड़े हुए, तो हीरा ने अपनी अम्मा से कहा—"बलवंत भैया से कल यहीं खाने के लिये न कहोगी?"

अम्मा ने कहा—"हाँ, क्यों नहीं! मैं तो भूल ही गयी थी। पर अकेला बलवंत कैसे आवेगा? गोपाल लल्ला भी आवेंगे। कल दिन को यहीं खाओगे, लल्ला! बलवंत, तुम भी।"

निमन्त्रण स्वीकार करके हम लौट चले। पर मेरे दिल में रह-रह कर यह बात काँटे चुभा रही थी कि हीरा ने केवल बलवंत को ही न्योता देने का प्रस्ताव किया था।

नवाँ परिच्छेद

अचानक मुझे एक दिन स्मरण हो आया कि मेरी बिरादरी के एक चचा साहब की बड़ी लड़की की ससुराल कहीं इसी तरफ है। उन्हें मैंने पहले कभी नहीं देखा था। बहुत छोटेपन में कभी देखा होगा, पर अब उसकी याद नहीं थी। ब्याह होने के बाद वह शायद एक-दो बार मैके आयी हो; पर फिर कभी नहीं आयीं। मैंने सुना था कि उनके ससुराल वाले उन्हें मैके नहीं जाने देते। सोचा, एक बार मुलाकात करने में क्या हर्ज है! फलतः खोज करके गाँव का पता लगाकर एक दिन बलवंत को लेकर चल पड़ा। दीदी ने मुझे कतई नहीं पहचाना। मेरा परिचय मालूम होने पर बड़े लाड़ से मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कुशल-समाचार पूछने लगीं, और टपाटप आँसू गिराने लगीं! सभी जानते हैं कि ऐसी स्थिति में पुरुषों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। दिलासा देने की हिम्मत नहीं रहती। दुःख, शोक, निराशा तथा विषाद की प्रगाढ़ छाया मैंने उनके चेहरे पर अंकित पायी। ऐसा मालूम होता था, जैसे एक मुहूर्त के लिये भी इस लांछिता रमणी ने कभी निष्कलुष आनंद का अनुभव नहीं किया है। किस विभीषिका-पूर्ण लोक में वह रहती होंगी, इस बात का खयाल करते ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये। अपने बाबूजी, अम्मा तथा भाइयो की कुशल पूछ कर वे अपने दुःख की कहानी सुनाने लगीं। दिन-भर उन्हे घर का काम करना पड़ता है, बीच में दो-चार मिनट के लिये दम लेने तक की फुर्सत नहीं मिलती। अच्छी परवरिश के विना छः महीने के भीतर ही एक गाय और एक भैंस मर गयी हैं। कोई दूसरा आदमी काम करने वाला नहीं है। अपने आलसी पति के नीच, पाशविक व्यवहार के संबंध में जो इंगित उन्होंने दिया, उससे पत्थर का दिल भी पिघल जाता, यह मैं शपथ-पूर्वक कह सकता हूँ। एक लड़की हाल ही में मैलेरिया बुखार से मर गयी थी। दूसरी पाँच साल की है। वह भी बीमार ही रहती है। काम की भीड़ से दम लेने की फुरसत उन्हें नहीं मिलती। अपना दुखड़ा सुनाते-सुनाते प्रबल उच्छ्वास के कारण वह फूट-फूट कर रोने लगीं, और मुझे

गले लगाकर कहने लगी—"लल्ला, तेरा मुँह बड़े भाग से देख पायी हूँ, तू जीते रहना। मैं अब जीना नहीं चाहती, पर मर भी नहीं पाती। मेरा खयाल काल को भी नहीं है। इस जन्म में अब काका और अम्मा का मुँह कैसे देखूँगी!" उनका क्रंदन इतना वास्तविक तथा हृदय-विदारक था कि मैं नहीं रह सका। मेरी आँखें भी भर आयीं। मैंने सिर नीचा कर लिया, जिससे वह मेरी ओर न ताक सकें।

वह मुझे किसी तरह नहीं छोड़ना चाहती थीं। पर मैंने हठ किया, और बलवंत से माँगा हुआ दस रुपए का नोट उनके हाथ में रखकर बाहर चला आया।

एक प्रचंड आतंक के भाव से मेरा सारा हृदय आक्रांत हो गया था। मैं सोचने लगा कि दुनिया में अभी बहुत कुछ देखना बाकी है। अभी मुझे वास्तविक जीवन के लक्षांश का भी अनुभव नहीं हुआ है। अपनी गति-हीनता को मैं संसार का सबसे बड़ा दुःख समझे था; पर इस असहाय नारी के आर्त-नाद से मेरे हृदय का प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र सचेतन हो उठा। मुझे मालूम हुआ कि दीदी के दुःख की विभीषिका के सामने मेरा दुःख नाचीज है। हीरा के जिस वैधव्य पर मुझे इतना तरस आता था, वह क्या इससे भी अधिक दुःख-प्रद होगा? यदि उसका पति जीता होता, तो कौन कह सकता है कि वह भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार न करता? कौन कह सकता है कि उसे भी इसी प्रकार जीवन का कठोर भार न ढोना पड़ता?

फिर मैंने विचार किया कि रुद्र की इतनी विभीषिका देखकर भी यदि मैं तुच्छ स्वप्नों में डूबा रहा, तो मुझपर धिक्कार है। हीरा बलवंत को चाहती है और बलवंत हीरा को चाहता है, तो चाहने दो। मुझे इन बातों से कुछ सरोकार नहीं। भगवान् सब का भला करें। पर मैं अनाथ लड़का अपने कठोर दुःखों को भूलकर इस प्रकार विलासिता के स्वप्नों में डूबा रहूँ, यह ठीक नहीं।

जब हम लोग मकान पर पहुँचे, तो मैंने देखा कि हीरा भी वहीं आयी

हुई है, और कौशल्या के साथ हँस-हँसकर अत्यंत उल्लास प्रकट करती हुई बातें कर रही हैं। हमें देखकर उसका उत्साह अधिक बढ़ गया। आज उसके चेहरे पर संकोच का लेश भी मैंने नहीं पाया। फिर से एक अज्ञात उमंग के अदमनीय भाव ने मुझे धर दबाया। पर मैंने आज बहुत कड़वा रस पान कर रखा था। इसलिये मेरे ऊपर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। कौशल्या ने पूछा—"कहाँ गये थे, गोपाल भैया?"

मैंने कहा—"बहुत दूर गया था, बहन! बहुत थक गया हूँ, कुछ चाय-वाय का इंतजाम करो।"

"मैं अभी जाती हूँ।" कहकर कौशल्या भीतर चली गयी। हीरा ने पूछा—"बलवंत भैया भी आपके साथ गये थे?" मैंने कहा—"हाँ।" बलवंत ने कहा—"आज रास्ता भूलकर कैसे यहाँ आ पड़ी हो, हीरा?" हीरा ने उत्तर दिया—"बहुत दिनों से कौशल्या के साथ भेंट नहीं हुई थी।" प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने सिर जरा नीचे कर लिया था। धीरे-धीरे उसकी निर्द्वंद्वता फिर से संकोच में परिणत हो गयी। मैंने देखा कि मेरा वहाँ खड़े रहना उचित नहीं। मैं अम्मा से कुछ पूछने के बहाने भीतर चला गया।

कैसी भूल, कैसी भयंकर भूल थी! अंतस्तल में सब कुछ समझता हुआ भी मैं अंधा बना हुआ था। सब कुछ जानते हुए भी न-मालूम मेरे हृदय के किस अलक्षित प्रांत में यह विश्वास छिपा हुआ था कि हीरा से मेरा प्रेम निभ सकता है! आज मेरी आँखों के सामने से पर्दा बिलकुल हट गया। मैंने अपनी दुर्बलता को धिक्कारा, और अपनी अनधिकार-चेष्टा तथा अनुचित आशा के मूल में कुठाराघात किया। जिस दिन अल्मोड़े में पहले पहल इस देवी को देखकर संध्या के समय मकान को लौटने पर पवित्र आनंद के निष्कलुष स्रोत में मैं बहा था, उस दिन की भावनाओं को स्मरण कहता हुआ मैं ग्लानि से जर्जरित होने लगा। मैं मन में कहने लगा—"भाई बलवंत! तुम भाग्यवान् हो। तुम हीरा के निष्कलुष कैशोर

हृदय के उल्लसित प्रेम के अधिकारी हो, क्योंकि तुम चरित्रवान्, संशयहीन और निष्कपट हो। मैं अधम तुमको कोसता हुआ तुमसे आगे पैर बढ़ाना चाहता था! नहीं भाई, अब बहुत हुआ। मुझे क्षमा करो। मैं वही मातृ-पितृ-हीन अनाथ लड़का हूँ। तुम्हारी अम्मा का मधुर स्नेह मैंने पाया है, यही मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है। तुम देवता हो, मैं तुम्हारा प्रेम पाने का भी अधिकारी नहीं हूँ।"

* * * *

छुट्टी के अभी पंद्रह-बीस दिन बाकी थे। पर मैंने अब वहाँ अधिक रहना उचित नहीं समझा। दूसरे दिन मैंने बलवंत से जाने का प्रस्ताव किया। मैंने कहा—"मुझे छुट्टी खतम होने के पहले ही रानीखेत जाकर चचा से बहुत जरूरी काम से मिलना है। तुम यहीं रहो, स्कूल खुलने पर मुलाकात हो ही जायगी।" उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"नहीं भाई, तुम झूठमूठ बातें बनाते हो। तुम्हारा कोई काम नहीं है!" बड़ी मुश्किल से उसे विश्वास दिलाया। अम्मा को भी बहुत समझ-बुझाकर शांत किया। मैं अपनी मा, भाई और बहन को छोड़कर फिर अपने चिरांधकारमय कूप में निमज्जित होना चाहता था। मैंने अच्छी तरह देख लिया था कि जीवन की आनंदमय, उल्लासपूर्ण उज्ज्वलता का मैं अधिकारी नहीं हूँ। मेरे जाने का प्रस्ताव सुनकर कौशल्या और प्रद्युम्न के चेहरे पर सबसे अधिक उदासी छाई हुई मालूम हुई। इन दो स्नेह-शील भाई-बहन के प्रेम से भी वंचित होना पड़ेगा, यह सोचकर मेरा दिल भर आया।

दिन-भर मुझे ऐसा मालूम होने लगा, जैसे मेरे हृदय में भरा हुआ मधुर स्नेह का रस किसी अज्ञात छिद्र से धीरे-धीरे टपकता जाता है। ज्यों-ज्यों वह खाली होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें उच्छ्वास के नीरस वाष्प से आकुल बयार अपना अधिकर जमाती जाती है।

दूसरे दिन सुबह को खाना खाकर चलने का इरादा कर रखा था। हीरा से मिलने का बिलकुल विचार नहीं था। पर शायद उसे मेरे जाने

की बात मालूम हो गयी थी। सुबह के वक्त मेरे जाने के पहले वह स्वयं चली आयी। आज वह कितनी सौम्य, संयत तथा शांत बनी हुई थी! कितना विषाद-पूर्ण मधुर स्नेह वह अपने साथ लायी थी! और मैं इतना नीच निकला कि बिदाई के समय उसके साथ मिलना भी नहीं चाहता था!

जाने के पहले अम्मा को प्रणाम किया। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर आंतरिक स्नेह से मेरे गालों पर हाथ फेरकर कहा—"आते-जाते रहना लल्ला! हम लोगों को भूल न जाना।" प्रद्युम्न मेरे पीछे उदास भाव से खड़े होकर मेरे कोट का एक सिरा पकड़े था। मैंने उससे कहा—"प्रद्युम्न भैया, अच्छी तरह से रहना, अब हमें देर होती है।" उसने कुछ न कहकर कोट छोड़ दिया। बलवंत चुप था; पर उसकी आँखें मुझसे ऐसा कहती हुई मालूम देती थीं कि "तुम्हारा-हमारा बिछोह कभी नहीं हो सकता, तुम चाहे कैसी ही चालें चलो।" मैं उसे देखकर मुस्कराने लगा।

हीरा से क्या कहना चाहिए, कुछ समझ में न आया। पर कुछ न कहकर उदासीनता का भाव दिखलाना निष्ठुर बर्बरता होगी, यह सोचकर मैंने कहा—"हीरा, तुम और कौशल्या मेरी सगी बहन हो, और प्रद्युम्न मेरा सगा भाई है। इस नये नाते को भूल न जाना। अपने सनकी भैया को याद करते रहना, बहन!"

हीरा ने स्निग्ध दृष्टि से मुझे ताककर शांतभाव से उत्तर दिया—"हाँ, भैया!"

तारा

जब मैं इलाहाबाद में इन्टरमीडिएट में पढ़ने के लिए आया तब कहाँ ठहरना चाहिए, इस संबंध में कुछ भी निश्चय न कर सकने के कारण अन्त को मदनमोहन बाबू के मकान में ठहरना ही मैंने उचित समझा। वह हम लोगों के कोई विशेष नातेदार नहीं थे। पर वह मेरे बाबूजी के साथी थे। इन्ट्रेन्स क्लास तक दोनों ने साथ ही पढ़ा था। इन्ट्रेन्स पास करके बाबूजी किसी स्कूल के मास्टर नियुक्त हो गये थे। पर मदनमोहन बाबू ने आगे पढ़ना ही उचित समझा। प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास करके वह इलाहाबाद में प्रोफेसरी पा गये। बाबूजी की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होंने अम्माँ के लिए एक समवेदना-सूचक पत्र भेजा था। परिचय का यही एक सूत्र पकड़कर मैं उनके मकान में उतरा था। सोचा था, यदि वह मेरा परिचय सुनकर अवज्ञा प्रकाश करेंगे तो कालेज के किसी होस्टल में आश्रय लूंगा। किन्तु उन्होंने मेरा परिचय प्राप्त होते ही आन्तरिक प्रसन्नता प्रकट की, और पहले पत्र मिलने से स्वयं स्टेशन में आकर मुझसे मिलते, यह जतलाकर वह कुशल-समाचार पूछने लगे। उनके स्वभाव का माधुर्य देखकर मैं मुग्ध हो गया और मन ही मन मैं उन्हें सहस्र धन्यवाद देने लगा। होस्टल के खर्च का क्या उपाय होता, यह मैं ही जानता हूँ।

मदनमोहन बाबू की स्त्री जैसी रूपवती थीं, वैसी सुशील भी थीं। पड़ोस के सब लोग उन्हें भक्ति तथा स्नेह की दृष्टि से देखते थे। कच्ची उम्र में ही एक कन्या प्रसव करके सूतिकागार में ही उनकी मृत्यु हो गयी थी। मदनमोहन बाबू उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। स्त्री की मृत्यु के समय पूर्ण युवा होने पर भी उन्होंने फिर द्वितीय विवाह नहीं किया। लड़की के लिए उन्होंने एक धाई नियुक्त की। जब वह चार साल की हो गयी तब धाई को छुट्टी मिल गयी। ये सब बातें मैंने लोगों के मुँह से

सुनी थीं। जब मैंने इलाहाबाद आकर पहली बार उनकी लड़की को देखा तब वह दस साल की हो चुकी थी। मुझे देखते ही वह आँखें फाड़-फाड़कर अत्यन्त कौतूहल के साथ मेरी ओर ताकती रह गयी। वे कैसी सुन्दर, उज्ज्वल तथा स्निग्ध आँखें थी! देखकर मेरे मन में एक अपूर्व, मधुर भाव का संचार हुआ। मन्द मन्द मुस्कराते हुए भीतर जाकर मैंने मदन-मोहन बाबू को प्रणाम किया। लड़की की विस्मित आँखों की सुतीक्ष्ण दृष्टि मेरे पीछे लगी हुई थी।

सन्ध्या के समय जब बत्ती जलाई गयी तब वह किताबों का एक ढेर लेकर मेरे पास आकर बैठ गयी। मेरे साथ हेलमेल बढ़ाने के लिए मैंने उसे विशेष उत्सुक पाया। मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?" उसने बाँय पाँव का अँगूठा दाहिने हाथ से थामकर मीठी हँसी हँस कर कहा—"सांझ होते ही आसमान में क्या टिमटिमाने लगता है?" उसके प्रश्न का आशय समझ कर मैंने उत्तर दिया—"तारा।" उसने कहा—"मेरा नाम भी वही है।" ठीक तारों के समान उसकी दो आँखें भी अत्यन्त स्निग्ध तथा तरल उज्ज्वलता से टिमटिमा रही थीं। मैंने सोचा, इस लड़की को किसने सिखा दिया है कि जो तारा संध्या को आसमान में टिमटिमाता है उसके साथ इसका एक विशेष सम्बन्ध है? वह क्या अपने अन्तस्तल में अनुभव करती है कि तारे के साथ उसका केवल नाम का ही नहीं, हृदय का भी एक निगूढ़ सम्बन्ध है? उसे खिझाने के लिए मैं अपना रचा हुआ एक गीत गाने लगा—

मेरे मानस में प्रतिबिम्बित कब से है यह तारा!

यद्यपि इसमें खीझने की कोई बात नहीं थी, तथापि मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि और कोई लड़की होती तो इससे खीझ उठती। किन्तु तारा गीत सुनकर कुछ देर तक विस्मित दृष्टि से मेरी ओर ताक कर न मालूम क्या सोचती रह गयी।

तारा का स्निग्ध-सौन्दर्य ऐसा अनुपम था कि उसके प्रति उदासीनता का भाव प्रकट नहीं किया जा सकता था। उसकी आँखों के भीतर से

एक अपूर्व ज्योति प्रतिक्षण स्तिमित तारका के आलोक की तरह विकीरित होती रहती थी। उससे अनन्त का क्या आभास झलकता था, यह मैं कह नहीं सकता। किन्तु उसके समस्त सौन्दर्य में केवल उसी ने मुझे आरम्भ से ही मुग्ध कर रखा था। एक ही दिन में हम दो जनों के बीच घनिष्ठता हो गयी। रात को वह मेरे पास ही सोने के लिए जिद करने लगी। और दिनों वह अपने बाबूजी के साथ सोती थी।

घर पर मेरी छोटी-सी बहन किशोरी भी मेरे पास सोने के लिए सदा उत्सुक रहा करती थी। परीक्षा के दिन निकट आने पर मैं रात को कुछ देर में सोता था। अम्मा उससे कितना ही समझा कर कहती थीं—"किशोरी, चल मेरे साथ सो रह, गोकुल को इम्तहान देना है, उसे पढ़ने दे।" पर वह किसी तरह भी मुझे नहीं छोड़ना चाहती थी। उसे एक किनारे लिटाकर जब मैं किताब पढ़ने बैठता तब वह झट कहती—"भैया, किताब न पढ़ो, एक कहानी सुनाओ।" ऐसा कहकर मेरी खुली हुई किताब वह जबरदस्ती बन्द कर देती थी। मेरे घर से विदा होते समय वह सिसक सिसक कर रोयी थी। उसकी याद आने से मेरी आँखें डबडबा आयीं।

उस दिन से तारा मेरे पास ही सोने लगी। किशोरी की तरह कहानी न सुनाने से वह भी बहुत रूठती थी। पर कहानी आरम्भ होते ही उसकी आँखें झपने लग जातीं और वह सो जाती थी। एक दिन भी उसने कहानी अन्त तक न सुनी होगी। उसका स्वभाव अत्यन्त चंचल था। एक स्थान पर वह कभी स्थिर होकर नहीं बैठ सकती थी। जब वह किताब पढ़ने बैठती तब दो एक पन्ने उलट कर उठ खड़ी होती और पड़ोस के बालक-बालिकाओं के साथ खेलने के लिए चली जाती। पर वहाँ भी चित्त स्थिर न रख सकने के कारण वापस आकर एक कापी में गड़बड़झाला न मालूम क्या लिखती, कुछ समझ में न आता था। उसमें भी मन नहीं लगा सकती थी। कभी अचानक एक कहानी की फरमायश करती, कभी यों ही बैठकर कुछ न कह कर गंभीर भाव से मेरे मुँह की ओर ताक कर न मालूम क्या सोचती। एक दिन वह इसी तरह मेरी गोद

में बैठी थी। अचानक न मालूम क्या सोचकर कह उठी—"भैया, तुम्हारी आँखे बड़ी अच्छी हैं, तुम देखने में बड़े सुन्दर हो न ?" उसकी बात सुन कर मैं जोर से हँस पड़ा। बाद को कृत्रिम गम्भीरता का भाव प्रकाश करके मैंने कहा—"मैं क्या तुम से भी ज्यादा सुन्दर हूँ ?" उसने कहा—"मैं क्या खाक सुन्दर हूँ ? बाबूजी कहते हैं कि मेरी नाक चिपटी है। अच्छा तुम्हीं बतलाओ न, क्या मेरी नाक चिपटी नहीं है !" मैं फिर जोर से हँस पड़ा और बोला—"हाँ, है तो ! तुम्हारे बाबूजी झूठ नहीं कहते !" कुछ देर तक वह उदास होकर चुप बैठी रही। फिर कहने लगी—"सुन्दर होने से क्या होता है, गुण चाहिए। सुन्दर तो एक गुड़िया भी दिखलाई देती है। पर गुण का आदर सभी करते हैं।" ऐसा कहके वह अपने बाबूजी का सिखाया हुआ एक संस्कृत-श्लोक सुनाने लगी। मैंने कहा—"पर तुम में गुण भी तो कोई नहीं है। तुम क्या सचमुच अपने को बड़ी गुणवती समझती हो ?" मेरी कटूक्ति सुनकर एक मुहूर्त्त में उसका सारा मुख विवर्ण हो गया। इतना बड़ा निष्ठुर आघात पाने की प्रत्याशा वह शायद स्वप्न में भी मुझसे नहीं कर सकती थी। अपने व्यंग का परिणाम देख कर मैं जरा घबरा गया। उसके सुकुमार गर्व पर हलका सा आघात करने की लालसा मेरे मन में संभवतः कुछ थी, पर परिणाम इतनी दूर तक पहुँचेगा, यह बात मैंने नहीं सोची थी। वह सिर नीचा किये बैठी रही। मैं उसे हँसाने के लिए गुदगुदाने लगा। वह अपनी समस्त शक्ति लगाकर प्रतिरोध करने लगी। यहाँ तक कि दो एक बूँद आँसू उसने वास्तव में गिरा ही दिये। मैं समझ गया कि बहुत रूठी है। तारा और चाहे कुछ भी हो, बड़ी मानिनी लड़की थी। मैंने उसे छोड़ दिया। वह दौड़कर भागी। दस मिनट बाद वह फिर वापस चली आयी। इस बार मैंने मुँह फेर लिया। उसे खिझाने के लिये मैं उसके मौसेरे भाई श्याम के साथ खेलने लगा।

श्याम की मां विधवा होने के समय से मदनमोहन बाबू के ही पास रहती थीं। उनके लिए मैके में आश्रय न होने के कारण मदनमोहन बाबू ने उन्हें अपने पास बुला लिया था। घर का सारा प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में था।

श्याम मां का बड़ा दुलारा लड़का था, इससे वह बड़ा शरारती हो गया था। वह तारा से एक साल छोटा था। उसकी मां तारा को अपनी आँखों का काँटा समझती थीं, यद्यपि मदनमोहन बाबू के सामने बड़े स्नेह के साथ उसे पुचकार कर कहती थीं—'तारा हमारी बड़ी भगवती लड़की है। क्या करूँ, कुछ खाती ही नहीं। दिन दिन सुस्त होती जाती है। कितना कहती हूँ, सुबह उठकर दो पराँठे खा लिया कर, पर मेरा कहना क्यों मानने लगी, कहती है बासी पराँठे मैं नहीं खाऊँगी। पर मेरा श्यामू उठते ही हाथ-मुँह धोकर खाने बैठ जाता है। इसी लिए देखो न, पहलवानों की तरह कैसा तगड़ा दिखलाई देता है!"

जो भारतीय नारी अपने लड़के के स्वास्थ्य की प्रशंसा खुले दिल से सबके सामने कर सके उसकी सहृदयता के सबंध में संदेह नहीं होना चाहिए। तथापि श्याम की मां का स्वभाव ऐसा जटिल रहस्यमय था कि उसके सम्बन्ध में सहज में कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती। मैं स्पष्ट देखता था कि तारा उन्हें मातृस्थानीया समझ कर बुद्धि के जोर से उन्हें प्यार करना चाहती थी, पर उसका हृदय बार-बार उनके प्रति विमुख होकर धक्के खाकर लौट आता था।

श्याम उसे प्रतिक्षण गालियाँ देता था, मारता था, उसके पास उसके बाबूजी की खरीदी हुई कोई चीज देखकर ईर्ष्या की ज्वाला से उसे तंग करता था। पर मौसी सभी बातों में उलटे तारा को ही दोषी बतलाती थीं, और मदनमोहन बाबू से उसकी 'शरारत' की नालिश करती थीं। तारा यदि श्याम को कुछ बुरा भला कहती तो वह झट रोने लग जाता। वह मौसी के और बाबूजी के भय से उसे विलायती मिठाई देकर, बैलून देने का लोभ दिखला कर, मीठी-मीठी बातें करके हँसाने की चेष्टा करती थी। मदनमोहन बाबू अपनी भार्या की ज्येष्ठा भगिनी को अपनी लड़की की परम मंगलाकांक्षिणी समझते थे। मां-बेटे का शासन लड़की के प्रति भीतर ही भीतर कितना प्रचण्ड हो उठा है, यह बात वह नहीं जानते थे।

तारा ने जब देखा कि मैं उससे नहीं बोलना चाहता तो वह एक दो

बार मेरी ओर ताककर आँख फिरा कर भीतर चली गयी। फिर आयी, फिर भीतर चली गयी। इसी प्रकार उसका आना-जाना जारी रहा। मेरे साथ बातें करने के लिए उसने कितनी ही चेष्टाएँ की, पर मैं किसी उपाय से भी विचलित नहीं हुआ।

संध्या को मदनमोहन बाबू किताब लेकर उन दो जनों को पढ़ाने के लिए बैठे। कुछ देर तक पढ़ाकर वह संध्या पूजा करने के लिए प्रस्तुत हुए और मुझसे उन्हें पढ़ाने के लिए कहने लगे। तारा झट बोल उठी—"नहीं बाबूजी, मैं तुम्हीं से पढ़ूँगी, और किसी के पढ़ाये मैं नहीं पढ़ूँगी।" उसके बाबूजी ने कहा—"यह क्यों बेटी, तेरे भैया ने तो मुझसे भी ज्यादा किताबे पढ़ी हैं। वह खूब अच्छी तरह से पढ़ावेगा।" पर तारा केवल "न, न" कहने लगी। मदनमोहन बाबू हँसकर, और कुछ न कहकर भीतर चले गये। उनके चले जाने पर मैं ऊपर कौच पर बैठ गया। तारा नीचे बैठकर किताब खोलकर पढ़ने का भाव दिखलाने लगी। कुछ दर तक चुप रहकर मैंने श्याम से कहा—"आज तू मेरे साथ सोवेगा, श्याम?" तारा के साथ आज मैंने बोलना छोड़ दिया है, यह देखकर वह परम आह्लादित हो रहा था। उसने कहा—"मुझे सचमुच अपने साथ सोने दोगे, भैया?" तारा अब न रह सकी। समस्त शक्ति एकत्र करके नीचे की ओर देखकर उसने कहा—"अपने आप ही झूठमूठ बातें बनाकर मुझे खिझाते हैं और अब अपने आप बोलना बन्द किये हैं।" मैं चुप हो रहा। वह फिर कहने लगी—"मैं भी अगर बोलूँगी तो देख लेना।" मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ देर तक चुप रहकर उसने फिर कहा—"मेरा अपना कौन है जो मुझसे बोलेगा! मेरी अम्मा नहीं है, बहन नहीं हैं, भाई नहीं है, मैं मर जाऊँगी तो सभी सुख से—" रुद्ध अश्रु के दबाव से वह बात भी पूरी न कर सकी। मै अधिक न रह सका। मैंने कहा—"पगली कहीं की, मैं तो हँसी कर रहा था। अच्छा, हो गया, अब बस करो!" कहके उसका हाथ पकड़कर उसे खींचकर मैंने गोद में बिठा लिया। उसने यद्यपि मुँह से "छोड़ो" कहा, पर बिलकुल प्रतिरोध नहीं किया।

मैंने ज्योंही उसकी ठुड्डी पकड़कर मुँह ऊपर को किया, त्योंही वह मेरी गोद में मुँह छिपाकर फूटफूट कर रोने लगी।

* * * *

इसी तरह दिन दिन उसके साथ मेरी घनिष्ठता बढ़ती जाती थी। तमाम दिन वह मुझे "भैया! भैया!" कहकर व्यस्त किए रहती थी। "भैया, एक कहानी सुनाओ न!" "भैया, मेरे बेलून में हवा भर दोगे?" "भैया, आज तुम्हारे साथ घूमने जाऊँगी।" "भैया, हारमोनियम बजाऊँ, सुनोगे?" इसी प्रकार की कितनी ही बातें करती रहती थी। दिन भर वह क्या सोचती रहती थी, कुछ समझ में नहीं आता था। खेलने में उसका जी बिलकुल नहीं लगता था, पर काम भी वह कुछ नहीं करती थी। ऐसी चंचल लड़की मैंने कभी नहीं देखी। केवल बाहर-भीतर आती जाती रहती थी। उसकी आँखें प्रतिक्षण किस भावना से घूर्णमान रहती थीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसा मालूम पड़ता था मानो वह कुछ नहीं देख रही है, केवल शून्य की ओर टकटकी लगाये हुए है। उन लोगों की पाली हुई मैना उसकी असली सङ्गिनी थी। मैना के पास खड़ी होकर वह अंडबंड न मालूम क्या बकती, कुछ मालूम नहीं पड़ता था। उसे देखते ही मैना कहती—"तारा, ओ तारा!" तारा कहती—"हाँ!" मैना प्रत्युत्तर में कहती—"तू मर जा!" वह "चुप रह हरामजादी!" कहकर खिलखिला-कर हँस पड़ती।

जिस दिन मैं सन्ध्या को उसे पार्क की तरफ सैर करने के लिए ले चलता, उस दिन उसके आनन्द तथा आह्लाद का ठिकाना न रहता। वह चलते चलते मुझसे नाना प्रकार की बातें पूछती। रास्ते में कोई नयी चीज या नयी घटना देखती तो उसका कौतूहल शान्त करना कठिन हो जाता था। जब तक उसके सम्बन्ध में वह सभी बातें अच्छी तरह से मालूम न कर लेती तब तक प्रश्न पर प्रश्न करती जाती। पार्क के किसी निर्जन कोने में एक बेंच का आश्रय लेकर हम दोनों बैठते थे। इस निर्जन स्थान में, निस्तब्ध निबिड़ संध्या में, उसे क्या सुख प्राप्त होता था वही जाने। घर लौटने के

समय आकाश में जब तारे दिखलाई देते थे तो मैं ग्रह-नक्षत्रों के संबंध में अनेक बातें उसे बतलाकर उसका कौतूहल और अधिक उभाड़ने कीचेष्टा करता था। मैं कभी कभी उससे आकाश की ओर इंगित करके मुस्कराकर पूछता था—"इतने तारों में तुम कौन तारा हो?" यह पश्चिम की तरफ उज्ज्वल शुक्र तारा को दिखाकर मेरी ही तरह मुस्कराकर जवाब देती थी—"मैं वह हूँ।"

दशहरे की छुट्टियों में मैं घर जाने की तैयारी करने लगा। मैंने तारा से कहा—"तारा, तू भी मेरे साथ चलेगी? एक महीने के बाद वापस चले आवेंगे।" उसने ऐसी धीमीं आवाज में उत्तर दिया कि कोई दूसरा सुन न सके—"भैया, मेरी बड़ी इच्छा है, पर बाबूजी नहीं जाने देंगे। पहले उन्हें राजी करो।" में सोचने लगा, इस लड़की ने कैसे पहले से ही इस बात का अनुमान कर लिया कि उसके बाबूजी उसे जाने नहीं देंगे? मैं समझ गया कि मैं एक गरीब घर का लड़का हूँ और वह एक धनी पिता की लाड़ली लड़की है, यह प्रभेद वह समझ गयी है। धनी परिवार के उद्धत गर्व के प्रति मेरे मन में जो एक सहज विद्वेष का भाव छिपा था वह अकस्मात् जागरित होकर भीतर ही भीतर इस असहाय लड़की को कोसने लगा।

जिस दिन मैंने घर जाने का निश्चय कर रखा था उसके पहले दिन तारा इतनी अन्यमनस्क बनी हुई थीं कि मै उसकी ओर ताक भी नहीं सकता था। उस दिन रात को वह मेरे साथ सोयी भी नहीं। उसका अभिमान इतना प्रचण्ड था! अपने घर को मैं उससे अधिक प्यार करता हूँ, यह बात वह किसी तरह भी नहीं सह सकती थी।

* * * *

इस प्रकार उसके साथ मेरा पहला साल बीता। इसके बाद धीरे धीरे और भी पाँच साल बीत चले। मेरे एम० ए० का फाइनल इम्तहान देने के कुछ पहले ही तारा का विवाह हो गया था। जिसके साथ विवाह हुआ था वह हमारे ही दर्जे का लड़का था। उसका नाम माताप्रसाद था।

लड़का बड़ा शान्त, शिष्ट तथा सरल प्रकृति का था। किसी के साथ वह बहुत मिलता-जुलता नहीं था। अपने कालेज के किसी एक होस्टल के कविसम्मेलन के अवसर पर अपनी लिखी हुई एक अंग्रेजी कविता पढ़कर मैंने एक मेडल पाया था, तब से वह मेरा भक्त बन गया था। मैं हमेशा उसे अवज्ञा की दृष्टि से देखा करता था, पर तारा के विवाह के समय से उसके प्रति एक प्रकार का स्नेह मेरे मन में उत्पन्न हो गया।

विवाह के दिन मैंने तारा को देखा था। एक प्रकार की अपूर्व, मधुर तथा स्निग्ध श्री से उसका सारा मुखमंडल भरा हुआ था। इसके बाद दो साल तक उसे मैंने नहीं देखा। बी० ए० पास करके घर में बैठकर भविष्य के सम्बन्ध में अनेक संकल्प-विकल्प कर रहा था। दो साल के बाद अचानक एक दिन सुनने में आया कि तारा ससुराल से कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद आयी है। उसका स्वभाव अब कितना बदल गया है, यह जानने के लिए मेरे मन में उत्सुकता का हुई। आगे-पीछे की कुछ भी बात न सोच कर मैं शीघ्र ही इलाहाबाद जा पहुँचा।

इलाहाबाद पहुँचकर जब मैं भीतर तारा से मिलने गया तब मुझे देख कर उसने जरा सा घूँघट काढ़ लिया। विवाह के दिन के बाद आज पहली बार उसको मैंने देखा था। तबसे कैसा आश्चर्यजनक परिवर्तन उसके चेहरे में आ गया था! एक अव्यक्त अतीन्द्रिय मायावी रहस्य से उसका सौन्दर्य आच्छन्न हो रहा था। मैंने कहा—"मुझे देखकर घूँघट कैसा, तारा? क्या मैं बाहर का आदमी हूँ?" "नहीं, नहीं, मैंने घूंघट कहाँ काढ़ा?" कह कर अधिकतर लज्जित होकर उसने घूँघट जरा ऊपर को हटा लिया। मैंने देखा कि उसके हृदय के प्रान्त-प्रान्त में एक अनिर्वचनीय करुण-रस की स्निग्ध धारा प्रवाहित हो चली है। उसकी स्नेह-सरस तथा करुणा-विह्वल आँखों में एक अपूर्व स्निग्ध गम्भीरता का भाव वर्तमान था। मेरी वैसी चंचल बहन इतनी गम्भीर हो गयी है, यह देख कर श्रद्धा तथा स्नेह से मेरा हृदय पुलकित हो उठा। पहले वह संकोच के कारण रुक-रुक कर बातें कर रही थी। पर धीरे-धीरे उसका साहस फिर आया और वह द्विधा-हीन

होकर एक-एक करके अपनी ससुराल की सभी बातें मुझे सुनाने लगी। बहुत सी बातें उसने कहीं। पर मैं इतना ही ग्रहण कर सका कि उसकी सास और जेठानी का व्यवहार उसके प्रति अच्छा नहीं है। अपने पति के सम्बन्ध में बड़ी मुश्किल से वह इतना इंगित कर सकी कि वह बहुत सरल प्रकृति का आदमी है। धनी कुटुम्ब में उत्पन्न होकर भी उसे सुख नहीं है। वह अपना अधिकार समझ कर उसका उपयोग करना नहीं जानता। मैं पहले से ही बहुत कुछ बातें उसके सम्बन्ध में जानता था, इसलिए चुप रहा।

ससुराल जाने के समय अनेक लड़कियाँ सुख-स्वप्नों में विभोर रह कर, बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधकर, आकाश-कुसमों की माला गूंथने में लगी रहती हैं। तारा यद्यपि अपनी अवस्था के अनुपात से बहुत अधिक बुद्धिमती थी, तथापि शायद आरम्भ में उसने भी अनेक रंगीन कल्पनाओं का जाल बुनना चाहा था। पर उसका उत्साह जड़ में ही सूख गया था। फालतू स्वप्नों में वह अपने को अधिक जड़ित न कर सकी। मैंने देखा कि ससुराल से वह एक भीषण पत्थर का भार लेकर आयी है। उस पत्थर के दबाव से उसकी आशा-लता भी मुरझा गयी थी और निराशा का सुख भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

कुछ भी हो, तारा का वास्तविक स्वरूप मैंने आज देखा। मैंने देखा कि उसकी बुद्धि और ज्ञान दिन-दिन अब परिपक्वावस्था को प्राप्त होते जाते हैं। इतनी छोटी अवस्था में ही वह संसार को धीरे-धीरे समझने लगी है। पर हाय! संसार उसे कब समझेगा? जितने दिनों के लिए वह अपने बाबूजी के पास आयी थी, उतने दिनों के लिए उसने घर का सब प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया। वह अब अच्छी तरह से समझने लगी थी कि उसकी मौसी के प्रबन्ध में उसके बाबूजी को अच्छी तरह भोजन भी प्राप्त नहीं होता, यद्यपि घर में कभी किसी चीज की कमी नहीं रहती थी। अतिथि-अभ्यागत का अच्छी तरह से सत्कार भी नहीं होता था। उसकी मातृहीनता का दुःख अब दसगुना अधिक बढ़ गया। पहले वह दुख उसको अपने लिए

था । अब उसने देखा कि अम्मा की मृत्यु ने बाबूजी का समस्त जीवन ही नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है । गृह के प्रबन्ध में उसके समान भावुक लड़की भी इतनी दक्ष हो सकती है, यह बात मेरे लिए कल्पनातीत थी । घर का सब काम वह खूब अच्छी तरह से निभाती थी, इसमें सन्देह नहीं; पर सभी कामों में वह भयंकर रूप से उन्मन रहती थी, यह बात अच्छी तरह से मेरे ध्यान में आ रही थी ।

अवकाश के समय वह पड़ोस के बाल-बच्चों को गोद में लेकर उन्हें खेलाती थी । जो जिद्दी लड़का अपनी माता की गोद में भी शान्त नहीं होता था वह भी उसकी गोद में आकर न मालूम किस माया के बल से शान्त हो जाता था ।

उसकी चपलता यद्यपि बाहर की तरफ से चली गयी थी, तथापि वह बिलकुल लुप्त नहीं हो गयी थी। वह उसकी गम्भीरता के साथ मिलकर उसके अन्तस्तल में नाना प्रकार के ऊधम मचाती हुई मालूम देती थी । इसमें सन्देह नहीं कि वह कल्पना के रंगीन स्वप्नों में जड़ित नहीं रहती थी, पर किसी एक ऐसी रहस्यमयी भावना की भीषणता में प्रतिक्षण निमग्न रहती थी जिसका अन्दाज लगाना कठिन था । इसीलिए वह जब हँसकर बातें करती थी तब मैं आतङ्क से काँप उठता था । और कुछ न समझने पर भी, वह एक प्रचण्ड विभीषिका की ओर दिन-पर-दिन अपने को घसीटती जाती है, यह मैं स्पष्ट देख रहा था । किन्तु उस विभीषिका का स्वरूप कैसा है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती थी । इस कारण उसकी सुमधुर पर सकरुण हँसी मुझे बीच-बीच में भयकम्पित कर देती थी । ऐसा सुंदर, सुकोमल कुसुम संसार के पीड़न से पिसा जाता है, यह देखकर मेरी छाती फटी जाती थी । पर उसने उस पीड़ा में निर्मम होकर आत्मसमर्पण कर दिया था ।

मेरे पास वह नित्य ही कुछ देर के लिए अवकाश पाते ही बैठ जाती थी । वह न मालूम क्या कहना चाहती थी, पर कहती कुछ और ही थी । कभी वह पूछ बैठती—"भैया, तुम ब्याह कब करोगे ?" फिर कहती—"जल्दी कर लो न ! मुझे यह जानने की बड़ी इच्छा है कि भाभीजी मुझे

ज्यादा प्यार करेंगी या तुम्हें !" कभी अन्यमनस्क होकर कहती—"अच्छा, तुमने इतनी किताबें पढ़ी हैं, मेरी एक बात का जवाब नहीं दोगे ? मैं कितना सोचती हूँ, पर निश्चित रूप से कुछ भी नहीं समझ पाती। कर्म का फल किस नियम से मिलता है ? स्वर्ग-नरक यह सब क्या हैं?" मैं उत्तर देता—"क्या मालूम बहन, ये सब बातें बड़ी रहस्यमय हैं। बड़े-बड़े मुनियों का भी इन बातों में मति-भ्रम होता रहा है, हम लोग तो तुच्छ जीव हैं। इसके सिवा कई नास्तिकों की किताबें पढ़कर परलोक के सम्बन्ध में मेरी धारणा चक्कर में पड़ गयी है।" मेरी बात सुनकर वह हताश भाव से कहती—"तब क्या होगा ? इस सम्बन्ध मे मेरी चिन्ता का तो अन्त नहीं है !" कहते-कहते निरतिशय विषाद से उसकी आँखें डबडबा आतीं। मैं सोचता, स्वप्नलोक की यह छाया किस प्रकार मनुष्यों के बीच में आकर बन्धन में पड़ गयी ? नन्दन का यह पारिजात मृत्यु-लोक में आकर, गुलाब के रूप में प्रस्फुटित होकर, कंटकों के बीच में विद्ध हुआ जाता था।

कुछ दिन इलाहाबाद रह कर मैं घर लौट चला। इस बार एक प्रकार की तीक्ष्ण पर अस्फुट वेदना हृदय में वहन करके आया था। घर लौटने के कुछ दिन बाद तक एक अत्यन्त सुकुमार तथा सुकोमल भावना से मेरा समस्त चित्त आच्छन्न रहा। इस भावना के सौकुमार्य से मेरे प्राण धीरे-धीरे जड़ तथा सत्वहीन होते जाते थे। समस्त शक्ति एकत्र करके इस स्त्रैण विकार को मन से एकदम हटाने की चेष्टा करने लगा। आठ-दस अपने ही समान निकम्मे लड़कों को खोज कर अपने यहाँ के नवयुवकों की शारीरिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक उन्नति की ओर दृष्टि रख कर मैंने एक संस्था खड़ी की। उसका नाम रक्खा 'यंग म्यन्स कल्चरल एसोशियेशन !' अपने दल मे दो-एक पैसे वाले छोकड़ो को सम्मिलित करने में सफल हुआ था, इसलिए खर्च की तङ्गी नही रही। क्रिकेट, फुटबाल, हाकी आदि सभी खेल नियमित रूप से चलने लगे। कुश्ती लड़ने के लिए एक अखाड़ा भी खोल दिया। एक छोटी लाइब्रेरी भी स्थापित की। इन सब बातों द्वारा युवकों का दल दिन पर दिन कितनी उन्नति कर रहा था,

यह ठीक तौर से नहीं कह सकता। पर मैं अपने हृदय में उस निपट स्त्रैण दुर्बलता के स्थान में पौरुष-भाव का अनुभव करके गर्व से फूल उठा। संसार को कुछ और ही दृष्टि से देखने और कुछ नये ढंग से उस पर विचार करने की तैयारी कर ही रहा था कि ऐसे समय तारा के हाथ का लिखा हुआ एक पत्र मुझे मिला। उसने ससुराल से लिखा था—"भैया, मैं सब की आँख बचाकर यह चिट्ठी तुम्हें लिख रही हूँ। मेरी ससुराल के लोग बाबू जी को छोड़ कर और किसी भी पुरुष के लिए चिट्ठी लिखने की मनाही करते हैं। यहाँ मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इलाहाबाद में जाने का अगर मौका मिले तो मेरी मैना को एक बार देख आना। श्यामू, मौसी ये सब लोग कैसे हैं, उनकी कुशल लिख भेजने के लिए बाबूजी से कहना। बाबूजी मेरे लिए एक चिट्ठी भी नहीं भेजते। मैं कितनी ही बार उन्हें लिख चुकी हूँ। वह भी मुझे अब प्यार नहीं करते। मैं सब की आँखों का कांटा हो गयी हूँ। अपनी अम्मा से मेरा पायलागन कहना। बाबूजी से और तुमसे अब कब मुलाकात होगी कह नहीं सकती। तुम्हारी बहन, तारा।"

पत्र पढ़ कर उसके प्रति मेरे मन में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ। उसकी इतनी दुर्बलता मैं किसी प्रकार न सह सका। मैं मानता हूँ कि संसार के भीतर अनेक कष्ट, अनेक अत्याचार तथा अनेक पीड़न वर्तमान हैं। पर हाय-हत्या करने से जब कोई फल प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है, तब चुपचाप बिना किसी शिकायत के सब सहकर चलना ही प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है। अन्तस्तल में इतनी दुर्बलता लेकर जो लड़की पैदा हुई है वह संसार-चक्र के नीचे अवश्य ही पिसेगी, उसके लिए दुःखित होना वृथा है। यह सोचकर मैं मन को समझाने लगा। पर रह-रह कर उसके पत्र के भीतर दबे हुए आकुल-क्रन्दन का उद्दाम वेग उमड़-उमड़ कर, गरज-गरज कर मेरे कानों के निकट भांय-भांय सांय-सांय शब्द कर रहा था। न जाने किस भीषण महासागर के तल-देश में इस रुद्ध क्रन्दन की उत्ताल तरङ्ग का उद्गम था! न जाने कितनी दूर तक बह कर कहाँ विलीन होकर वह शान्त होगी!

बी० ए० पास करके भी जीविका का कोई ठिकाना मैं नहीं लगा सका। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, यह सब बातें सोचते सोचते कुछ भी उपाय सूझ नहीं पड़ता था। इसी प्रकार और एक साल बीत गया। इसी बीच सुनने में आया कि तारा एक असाध्य रोग से पीड़ित होकर मायके लौट आयी है। खबर सुनकर मेरा दिल दहल उठा। कितने ही दिनों से इसी प्रकार की एक आशंका अस्पष्ट रूप से मेरी छाती जकड़े थी। उसकी खबर लेने जाना चाहिए या नहीं, यह सोचने में ही कितने दिन बीत गये। भय के कारण मेरे पैर कहीं जाने को नहीं बढ़ते थे। मैं केवल भगवान् के निकट आकुल भाव मे प्रार्थना कर रहा था—भगवान्, और चाहे जो कुछ भी हो, अनिश्चित दुःख को वहन करने की शक्ति मुझे दो। अनेक संकल्प-विकल्प के बाद अन्त को एक दिन जाने का ही निश्चय कर लिया। जाकर देखा, वह बहुत सुस्त हो गयी है, मुँह का रंग हल्दी के समान पीला पड़ गया है, आँखें नीचे बैठ गयी हैं, होठ बिलकुल सूखे हुए हैं। पर मुंह की श्री और लावण्य में बिलकुल फर्क नहीं पड़ा था। एक अपूर्व स्निग्धता से समस्त मुखमंडल विभासित हो उठा था। मुझे देखकर उसने परम स्नेह तथा अत्यन्त मधुरता के साथ उलाहना देते हुए कहा—"इतने दिनो के बाद तुम मेरी खबर लेने आये!" उसका मधुर कण्ठ स्वर मैंने कई बार सुना था, पर ऐसा कभी नहीं सुना। सुनकर मेरा सर्वाङ्ग उच्छ्वसित क्रन्दन की विकल पुलक से कण्टकित हो उठा। इसके बाद उसने ऐसे स्थिर भाव से बातें करनी आरम्भ कीं, जैसे कुछ हुआ ही न हो—सब पहले की ही तरह नियमित रूप से चला जा रहा हो। आज उसके मन का धैर्य तथा बुद्धि का स्थैर्य देखकर मैं वास्तव में मुग्ध हो गया। ऐसी स्थिरता मैंने पहले उसमें कभी नहीं देखी थी। आज उसके मन में किसी के प्रति अभिमान का भाव नही था, बल्कि उसकी आँखों में सबके प्रति क्षमाभिक्षा का भाव अत्यन्त करुण रूप से वर्तमान था। उसके समान प्रचण्ड मानिनी लड़की इतनी नम्र हो गयी है, यह देखकर मैं जी मसोस कर रह गया। उसके रूखे, घुँघराले, काले बाल, स्निग्ध-करुण आँखें तथा स्थिर-शान्त मुखमंडल मुझे किस

दुनिया में खींचे लिए जाते थे, मैं नहीं कह सकता। मैं केवल विमूढ़ भाव से विह्वल होकर उसके मुँह की ओर ताकता रह गया। मैं ऐसा महसूस कर रहा था जैसे कितने ही युगों की कितनी ही बातें हम दोनों के हृदय में बाहर फूट निकलने तथा एक-दूसरे के निकट व्यक्त होने के लिए छटपटा रही हैं। जैसे समय शीघ्र चला जा रहा है; इस अवसर पर व्यक्त न होने से महाकाल के कितने काल तक और प्रतीक्षा करनी होगी, इसका ठिकाना नहीं है; पर न जाने किसके दबाव से हृदय के किस अन्धकारतम कोने में पड़ी रहकर वे सब बातें बाहर न निकल सकने निकल कारण आकुल होकर फूटफूट कर रो रही हैं।

मेरे आने के तीन-चार दिन बाद ही उसकी बीमारी बहुत अधिक बढ़ गयी। वह प्रबल वेग से खांसने लगी और बीच-बीच में उसके मुँह से खून भी निकलता जाता था। मदनमोहन बाबू निर्विकार भाव से सब काम करते जाते थे। डाक्टर भी नियमित रूप से आता था। बाबूजी के मन में दुःख होगा, यह सोचकर वह चिकित्सा स्वीकार कर रही थी इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मन ही मन उसके प्रति वह विशेष उदासीन थी, यह बात सभी अनुभव कर रहे थे। मदनमोहन बाबू के बंधुबांधव बीच-बीच में आकर खबर ले जाते थे। मौसी अब आन्तरिक दुःख तथा चिन्ता के कारण जो कोई मिलता उसीके पास जाकर रोआ पीटी करने लगतीं। उस चिरदुःखिनी लड़की को वह आज पहचानने लगीं।

यह सब क्या हुआ जाता है, इस बात का ठीक अन्दाज लगाना मेरे लिए साध्यातीत था। केवल ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे मेरी सब भावनाओं का अन्त होने को है। मैं कभी विमूढ़ भाव से तारा की शय्या के पास खड़ा रहता, कभी बाहर के कमरे में टहलता। भूत, वर्तमान, भविष्य—किसी का भी अस्तित्व मेरे लिए नहीं रहा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे यह विश्व भी मेरे मन के ही समान अनन्त के बीच में गतिहीन, निश्चल होकर बैठा है। जैसे समस्त विश्व में कहीं भी चैतन्य का आभास नहीं है।

जिस दिन तारा ने निश्चित रूप से शय्या का आश्रय ग्रहण किया था, उस दिन से उसके साथ मेरा बोलना एकदम बन्द हो गया था। मौसी तथा बाबूजी की दो-एक आवश्यक बातों के उत्तर के सिवा अब वह किसी से कुछ नहीं बोलती थी। प्रायः दो सप्ताह इस प्रकार कट गये। इसके बाद एक दिन सुबह को करीब आठ बजे के वक्त मैं उसके पास बैठा था। मदनमोहन बाबू तब संन्ध्या-पूजा में व्यस्त थे। मौसी तारा को निद्रामग्न देखकर भीतर काम करने के लिए चली गयीं। नींद टूटने पर तारा ने इधर उधर नजर दौड़ायी। क्या सोचकर अचानक मेरा हाथ पकड़ कर क्षीण-स्वर में बोली—"भैया !" मैंने कहा—"क्या चाहिए, बहन ?" वह कुछ देर तक मेरी ओर ताककर न मालूम क्या सोचने लगी। इसके बाद कुछ न कहकर हाथ छोड़कर ऊपर की ओर मुंह करके लेट गयी। और दिनों की अपेक्षा आज वह स्वस्थ मालूम दे रही थी। मैं वहाँ बैठा ही रहा। कुछ देर के बाद अकस्मात् भीत होकर मैंने देखा उसका दम घुटने लगा है। वह कष्ट के साथ सांस ले रही थी। मैं भीतर खबर देने के लिए गया। खबर सुनकर मौसी खूब जोर से चिल्लाकर रोने लगीं, और दोनों हाथों से सिर पीटने लगीं। आज तारा को नींद आते देखकर वह कुछ निश्चिन्त होकर बैठी थीं। अभी-अभी उसे कुछ हो जायगा, यह उन्होंने नहीं सोचा था। मदनमोहन बाबू के मुँह पर कुछ दिनों से जो एक निर्विकार तथा उदासीन भाव की छाया धीरे-धीरे घनीभूत होती जाती थी वह इस समय गाढ़तम होकर दिखलायी दी। उन लोगों को लेकर जब नीचे आया तब सब समाप्त हो चुका था।

* * * *

उस दिन संध्या को हम सब लोग मदनमोहन बाबू के पास बैठे थे। अचानक तारा की वही मैना न जाने क्या सोचकर पूर्व अभ्यास के अनुसार बोल उठी—"तारा, ओ तारा !" सारा शरीर एक प्रकार की विरस भावना से जर्जरित हो उठा। आज बहुत दिनों के बाद मैना को तारा की याद आयी थी ! उसने किसी का उत्तर न पाकर एक बार चीं-चीं करके

उसी पुराने अभ्यास के अनुरूप कहा—"तू मर जा !" मौसी अब न रह सकीं। उच्छ्वसित होकर फिर एक बार रो पड़ीं और निदारुण विषाद के कारण मिट्टी में लोटपोट होकर कहने लगीं—"इस कुलच्छनी मैंने कोकोई यहाँ से निकाल बाहर कर दो, इसी ने मेरी तारा को मारा है !"

दूसरे दिन मैं घर चला गया। कुछ सोचने की शक्ति मुझ में नहीं रह गयी थी। केवल इतना ही अनुभव कर रहा था कि मेरी तारा अब नहीं रही; विपुल विश्व में, कुछ भी अब मेरे लिये नहीं रहा—सब शून्य होकर पड़ा है। सन्ध्या के समय घर पहुँचा। अम्माँ से सब बातें कहीं। उन्होंने केवल एक बार तारा को देखा था, पर उस एक बार के देखने से ही उसके प्रति उनके हृदय में प्रगाढ़ स्नेह उत्पन्न हो गया था। वह कुछ न कहकर दोनों हाथों से चुपचाप आँसू पोंछने लगी। मैं भीतर न रह सकने के कारण बाहर घूमने निकल पड़ा। कई बातें सोचना चाहता था, पर कुछ भी नहीं सोच सकता था। अन्यमनस्क की तरह चलते-चलते नदी के किनारे आ खड़ा हुआ। अस्तगामी सूर्य की सुनहरी आभा से समस्त ज रञ्जित होकर अपूर्व सुन्दर दिखाई दे रहा था। समस्त प्रकृति निस्तब्ध होकर स्थिर भाव से शोभित हो रही थी। अकस्मात् नदी के ऊपर से मन्द-मन्द हवा बहकर अपने सुशीतल स्पर्श से समस्त सुप्त भावनाओं को एक-एक करके जागरित करने लगी। मैं सोचने लगा—वह गयी कहाँ? किस तारालोक से नीरव तथा शान्तभाव से खिसक कर मेरे हृदय का युगयुगान्तव्यापी अंधकार विनाश करके वह फिर कहाँ को चल पड़ी ! वह सन्ध्यातारा प्रकाशित होते-होते क्यों रह गयी? मेरे हृदय में यह भावना सब से अधिक पीड़ा दे रही थी कि तारा को कभी किसी का सहृदय स्नेह तथा प्रेम प्राप्त नहीं हुआ था। आशैशव वह मातृहीन रही। उसके बाबूजी भी उसके प्रति सर्वदा उदासीनता का भाव प्रकट करते आये थे। ससुराल में भी उसे बहुत अवज्ञा तथा अवहेलना सहनी पड़ी थी। और हम दोनों एक दूसरे के निकट अपनी-अपनी आत्मा की कोई बात व्यक्त भी न कर पाये थे कि वह चल बसी। सोचते-सोचते मैं औरतों की तरह सिसक-सिसक कर रोने लगा। मेरे दोनों

गालों से अश्रुधारा बह रही थी। मैंने उसे पोंछा नहीं। उसी अवस्था में बालू पर चित होकर लेट गया।

सूर्य अस्त होकर अन्तिम बिदाई के चुम्बन से समस्त आकाश को रंजित किये था। दो एक खण्डमेघ रक्ताभा से रञ्जित होकर मनोहर शोभा धारण किये थे। उस पार का वनखण्ड नववधू की तरह घूँघट के भीतर हँसी गोपन करने की चेष्टा कर रहा था। एक पपीहा ऊपर से पी-पी करके चला गया। ऐसा मालूम होता था जैसे समस्त प्रकृति अनंत प्रेम से पागल हो कर आनन्द से नाच रही है। मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मैं युग से युगान्तर पार करके तारा के सन्धान में चला हूँ। न जाने किस प्रबल आकर्षण से उसे प्रतिवार पाता हूँ, पर किसी तरह भी उसे पकड़कर बाँध नहीं पाता। हे देवता! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं उसे अनन्तकाल तक खोजता ही रहूँ। उसे खोजना ही मेरे लिए परम लाभ होकर रहे।

अन्धकार धीरे-धीरे घनीभूत हो आता था। ऊपर, पश्चिम की तरफ आकाश में शुक्रतारा चमकता हुआ दिखलाई दिया। वह मुझसे न मालूम क्या कहना चाहता था! मैं लेटा ही रहा, उठा नहीं। एक करुण आवेश के मोह से समस्त देह अवसन्न हो रही थी।